पराशर स्मृति एवम् देवल स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन

डा० धनपति देवी कश्यप



नाग प्रकाशक

पराशर स्मृति एवम् देवल स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन

डा० धनपति देवी कश्यप

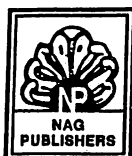


नाग प्रकाशक

पराशर स्मृति एवम् देवल स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन

पराशर स्मृति एवम् देवल स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन

धनपति देवी कश्यप



नाग प्रकाशक

११ए./यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित ।

(१) ११ए/यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

(२) संस्कृत भवन, १२,१५ फ्लेट, संस्कृत नगर, प्लाट नं० ३, सेक्टर-१४,
रोहिणी, नई दिल्ली-११००८५

(३) जलालपुर माफी (चुनार-मिर्जापुर) उ० प्र०

ISBN 81-7081-364-6

प्रथम संस्करण : १९९

मूल्यम् रूपये 69·00

श्री सुरेन्द्र प्रताप द्वारा नाग प्रकाशक, ११ए, यू. ए., जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७, द्वारा प्रकाशित तथा जी. प्रिंट प्रासेस, ३०८/२, शहजादा बाग, दयाबस्ती, दिल्ली ११००३५ द्वारा मुद्रित ।

अक्षरयोजक तथा मुद्रक :

अमर प्रिंटिंग प्रेस,

८/२५, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति का मूल आधार 'आचार' होता है । आचार के आधार पर ही हिन्दू समाज का निर्माण हुआ । धर्मसूत्रों एवं स्मृति-ग्रन्थों में सदाचार की अधिक विवेचना की गई है तथा सभी लौकिक कर्मों को करने का विस्तार से निर्देश दिया गया है । इस प्रकार धर्मशास्त्रों में वर्णित धर्माचरण व्यक्ति के आचरण को निरन्तर सही दिशा की ओर प्रेरित करता है ।

आज आवश्यकता है कि हम अपने प्राचीन स्मृति ग्रन्थों में वर्णित जीवन-यापन के नियामक सूत्रों का गम्भीरता से अध्ययन करें और अध्ययन से प्राप्त हुए निष्कर्ष को विद्वत समुदाय के सम्मुख प्रस्तुत करें । इसी प्रयोजन एवं उपयोगिता को दृष्टि में रखकर मैंने "पराशर स्मृति एवं देवल स्मृति का तुलनात्मक अध्ययन" शीर्षक को अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया ।

स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्ययन करते समय मैं 'धर्मशास्त्र साहित्य' से सर्वाधिक प्रभावित हुई थी क्योंकि स्मृति ग्रन्थों में बहुत से ग्रन्थ शोध-कार्य की दृष्टि से अभी अछूते ही हैं जिनमें मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, बृहस्पति स्मृति एवं नारद स्मृति के अतिरिक्त अपेक्षित अध्ययन नहीं हुआ है तथापि उनमें बहुपयोगी विषयों का विवेचन किया गया है । अतः स्मृति वाङ्मय के प्रति कुछ अधिक ही आकर्षण हुआ और 'दर्शन-निष्णात' की उपाधि प्राप्त करने के अनन्तर स्मृति ग्रन्थों पर ही शोध-कार्य करने लगे ।

मैं दक्षिण परिसर दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यक्ष प्रो० नारायण शंकर शुक्ला एवं प्रो० सत्यपाल नारंग जी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूं जिन्होंने मुझे इस कार्य के लिये निरन्तर प्रोत्साहन दिया तथा परामर्श देते रहे ।

प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी एवं कृष्णलाल जी, प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी, डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार, प्रोफेसर-संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, ने अपने

सत्परामर्शों एवं मंगलकामनाओं से लाभान्वित किया है । इस पुस्तक को मूर्त रूप देने में उनका जो सतत प्रयास एवं प्रेरणा रही है उसके लिए मैं उनकी सदैव आभारी रहूंगी । अपने सभी गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती हूं, जो समय-समय पर मेरा उत्साहवर्धन करते रहे ।

प्रस्तुत पुस्तक को मूर्त रूप देने में मुझे पारिवारिक जीवन की समस्याओं से मेरे पति श्री राजवीर सिंह तथा मेरे माता-पिता ने मुक्त रखा । उनका आभार शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय के उप-पुस्तकालय अध्यक्ष श्री शेरसिंह जी एवं सहायक पुस्तकालय अध्यक्ष श्री खन्ना जी तथा अन्य अधिकारियों का आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ जिनके सहयोग से सन्दर्भ ग्रन्थों के संग्रह में कोई भी असुविधा नहीं हुई ।

प्रकाशन के टंकण में अत्यन्त पटु श्री नरेन्द्र प्रताप जी ने अत्यन्त परिश्रम एवं आत्मीयता के साथ प्रकाशन कार्य किया है । मैं उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हुई पुस्तक को विचक्षणार्थी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करती हूं ।

—धनपति देवी कश्यप

भूमिका

धर्मशास्त्र-साहित्य का प्रारम्भ वैदिक साहित्य के अन्तिम चरण में आने वाले सूत्रों से किया जाता है और इस समस्त साहित्य को चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—

१. धर्मसूत्र, २. स्मृति, ३. टीका तथा भाष्य, ४. निबन्ध ग्रन्थ।

संस्कृत साहित्य में 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है। सामान्यत: 'धर्म' शब्द अंग्रेजी के 'Religion' शब्द का पर्यायवाची माना जाता है किन्तु संस्कृत के 'धर्म' शब्द का अर्थ अत्यन्त संकीर्ण है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति धृ धातु से है, जिसका अर्थ है 'धारण करना', 'आलम्बन देना', 'पालन करना'। इस दृष्टि से अंग्रेजी का 'Duty' शब्द इसके सबसे निकटवर्ती प्रतीत होता है।

धर्मशास्त्र साहित्य अथवा स्मृति वाङ्मय में धर्म को दो भागों में बांटा गया है—

१. साधारण धर्म—यथा दान, दया, सत्य, अहिंसा आदि।

२. विशिष्ट धर्म—इसको पुन: पांच प्रकार का बताया गया है—

(क) वर्ण धर्म—यथा ब्राह्मण के लिये दान देना।

(ख) आश्रम धर्म—यथा ब्रह्मचारी को भिक्षा एवं दण्ड ग्रहण करना चाहिये।

(ग) वर्णाश्रम धर्म—यथा वर्ण से ब्राह्मण और आश्रम की दृष्टि से ब्रह्मचारी को पलाश वृक्ष का दण्ड ग्रहण करना चाहिये।

(घ) गुण धर्म—यथा राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।

(ङ) नैमित्तिक धर्म—वर्जित कार्य जैसे चोरी आदि करने पर प्रायश्चित करना चाहिये।

स्मृति साहित्य में धर्म शब्द इन्हीं छ: अर्थों में प्रयुक्त होता है।

वेद के स्मरण को स्मृति नाम दिया गया है। परन्तु वेद को विशुद्ध रूप से धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि यहां स्पष्ट रूप से धर्म सम्बन्धी नियम नहीं मिलते अपितु इनका उल्लेख प्रसंगवश ही होता है। वेदों के ऐसे अनेक स्थल हैं—जहां पर विवाह, विवाह-प्रकार, पुत्र प्रकार, गोद लेना, सम्पत्ति विभाजन, स्त्री धन, श्राद्ध, प्रायश्चित जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ये सभी संदर्भ यद्यपि धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों का निर्देश करते हैं तथापि इन सबका उल्लेख वेदों में प्रसंगवश ही आता है।[१]

स्मृति शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक अर्थ वैदिक साहित्य में श्रुति से भेद करने के लिये स्मृति शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस स्थिति में वेदांगों से सम्बन्धित सूत्रकाल की विविध रचनायें स्मृति के नाम से अभिहित की जाती हैं। इसके विपरीत कुछ पारिभाषिक रूप में स्मृति शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र साहित्य के लिये किया जाता है—'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'।[२] इस अर्थ में स्मृति से तात्पर्य धर्मशास्त्र की उन रचनाओं से है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं जिनका प्रतिपादन पहले धर्मसूत्रों में भी किया गया है। इन स्मृतियों में प्रमुख मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर एवं नारद स्मृतियां हैं। वीरमित्रोदय में उद्धृत प्रयोगपारिजात ने १८ मुख्य स्मृतियों, १८ उपस्मृतियों तथा २१ अन्य स्मृतिकारों के नामों का उल्लेख किया है।[३]

स्मृतियों के रचना काल के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ये कई शताब्दियों की कृतियां हैं। इनमें से कुछ अति प्राचीन हैं जो संभवतः ईसा से कई सो वर्ष पूर्व प्रणीत हुई थीं यथा—मनुस्मृति। कतिपय स्मृतियों का प्रणयन ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ यथा—याज्ञवलक्य, पराशर एवं नारद की स्मृतियां। इन सब स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य ४०० से १००० ई. के मध्य की हैं।[४]

धर्मसूत्र एवं स्मृतियों का अध्ययन करने से इनमें प्रमुख अन्तर दृष्टिगत होते हैं—

१. सोनी वीणा—जीभूत वाहन की संस्कृत वाङ्मय को 'दायभाग संबंधी' देन, पृ.४

२. मनुस्मृति—१०.२

३. वीर मित्रोदय-प्रयोग परिजात, पृ.१८ मनुबृहस्पतिर्दक्षो—मदनरत्नेऽयुक्ताः।

४. काणे, पी. वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.४१

(क) धर्मसूत्रों में यत्र-तत्र अपने वैदिक सूत्र चरण के साहित्य के उद्धरण दिये गये हैं परन्तु स्मृतियां पूर्ववर्ती धर्मशास्त्र साहित्य के आधार पर लिखी गई हैं ।

(ख) धर्मसूत्र प्रधान रूप से गद्य में रचित है । इनमें कहीं-कहीं उद्धरणों के रूप में अथवा गद्य में कहे हुए विषय के सार के रूप में पद्यों का भी प्रयोग किया गया है । किन्तु स्मृतियां प्राय: निरपवाद रूप से पद्यबद्ध हैं ।

(ग) भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्र स्मृतियों से पूर्व के हैं, स्मृतियों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है ।

(घ) धर्मसूत्रों में प्राय: विषय की व्यवस्थाओं को क्रम नहीं मिलता अपितु स्मृतियां अधिक व्यवस्थित एवं सुगठित हैं । इनमें विषयवस्तु को मुख्यत: तीन खण्डों में विभक्त किया गया है—आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित ।

(ङ) स्मृतियों में धर्मसूत्रों की अपेक्षा विधि सम्बन्धी नियम अधिक सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित हैं ।

(च) अधिकतर धर्मसूत्र —स्मृतियों से प्राचीन हैं ।

टीका तथा भाष्य

किसी धर्मसूत्र या स्मृति के आधार पर उसका अर्थ करने के लिये लिखी गई रचना टीका एवं उसकी व्याख्या करने वाली रचना भाष्य है । वस्तुत: इनमें किसी प्रकार विभाजन नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों ही किसी एक धर्मसूत्र या स्मृति के आधार पर रचित हैं ।

निबन्ध

निबन्ध ग्रन्थों में किसी एक सूत्रकार अथवा स्मृतिकार का आधार लेने की अपेक्षा एक विषय का आधार लिया गया है और उस विषय विशेष पर पूर्ववर्ती विभिन्न आचार्यों के वचनों का संकलन किया गया है । इनका (टीका, भाष्य एवं निबन्ध का) रचनाकाल लगभग ७०० से १८०० ई. तक माना जाता है ।

वस्तुत: टीका, भाष्य एवं निबन्ध में किसी प्रकार की विभाजन रेखा खींचना दुष्कर है यथा—शंकर भट्ट के द्वैतनिर्णय में विज्ञानेश्वर को निबन्धकारों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है जबकि सामान्य परंपरा के अनुसार उनकी याज्ञवल्क्य स्मृति के

टीकाकार के रूप में प्रसिद्धि है । भाष्य एवं निबन्ध दोनों ही धर्मसूत्रों या स्मृतियों में आये हुए आचार्यों के परस्पर विरोधी दिखाई पड़ने वाले वचनों के विरोधों अथवा असंगतियों का निराकरण करते हैं ।

निबन्धों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उनमें श्रुति के उद्धरणों की अपेक्षा स्मृतियों एवं पुराणों के उद्धरण अधिक हैं । इसलिये हम देखते हैं कि स्मृतियों के लिये जहां श्रुति प्रमाण थी वहां निबन्धों के लिये अधिक प्रामाणिक हो गई । इस स्मृति प्रामाणिकता का एक कारण यह प्रतीत होता है कि स्मृतियां उनको सहज रूप से उपलब्ध और सरलता से ग्राह्य थीं । इसके विपरीत वेद काल की दृष्टि से बहुत पीछे छूटे हुए थे तथा समाज में उनके वास्तविक अर्थ को मानने वाले नगण्य थे ।

दक्षिम में माधवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध टीकाकारों में 'सायण माधव' की 'पराशर-माधवीय' टीका एवं व्याख्या सर्वाधिक विख्यात हैं । उन्होंने 'व्यवहार मीमांसा' नामक 'व्यवहार परक' टीका की रचना की है जो सम्पूर्ण धर्मशास्त्र साहित्य में विलक्षण कृति स्वीकार की जाती है एवं जो अपनी विद्वता में सर्वप्रसिद्ध है ।[१]

स्मृति साहित्य में 'पराशर स्मृति' एवम् 'देवल स्मृति' का अपना अलग ही स्थान है । ये दोनों स्मृतियां सम्पूर्ण स्मृति वाङ्मय की अन्यतम कृतियां हैं । दोनों ही मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एवं बृहस्पति की तरह ही महत्वपूर्ण हैं । समय अथवा काल की दृष्टि से दोनों प्राचीन स्मृतियां हैं अपितु 'पराशर स्मृति' देवल स्मृति की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन है क्योंकि 'याज्ञवल्क्य स्मृति' ने पराशर को स्मरण किया है ।[२] अत: स्पष्ट हो जाता है कि 'पराशर स्मृति' 'याज्ञवल्क्य स्मृति' से पूर्ववर्ती है । यद्यपि 'देवल स्मृति' आज हमें जिस रूप में प्राप्त होती है, उसके प्रतिपादय विषय के ९० श्लोकों को पाकर हमें सन्तुष्ट हो जाना पड़ता है । इसके अलप स्वरूप को प्राप्त करके सोचना पड़ जाता है कदाचित यह भी पराशर स्मृति के समकालीन रही हो ।

प्राय: स्मृतियों के वर्ण्य-विषय यथा आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित का विधान जो हमें अधिकांश स्मृति वाङ्मय में प्राप्त होता है वह 'पराशर स्मृति' में तो

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.६५

२. पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्ष गोतमो ।
शातातपो वशिष्टश्च धम्मशास्त्र प्रयोजका: ॥५ ॥ याज्ञ.स्मृति, स्मृति रान्दर्भ-तृतीयोभाग
प्रकाशक : नाग प्रकाशक, ११-ए/यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-७ संस्करण: १९८८

पूर्णरूपेण मिलता है । परन्तु 'देवल स्मृति' में हम केवल उसके प्रायश्चित विधान से ही परिचित हो पाते हैं । देवल स्मृति आज हमें 'बीस स्मृतियां' नामक ग्रन्थ के अतिरिक्त स्मृति सन्दर्भ से भी प्राप्त होती है । कुछ विद्वान् संशय करते हैं कि यह मूल स्मृति है भी या नहीं ।

'पराशर स्मृति' बारह अध्यायों में प्राप्त होती हैं । जबकि 'देवल स्मृति' के हमें कुल नव्वे श्लोक ही मिलते हैं वह भी परिशिष्ट रूप में । इनके अतिरिक्त हमें देवल के नाम के उद्धरण निम्न रूप से क्रमशः 'स्मृति चन्द्रिका', (ब्रह्मचारी एवं श्राद्ध काण्ड) 'याज्ञवल्क्य स्मृति' की 'मिताक्षरा' टीका, 'अपरार्क' टीका तथा पराशर-माघव इत्यादि ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं ।

'पराशर स्मृति' के प्रथम ६ अध्यायों के अधिकांश श्लोक हमें 'गरुड़-पुराण' के १०७वें अध्याय में भी उपलब्ध होते हैं । जहां इसका अधिकांश रूप अक्षरशः देखने को मिलता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह स्मृति पर्याप्त प्राचीन है ।

वे श्लोक जो पराशर स्मृति से ज्यों के त्यों अर्थात् समान हैं, इनकी सूची निम्न प्रकार से है—

अध्याय-१

१. न कश्चिद्वैदकर्तास्ति
वेद स्मृत्वा चतुर्मुखः ।
तथैव धर्मान्समरति
मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे ॥

२. त्यजेद्देशं कृतयुगे
त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत् ।
द्वापरे कुलमेकं तु
कर्तारं तु कुलौ युगे ॥

३. षट् कर्माणि दिने दिने
देवताधित्यादि पूजनम
ह्यपूवां यतयस्तदा

४. क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन्
शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि
क्षितिं धर्मेण पालयेत् ॥

अध्याय-२

१. षट्कर्मसहितो विप्रः
कृषिकर्म न कारयेत्

२. हीनाङ्गं व्याधितं कलीबं
वृषं विप्रो न वाह्येत्

क्षुधितं तृषितं श्रान्तं
बलीवर्दं न योजयेत् ॥

एकद्वित्रिचतुर्विप्रान्
भोजयेत्स्नातकान् द्विजः
यज्ञाश्च क्रतुदीक्षां च... ॥

३. तिला रसा न विक्रेया
विक्रेया धान्यतस्समाः ॥

४. क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा
देवान्विप्राश्च पूजयेत् ।
वेश्यः शूद्रस्त्था कुर्यात्
कृषि वाणिज्यं-शिल्पकम् ॥

अध्याय-३

१. क्षत्रियो द्वादशाहेन
वेश्यः पञ्चदसाहकैः ।
शुद्रः शुद्धयति मासेन
पराशरवचो यथा ॥

२. जन्मन्यपि विपतौ च
तेषां तत्सूतकं भवेत् ।
दशरात्रं स्यात्
तु दिनत्रयात् ॥

३. भृग्वग्निमरणे नैव
देशान्तर मृते तथा
बाले प्रेते न सन्यस्ते
सद्यः शौचं विधीयते ॥

४. आदन्तजन्मनः सद्यः
आचूड़ात्रैशिको स्मृता ।
त्रिरात्रमाव्रता देशाद्=
दशरात्रमतः परम् ॥

५. ब्रह्मचारी गृहे येषां
हूयते न हुताशनः ।
सम्पर्क चैत्र कुर्वीत
न तेषां सूतकं भवेत् ॥

६. ...कारुका...नापिता
राजान् श्रोत्रियाश्चैव... ।
सर्वेषां शावमाशौचं
मातापित्रोस्तु सूतकम्
सूतकं मातुरेव स्यात् ॥

७. असगोत्रमबन्धुं च
प्रेतीभूतं द्विजोत्तमम् ।
वहित्वा दाहयित्वा न
प्राणायामेन शुद्धयति ॥

८. प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं
ब्राह्मणों ज्ञानदुर्बलः
अनुगच्छेन्नीयमानं
त्रिरात्रमशुच्चिर्भवेत् ॥

अध्याय-४

१. तप्तकृच्छ्रेण शुध्यन्ती=
त्येवमाह प्रजापतिः ।
गोभिर्हतं तथोद्वन्धं
ब्राह्मणेन तु घातितम् ॥

२. औरसः क्षैत्रजश्चैव
दत्तः कृत्रिकमकः सुत ।
दद्यान्माता पिता वापि
स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥

३. परिवित्तेस्तु कृच्छ्रं स्यात्
कन्यायाः कृच्छ्रमेव च ।
अतिकृच्छ्रं नरेतचाता
होता चान्द्रायण नरेत् ॥

४. द्वौ कृच्छ्रो परिवित्तेस्तु
कन्यायाः कृच्छ्र एव च ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रो दातुस्तु
होता नान्द्रायणश्चरेत् ॥

५. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च
यानि लोमानि मानुषे
तावत्कालं च ते स्वर्गे
भर्तारं या अनुगच्छति ॥

अध्याय-५

१. वृकश्वानश्रृगालाद्यैः
दष्टो यस्तु द्विजोत्तमः ।
स्नात्वा जपेत्स गायत्री
पवित्रां वेदमातरम् ॥

२. चाण्डालेन श्वपाकेन
गोर्भिविप्रो हतो यदि ।
दहेत्तं ब्राह्मणं विप्रो
लोकाग्नौ मन्त्रवर्जितम् ॥

३. आहिताग्निद्विजः कश्चित्=
प्रवसन्कालचोदितः ।
प्रेताग्निहोत्रसंस्कारः
श्रूयतां ऋषिपुङ्गवा ॥

४. कृष्णाजिनं समास्तीर्य
कुशेस्तु पुरुषाकृति ।
कार्या प्रतिकृतिस्तस्य
पलाशानां च पत्रतः ॥

५. शमीं... वृषणें क्षिपेत् ।
कुण्डं दक्षिणहस्ते तु
वामहस्ते तथोपभृत् ॥

६. पृष्ठे तूलूखलं दद्यात्पृष्ठे
च मुशलं न्यसेत् ।
उरसि क्षिप्य दृशदं...
हिरण्यशकलं न्यसेत् ॥

७. अग्निहोत्रोपकरणम्
अशेषं तत्र निक्षिपेत्
...एकाहुति..... ॥

अध्याय-६

१. क्रौञ्च सारसहंसांश्च... ।
जालपादं च शरभं
हत्वा अहोरात्रतः शुचिः ।
पक्षिणां चैव सर्वेषाम्=
अहोरात्रभोजनम् ॥

२. एवं चतुष्पदानां च
सर्वेषां वनचारिणाम्
अहोरात्रोषितस्तिष्ठेत
जपन्वे जातवेदसम् ॥

३. वैश्यशूद्रं क्रियासक्तं
विकस्थं द्विजोत्तयम् ।
हत्वा चान्द्रायणं कुर्यात्=
त्रिशंद् गाश्चैव दक्षिणाम् ॥

४. वैश्यं वा क्षत्रियं वापि
निर्दोषं यस्तु घातयेत् ।
सोऽपि कृच्छ्रइयं कुर्यात्=
गोविशद्दक्षिणां ददेत् ॥

जो भिन्न हैं उन्हें मैंने छोड़ दिया है ।

वर्तमान पराशर स्मृति में १२ अध्याय एवं ५९३ श्लोक हैं । इसमें विशेषकर आचार एवं प्रायश्चित विषय पर चर्चायें हुई हैं । इसके टीकाकार आचार्य माघव ने व्यवहारपरक उद्धरणों को एकत्रित कर व्यवहार सम्बन्धी विवेचन भो जोड़ दिया है ।

पराशर नाम बहुत प्राचीन है । तैत्तिरीयारण्यक एवं बृहदारण्यक उपनिषदों में क्रमशः व्यास पाराशर्य एवं पाराशर्य नाम आये हैं । निरुक्त ने 'पराशर' के मूल पर लिखा है । पाणिनी ने भी 'भिक्षुसूत्र' नामक ग्रन्थ को पाराशर्य माना है ।[१] पराशर स्मृति की भूमिका में आया है कि ऋषि मुनियों ने व्यास के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे कलियुग में मानवों के लिए आचार-सम्बन्धी धर्म की बातें उन्हें बतायें । व्यास जी उन्हें बदरिकात्रम में शक्तिपुत्र अपने पिता पराशर के पास ले गये तथा वहां पर पराशर ने उन्हें वर्णधर्म के विषय में बताया ।[२]

१. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी.वी. काणे, प्रथम भाग, पृ.सं.५५
२. मानुषाणां हितं धर्म वर्तमाने कलो युगे ।
शोचाचारं यथाव य वद सत्यवती सुत ॥२ ॥ पराशर स्मृति (प्र.अ)

पराशर स्मृति का नाम इसलिये भी प्रसिद्ध है कि इसको विशेष रूप से कलियुग के लिये महत्वपूर्ण माना गया है तथा इसमें कलियुग के विहित धर्म को कहा है जैसे कि धर्म के रूप में पराशर ने स्वयं स्थापित किया है कि 'सतयुग में मनु का बताया धर्म व्यावहारिक था, त्रेता में गोतम द्वारा प्रतिपादित धर्म तथा द्वापर में शङ्ख द्वारा वर्णित धर्म माननीय था और अब (आज) कलियुग के लिये पराशर का कहा गया धर्म पालन करने योग्य हैं'।[१]

अन्य स्मृति ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें मुख्य अन्तर यह है कि इसमें कृषि कर्म को मनुष्यमात्र का प्रधान कर्म बताया है। तथा दूसरे युद्ध कर्म की भी पराशर ने प्रशंसा की है। क्षत्रिय अर्थात् योद्धा की वीरता का बखान किया है। जैसे इस संसार में दो ही पुरुष ऐसे होते हैं जो सूर्यमण्डल का भेदन किया करते हैं—एक वह (जो) सबका त्याग करने वाला संन्यासी अर्थात् योगाभ्यासी, दूसरा वह (जो) संग्राम में सन्मुख होकर मृत्यु को प्राप्त करने वाला होता है।[२]

पराशर ने ब्राह्मण के धर्म को बताते हुये कहा है कि जप, देवपूजन, होम तथा षडगों सहित वेदों का स्वाध्याय करना ब्राह्मण का प्रमुख कर्म है। वह एक से चार तक स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराये, स्वयं जोते हुए खेत में स्वयं उपजाये हुए धान्यों के द्वारा पञ्च यज्ञों का निर्वापन करे तथा क्रतुदीक्षा भी करवाये।[३] ब्राह्मण तिल और रस नहीं बेचे तथा धान्य को सब की पूर्ति के निमित्त बेचे। इसके अतिरिक्त भूसा और लकड़ी भी बेची जाने का प्रावधान है।[४]

पराशर स्मृति का प्रकाशन कई बार हो चुका है जिनमें से जीवानन्द द्वारा कलकत्ता से तथा संस्कृतमाला बम्बई के संस्करण हैं जो आज उपलब्ध हैं। इस

---

१. कृते तु मानवों धर्मस्त्रेतायां गौतमो स्मृतः
द्वापरे शङ्ख लिखिता क्लो पाराशराः स्मृताः ॥२४॥ पराशर स्मृति ॥

२. द्वाविमो पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल-भेदिनौ।
परिव्राड् योगमुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ ३२ ॥ पराशर स्मृति

३. जपं देवार्चनं होमं स्वाध्यायं नैवमम्यसेत।
एकद्वित्रिचतुविप्रान्भोजयेत्स्नातकान्द्विजेः॥
स्वयं कष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमार्जिते।
निर्वपैत्य नृयज्ञांश्च क्रतुदीक्षां च कारयेत्॥ ५ ॥ पराशर स्मृति

४. तिला रसा न विक्रेया धात्वाद्यातत्समाः।
विप्रस्यैवविधा वृतिस्तृणकाष्ठादि विक्रयः॥ ७ ॥ पराशर स्मृति

पर टीका लिखने वाले विद्वान् आचार्य माधव (विद्यारण्य) हैं। यह टीका पराशर स्मृति की प्रसिद्ध एवं विस्तृत टीका है। इस समय 'पराशर-माधवीय' के अतिरिक्त 'पराशर स्मृति' पर कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

पराशर स्मृति का सामान्य-परिचय

पराशर स्मृति की भूमिका में पराशर ऋषियों को धर्म[१] ज्ञान देते हैं, युग धर्म, चारों युगों का विविध दृष्टिकोणों से अन्तर्भेद, सन्ध्या, स्नान, जप, होम, वैदिक अध्ययन, देवपूजा नामक छः आह्निकों का वर्णन, वैश्वदेव एवं अतिथि सत्कार का महत्व, अतिथि सत्कार-स्तुति क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र की जीविका वृत्ति के साधन ये सब विषय प्रथम अध्याय में प्रतिपादित हैं।

द्वितीय अध्याय में गृहस्थ धर्म, कृषिकर्म, पशुओं के प्रति अनजाने में पांच प्रकार के घातक कर्म इत्यादि का वर्णन किया है। तृतीय के अन्तर्गत जन्म-मरण से उत्पन्न अशुद्धि का पवित्रीकरण समझाया गया है। चतुर्थ अध्याय में आत्महत्या करने पर, दरिद्र, रोगी एवं मूर्ख पति को त्यागने पर स्त्री को दण्ड विधान तथा कुण्ड, गोलक, परिवित्ति एवं परिवेत्ता की परिभाषा एवं नियम कहे हैं। विधवा स्त्री का पुनर्विवाह, पतिव्रता नारियों का सम्मान अर्थात्, मृत्योपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति का आश्वासन भी दिया गया है। पंचम अध्याय में साधारण बातों, जैसे कुत्ते के काटने पर शुद्धि, उस ब्राह्मण के विषय में जिसने तीनों अग्नि स्थापित की हों, या जो यात्रा में मर गया हो या आत्महत्या कर रहा है। षष्ठम् अध्याय में कतिपय पशुओं, पक्षियों, शूद्रों, शिल्पकारों, स्त्रियों, वैश्यों, क्षत्रियों को मारने पर शुद्धिकरण, पापी ब्राह्मण की निन्दा तथा विद्वान ब्राह्मण की प्रशंसा की गई है। सप्तम अध्याय में धातु, काष्ठ आदि के बरतनों का निर्मलीकरण अर्थात् द्रव्य शुद्धि कही है। तथा मासिक धर्म से युक्त रजस्वला स्त्री के सम्पर्क के विषय में चर्चा है। अष्टम अध्याय में कई प्रकार के अकाम कृत पाप हो जाने पर यथा गाय बैल आदि की हिंसा करने पर प्रायश्चित द्वारा शुद्धि, परिषद् में जाना, परिषद् का गठन, परिषद् में विद्वान् ब्राह्मणों की प्रशंसा। नवम् अध्याय में गाय या बैल को मारने के लिए छड़ी की उचित मुटाई का विधान इसके विपरीत मोटी छड़ी से चोट पहुंचाने पर शुद्धि का नियम है। दशम अध्याय में वर्जित नारियों से संभोग करने पर चान्द्रायण व अन्य

१. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी.वी. काणे पृ.सं. ५५

व्रत द्वारा शुद्धि का विधान है । एकादश अध्याय में चण्डाल से (भोजन) लेकर खाने पर शुद्धि, तथा किस से लेकर खाये और किसका (अन्न) न खाये—इस विषय में नियम, पशु के गिर जाने पर कुंयें का पवित्रीकरण बताया है । अन्तिम द्वादश अध्याय में भी दु:स्वप्न देखने, वमन करने, वाल बनवाने आदि पर पवित्रीकरण, पांच स्नान, रात्रि में कब स्नान वर्जित हैं, कौन सी वस्तुयें गृह में सदैव रखनी चाहिएं, गोचर्म नामक भूमि की इकाई की परिभाषा, ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्ण-चौर्य आदि भयानक पापों की परिशुद्धि इत्यादि विषयों का सम्यक् निरूपण किया गया है ।

पराशर स्मृति में कुछ विलक्षण बातें भी मिलती हैं—जैसे चार प्रकार के पुत्र (औरस, क्षेत्रज, दत्तक तथा कृत्रिम) । यद्यपि यहां यह स्पष्ट नहीं है कि वे अन्यों (विद्वानों) को मानते हैं या नहीं । पराशर ने अन्य धर्मशास्त्रकारों के मतों की चर्चा की है । मनु को कई बार स्मरण किया है । बौधायन धर्मसूत्र की बहुत सी बातें स्वीकार की हैं तथा स्थान-स्थान पर उशना, प्रजापति, वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र स्मृति आदि की चर्चा भी की है ।

विश्वरूप, मिताक्षरा, उपरार्क, स्मृति चन्द्रिका, हेमाद्रि आदि टीकाकारों ने पराशर को अधिकतर उद्धृत किया है । इससे स्पष्ट होता है कि ९वीं शताब्दी से पूर्व यह स्मृति विद्यमान थी । पराशर को मनु की कृति का भी ज्ञान था । यह स्मृति ईसा की प्रथम शताब्दी से पांचवी शताब्दी के मध्य में कभी भी लिखी गयी होगी ।[१] अर्थात् ६०० से ९०० ईसा के उपरान्त अधिकांश स्मृतियों का समय निश्चित है । 'पराशर स्मृति' भी तभी की रचना है ।

देवल स्मृति का सामान्य-परिचय

'देवल स्मृति' प्रतिपाद्य की दृष्टि से बहुत छोटी है । जैसाकि देवल स्मृति के संबंध में पूर्वोक्त है कि वह आज हमें परिशिष्ट रूप में प्राप्त है । अपितु इसमें विदेशियों और विधर्मियों के आक्रमण के समय प्रचलित धार्मिक नियमों का उच्छेद हो जाने से उत्पन्न समस्याओं पर विचार कर, उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है । जो अपने आप में एक महत्वपूर्ण विषय है तथा इस प्रकार के प्रायश्चित परक नियमों का अनूठा संग्रह 'देवल-स्मृति' है जिसमें (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) चारों वर्णों की क्रमश: शुद्धि कही गई है ।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी.वी. काणे पृ.सं.५६

जहां एक ओर धर्मशास्त्र के आचार्यों ने मुख्य रूप से संस्कार, आचार एवं व्यवहार को अपने ग्रन्थों का प्रधान विषय बनाया है वहां दूसरी ओर देवल ने जाति शुद्धि, देह शुद्धि तथा समाज शुद्धि जैसे गरिमामय विषयों का विवेचन कर स्मृति-साहित्य में अपनी अलग पहचान दी है। इस प्रकार से 'देवल-स्मृति' ने कितने ही उपयोगी विषयों एवं अछूते विषयों को हमारे सम्मुख उपस्थित किया है जिनका अन्य स्मृतियों में कोई विवेचन या प्रतिपादन नहीं मिलता। इस दृष्टि से इसका स्मृति वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है।

याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा में तथा टीका अपरार्क में एवं स्मृति चन्द्रिका में भी देवल के उद्धरण भरे पड़े हैं। इनमें विशेष रूप से आचार, व्यवहार, श्राद्ध तथा प्रायश्चित इत्यादि विषयों को प्रमुख रूप से महत्व दिया गया है।

'देवल-स्मृति' एक स्वतंत्र कृति प्रतीत होती है अपितु आज दुर्भाग्यवश हमें केवल आनन्दाश्रम पूना, संस्कृत माला के संग्रह में मात्र ९० श्लोकों की एक 'देवल स्मृति' मिलती है। यह प्राचीन नहीं लगती क्योंकि इसमें उन सभी उद्धरणों में से एक भी नहीं मेल खाता जो हमें आज मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृति चन्द्रिका तथा कृत्यकल्पतरु से उपलब्ध होते हैं। महाभारत में भी देवल का मत उल्लिखित है, (सभा पर्व ७२, ५) जिसमें मनुष्य की तीन ज्योतियों यथा सन्तान, कर्म एवं विद्या का उल्लेख है।[१] इसके सम्पत्ति-विभाजन, वसीयत स्त्रीधन पर अपराकं एवं स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत अंश अवलोकनीय हैं।

समय की दृष्टि से 'देवल स्मृति' का काल मध्य काल प्रतीत होता है। प्रसिद्ध विद्वान् पी.वी. काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग में उल्लिखित किया है कि सिन्ध की दिशा से मुसलमानों ने आठवीं शताब्दी में भारत पर आक्रमण करके बहुत से हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया। जैसाकि स्मृति में भी वर्णित है कि सिन्धु तट पर बैठे हुए देवल से ऋषि लोग पूछते हैं—उन ब्राह्मणों एवं अन्य लोगों को, जिन्हें म्लेच्छों ने बलवश अपने धर्म में खींच लिया है, उन्हें किस प्रकार शुद्ध करें एवं जाति में पुनः लायें ? देवल ने इस धर्म परिवर्तन का विधान बताया

---

१. त्रीणि ज्योतिषि पुरुष इति वे देवलो व्रबीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टः प्रजास्ततः ॥ ५,७२ ॥ सभा पर्व (महाभारत)

है ।[१] सम्भवत: बृहस्पति एवं कात्यायन के समय विद्यमान थे अर्थात् ईसा की सातवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी के मध्य का समय समीचीन ही है ।

'देवल स्मृति' के वर्ण्य विषय में जाति में पुन: प्रवेश अर्थात् शुद्धि जैसे विषयों को प्रमुखता दी गई है । अन्य स्मृतियों में इनकी चर्चा नहीं मिलती कि बाहरी समाज या धर्म का व्यक्ति हिन्दू समाज या धर्म में किस प्रकार सम्मिलित हो सकता था । यह विधान प्राचीन स्मृतियों में नहीं मिलता । जबकि 'देवल स्मृति' ने इस विषय को ही प्रतिपाद्य बनाया है । अर्थात् बलपूर्वक अन्य धर्म में ले लिये गये हिन्दुओं के स्वजाति में पुन: प्रवेश की समस्या को सुलझाया गया है ।

देवल में उन ब्राह्मणों एवं अन्य वर्णों के लोगों को जिन्हें म्लेच्छों द्वारा बलात् अपने धर्म में परिवर्तित कर लिया है, उनके लिए प्रायश्चित विधान बताया । चान्द्रायण एवं पराक व्रत से ब्राह्मणों, पराक एवं पाद कृच्छ्र से क्षत्रिय पराक के आधे से वैश्य एवं पांच दिनों में पराक से शूद्र पवित्र हो जाता है ।[२]

'देवल स्मृति' के १७ से २२ तक श्लोक बड़े महत्वपूर्ण हैं । क्योंकि उनके माध्यम से उन सभी द्विजातियों के लिये प्रायश्चित कहा गया है जिनसे गो-हत्या तथा अन्य पशु हत्या, जूठन को साफ कराना, म्लेच्छों का जूठा भोजन खाना, गदहा-ऊंट एवं ग्राम शूकर का मांस खाना, म्लेच्छों की स्त्रियों से संभोग करना आदि कर्मों का प्रायश्चित बतलाया है । उनके निमित्त प्रायश्चित केवल प्राजापत्य व्रत बताया है ।

श्लोक संख्या ५३ से ५५ तक विशेष महत्व के श्लोक हैं जिनमें वे व्यक्ति जो म्लेच्छों द्वारा पांच, छ:, या सात वर्षों तक पकड़ा रह गया हो । या दस से बारह वर्ष तक उनके साथ रह गया हो, उनका प्रायश्चित कहा है, वह दो प्राजापत्यों के अनुपालन द्वारा शुद्ध हो सकता है । ये तीनों श्लोक १७ से २२ तक संख्या के

---

१. सिन्धुतीरे सुखासीनं देवलं मुनिसत्तमम् ।
समेत्य मुनयः सर्वे इदं वचनमब्रुवन् ॥१ ॥.
भगन्म्लेच्छनीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवानुपूर्वशः ॥ २ ॥ देवल स्मृति

२. चान्द्रायणं तु विप्रस्त सपराकं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥
पराकमेकं क्षत्रस्य पादकृच्छ्रेण संयुतम् ।
पराकार्यं तु वैश्यस्य शुद्रस्य दिनप नकम् ॥ ९ ॥ देवल स्मृति

श्लोकों से सर्वथा भिन्न हैं। अन्य महत्वपूर्ण बात उन लोगों के लिये कही गयी है, जो केवल म्लेच्छों के साथ तो रहते थे, किन्तु वर्जित व्यवहार, आचार-विचार, खान-पान में म्लेच्छों से अलग रहते थे। इस विषय में 'पञ्चदशी' में उल्लिखित है कि जिस प्रकार म्लेच्छों द्वारा पकड़ा गया ब्राह्मण प्रायश्चित करने के उपरान्त म्लेच्छ नहीं रह जाता, उसी प्रकार बुद्धियुक्त आत्मा भौतिक पदार्थों एवं शरीर द्वारा अपवित्र नहीं होता। आचार्य माधव (विधारण्य) के अनुसार म्लेच्छों द्वारा बन्दी किया गया ब्राह्मण अपनी पूर्वास्थिति में लाया जा सकता है।

अत: पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निष्कर्ष रूप में दोनों स्मृतियां पराशर एवं देवल भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली हैं तथा विषय वस्तु के प्रतिपादन की दृष्टि से भी पृथक्-पृथक् विषयों का विवेचन प्रस्तुत करती हैं। आकार की दृष्टि से भी देवल स्मृति लघुकाय (छोटी) है जबकि पराशर स्मृति बारह अध्यायों में विभाजित है।

भाषा शैली की दृष्टि से सरल, सुबोध एवं व्यावहारिक है। तथ्यों को बतलाने में अल्पाक्षरों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं श्लोकों से अप्रचलित वैदिक शब्दों का अर्थ समझने में दुविधा होती है।

भारतीय दर्शन की 'वेदान्त दर्शन' विद्या के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों की सूची में भी 'देवल' एवं 'पराशर' को भी सम्मिलित किया गया है। अर्थात् वेदान्त के अन्य प्राचीन आचार्यों में असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर और भृगु आदि ऋषियों का नाम लिया गया है। अपितु इनकी स्वतंत्र रूप से आज कोई भी ऐसी उल्लेखनीय कृति उपलब्ध नहीं होती जिसके आधार पर उनके वेदान्तपरक सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त हो सके।[१]

---

१. भारतीय-दर्शन : वाचस्पति गैरोला, प्रकाशक : लोक भारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१, पृ.सं. ३३६, संस्करण चतुर्थ, १९८३.

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

स्मृति साहित्य का उद्भव एवं विकास

भारतीय धर्मशास्त्र साहित्य में कल्पसूत्रों की चार विधाओं—१. श्रौतसूत्र, २. गृह्यसूत्र, ३. धर्मसूत्र तथा ४. शुल्वसूत्र इत्यादि के अनन्तर स्मृति-साहित्य का स्थान आता है । अर्थात् धर्मसूत्रों के उपरांत मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, बृहस्पति स्मृति, नारद स्मृति, पराशर स्मृति एवं देवल स्मृति आदि स्मृतियों का प्रणयन हुआ ।

स्मृति शब्द का प्रयोग 'श्रुति' अर्थात् अपौरुषेय ग्रन्थ राशि से भिन्न आर्ष साहित्य के लिये हुआ है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्मृति शब्द का प्रयोग 'श्रुति' (वेद) से परवर्ती साहित्य प्रदर्शित करने के लिये किया गया है ।[१]

योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने भी 'स्मृति' शब्द का लक्षण बताते हुए कहा है—अनुभूत विषय को किसी भी दशा में न छोड़ने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है ।[२]

इस प्रकार सम्पूर्ण धर्मशास्त्र साहित्य को दो भागों में विभाजित किया गया है—श्रुति एवं स्मृति ग्रंथ । श्रुति ग्रन्थों में समस्त वैदिक साहित्य यथा—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् आदि आते हैं तथा स्मृति ग्रन्थों में मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद, बृहस्पति, कात्यायन, पराशर, हारीत एवं देवल आदि के ग्रन्थों का ग्रहण होता है ।

अतएव श्रुति से स्मृति शब्द भिन्न अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । जबकि स्मृति से स्मरण किया गया विषय ज्ञात होता है । श्रुति शब्द वेदों के लिये प्रयुक्त हुआ है । तथापि इन्हें परस्पर एक सिक्के के दो रूप कहा जा सकता है । क्योंकि स्मृतियां भी प्रायः उन सभी विषयों का विवेचन प्रस्तुत करती हैं, जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों

---

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र (४.१) श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः ॥

२. योगसूत्र (१.१) अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥

में किया गया है । इन्हें धर्मसूत्र ग्रन्थों का विस्तृत एवं परिमार्जित रूप कहा जा सकता है ।

स्मृति साहित्य में प्रमुख स्मृतियां १८ मानी गई हैं जिनके नाम क्रमश: मनु स्मृति, बृहस्पति स्मृति, दक्ष स्मृति, गौतम स्मृति, यम स्मृति, अंगिरा स्मृति, योगीश्वर याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रचेता स्मृति, शातातप स्मृति, पराशर स्मृति, सम्वर्त स्मृति, उशनस स्मृति, शंख लिखित स्मृति, अत्रि स्मृति, विष्णु स्मृति, आपस्तम्ब स्मृति तथा हारीत स्मृति आदि हैं ।[१]

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य के अनुसार धर्मशास्त्र की प्रयोजक स्मृतियों के नाम निम्न हैं—

मनु स्मृति, अत्रि स्मृति, विष्णु स्मृति, हारीत स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, उशनस् स्मृति, अङ्गिरस स्मृति, यम स्मृति, आपस्तम्ब स्मृति, सम्वर्त स्मृति, कात्यायन स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पराशर स्मृति, व्यास स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति, दक्ष स्मृति, गौतम स्मृति, शातातप स्मृति, वसिष्ठ स्मृति ।[२]

धर्म की जिज्ञासा का प्रथम प्रमाण श्रुति है, द्वितीय धर्मशास्त्र, तृतीय लोक संग्रह जिसकी व्याख्या के लिए उपयुक्त पराशर स्मृति एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है ।[३]

---

१. वीरमित्रोदय परिभाषाप्रकाश, पृ. १८
मनुबृहस्पतिदक्षो गोतमोऽथ यमोऽडिगराः ।
योगीश्वरः प्रचेताश्न शातातप पराशरो ॥
सवर्तोशनसो शङ्खलिखितावत्रिरेव च ।
विष्ण्वापस्तम्ब हारीता धर्मशास्त्र प्रवर्तका ॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.४,५.
मन्वत्रि विष्णु हारीत याज्ञवल्क्योशनोड्गिराः ।
यम आपस्तम्ब सम्वर्ताः कात्यायन बृहस्पतिः ॥
पराशर व्यास शङ्ख लिखिताः दक्षः गौतमौ ।
शातातपो वशिष्ठश्चै धर्मशास्त्र प्रयोजकाः ॥

३. पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १२, १३
धर्म्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति ।
द्वितीयं धर्मशास्त्रन्तु तृतीयं लोक-संग्रहः ।
तस्मात् व्याख्यातुं योग्या पराशर स्मृतिरिति । सिद्धम्

सामान्य परिचय

प्राचीन काल में मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने इस समस्त भूमण्डल की नैतिकता, सांस्कृतिकता एवं इसकी व्यावहारिकता का जो विस्तारपूर्वक वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है, उन्हें ही स्मृति नाम से जाना जाता है ।

सभी स्मृतियां प्राय: पद्यबद्ध हैं तथा भाषा की दृष्टि से भी स्मृतियाँ धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएं हैं क्योंकि सभी स्मृतियों की भाषा लौकिक संस्कृत है । विषय वस्तु की दृष्टि से भी स्मृतियां धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुसंगठित हैं । इनकी भाषा शैली सरल एवं स्वाभाविक है ।

स्मृति-साहित्य के द्वारा ज्ञान को मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, विष्णु आदि महर्षियों ने सर्वसाधारणोपयोगी बनाया । इस साहित्य के अंतर्गत धर्मप्रवक्ता ऋषि के द्वारा वैदिक ज्ञान की स्मृति होने के कारण धर्मशास्त्र साहित्य को 'स्मृति' शब्द से अभिहित किया गया है ।[१]

अनेक स्मृति ग्रन्थों के होते हुए भी 'व्यास सूत्र उत्तर मीमांसा स्मरयते चे सूत्र' के भाष्य में महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों को भी स्मृति माना गया है । महर्षि वेदव्यास जी ने श्रुति स्मृति के सभी सिद्धान्तों का विस्तार अष्टादश पुराणों में किया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जो कर्म, अकर्म, विकर्म और उसका परिपाक बताया है, वही ज्ञान यहां इन स्मृति ग्रन्थों से भी प्राप्त होता है ।[२] अतएव बिना स्मृति ग्रन्थों के ज्ञान को जाने कर्तव्य, कर्म, ग्राह्य व्यवहार एवं त्याज्य व्यवहार का ज्ञान हमें नहीं हो सकता ।

स्मृतियों की प्रामाणिकता के पक्ष में कविकुलगुरु कालिदास ने भी कहा है कि वेदमन्त्रों का ही विशदीकरण स्मृतिशास्त्र है । श्रुतिद्रष्टा ऋषि के अनन्तर स्मृतिकार ऋषि या मुनि कहे गये हैं ।[३]

---

१. मनुस्मृति (२.१) धर्मशास्त्रन्तु वे स्मृतिः ॥

२. श्रीमद्भगवद्गीता (१७.४)
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं न विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः ॥

३. कालिदास-रघुवंश (२.२) 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत' ॥

स्मृति ग्रन्थों की संख्या

सामान्य रूप से संख्या की दृष्टि से स्मृतियां लगभग ५० हैं। प्रायः स्मृति-साहित्य के स्मृतिकारों एवं टीकाकारों ने अपने-अपने ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न स्मृतिग्रन्थों की पृथक्-पृथक् संख्या निर्धारित की है।

प्रारम्भिक काल में स्मृति ग्रन्थ कम ही थे। अपितु शनैः-शनैः उत्तरोत्तर काल में उनकी संख्या में वृद्धि भी हुई। तत्पश्चात भारी संख्या में निबन्ध ग्रन्थों की रचना हुई। सर्वप्रथम स्मृतिकार गौतम ने मनु को छोड़कर किसी अन्य स्मृतिकार का नामोल्लेख नहीं किया है यद्यपि उन्होंने अन्य धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है। बौधायन ने भी अपने को छोड़कर सात अन्य धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया है। यथा—औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य एवं हारीत।

आपस्तम्ब ने भी दस नाम गिनाये हैं जिनमें एक कुणिक, पुष्कर-सादि केवल व्यक्ति-नाम हैं। स्मृतिकार मनु ने भी स्वयं को छोड़कर छः नाम और गिनाये हैं—अत्रि, उतथय के पुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस एवं शौनक आदि सम्मिलित हैं।[१]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम आचार अध्याय में १९ धर्मप्रवक्ताओं के नाम गिनवाये हैं जिनमें वे स्वयं एवं शङ्ख तथा लिखित दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति के रूप में सम्मिलित हैं। याज्ञवल्क्य ने स्मृतिकार बौधायन के नाम को छोड़ दिया है।[२] इसके अतिरिक्त महर्षि पराशर ने अपने को छोड़कर १९ नाम गिनाये हैं। इस सूची में कुछ अन्तर है। स्मृतिकार पराशर ने बृहस्पति, यम एवं व्यास को छोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त इन्होंने काश्यप, गार्ग्य एवं प्रनेता आदि धर्म वक्ताओं को भी सम्मिलित किया है।[३]

---

१. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ.४०

२. याज्ञवल्क्य-स्मृति—(१.४,५)
मनु-अत्रि-विष्णु-हारीत-याज्ञवल्क्यो उशनसः अङ्गिराः।
यम आपस्तम्ब-संवर्ताः कात्यायन-बृहस्पतिः॥
पराशर-व्यास-शङ्ख-लिखित-दक्ष-गौतमो।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्र-प्रवर्तकाः॥

३. पराशर-स्मृति (१.२,३) श्रुता-मे-मानवा-धर्मा-वासिष्ठाः काश्यपस्तथा।
गार्गेया गौतमीयाश्च तथा न उशनसाः श्रुताः॥
अत्रेर्विष्णोश्च संवर्तात् दक्षादङ्गिरसस्तथा।

कुमारिल ने अपने 'तन्त्रवार्तिक' में १८ धर्म संहिताओं के नाम गिनाये हैं। विश्वरूप ने भी वृद्ध याज्ञवल्क्य के श्लोक को उद्धृत कर याज्ञवल्क्य की सूची में १० नाम और जोड़ दिये हैं। अंगिरा ने, जिसे स्मृति चन्द्रिका देवण्ण भट्ट तथा हेमाद्रि के साथ 'सरस्वती विलास' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों ने भी उद्धृत किया है, उपस्मृतियों के नाम भी गिनवाये हैं। इन सबके अतिरिक्त एक अन्य स्मृति का नाम षट्त्रिशन्मत है जिसे मिताक्षरा, अपरार्क तथा अन्य ग्रंथों ने उल्लिखित किया है।[१]

प्रमुख-स्मृतियां

प्राय: स्मृति-साहित्य में स्मृतियों के प्रमुख स्मृति, उप-स्मृति तथा अन्य स्मृति नामों से उनका विभाजन या वर्गीकरण मिलता है। प्रमुख स्मृतियों के अंतर्गत वे स्मृतियां आती हैं जो लोकप्रियता की दृष्टि से प्रसिद्ध हो गई हों तथा जिन्हें सभी स्मृतिकारों ने स्मरण किया हो। अतएव इस श्रेणी में मनु स्मृति, बृहस्पति स्मृति, दक्ष स्मृति, गौतम स्मृति, यम स्मृति, अङ्गिरस स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रचेता स्मृति, शातातप स्मृति, पराशर स्मृति, संवर्त स्मृति, उशनस स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति, विष्णु स्मृति, आपस्तम्ब स्मृति तथा हारीत स्मृति आदि हैं।

उपर्युक्त सभी स्मृतियों की गणना प्रमुख स्मृतियों में की जाती है। मार्कण्डेय स्मृति में जिन स्मृतिकारों को मुख्य माना है उनके नाम मनु, गौतम, काश्यप, पराशर, वेद व्यास, शङ्ख, लिखित तथा कात्यायन आदि हैं।[२]

शातातपाश्च हारीतात् याज्ञवल्क्यास्तथैव च ॥
आपस्तम्ब-कृता धर्म्मा: शङ्खस्य लिखितस्य च।
कात्यायन कृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुने ॥

१. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ.४०

२. मार्कण्डेय स्मृति, स्मृति-सन्दर्भ, भाग ६, पृ.६३
तच्छास्त्रं तेन संग्राह्यं मनुनैव प्रकीर्तितम्।
यद्यप्यनुपदिष्टं तत्तथा गौतम निर्मितम् ॥
सूत्रकारकृतं सर्वं कश्यपादिप्रकल्पितम्।
तदाज्ञया विरचितं शास्त्रं पराशराख्यकम् ॥
वेदव्यासेन रचितं शंखेन लिखितेन च।
रचितं धर्मं सिध्यर्थं कृतं कात्यायनेन च ॥

भारद्वाज स्मृति में जिन धर्मज्ञ मुनियों का नाम निर्देश किया गया है, वे निम्न है[१] यथा—भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, शाण्डिल्य, रोहित, क्रतु, हारीत, गौतम, गर्ग, शंख, शातातप, अङ्गिरस, मार्कण्डेय और माण्डव्य, कपिल, नारद तथा शुक्र, जमदग्नि, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, पराशर, आदि ।

उप स्मृतियां

स्मृति साहित्य में कुछ स्मृतियां ऐसी हैं जिन्हें उप-स्मृतियों की संज्ञा प्रदान की गई है । प्रसिद्ध विद्वान् काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में उप-स्मृतियों के लेखकों के नाम उल्लिखित किये हैं । वे क्रमश: निम्न हैं ।[२]

अन्य स्मृतियां

अन्य स्मृतियों से हमारा तात्पर्य उन स्मृति ग्रन्थों से है, जो स्मृति ग्रन्थ न तो लोकप्रिय हुए हैं तथा जिनकी विषय-वस्तु को कुछ फेर-बदल कर पुन: रचना हुई, उन्हें ही धर्मशास्त्रकारों तथा अन्य विद्वानों ने 'अन्य स्मृतियां' की श्रेणी में रखा है । इन अन्य स्मृतियों की गणना में २१ स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया गया है ।

---

१. भारद्वाज स्मृति (१-३-५)
भृगु अत्रि वसिष्ठश्च शाण्डिल्यो रोहितः क्रतुः ।
हरितो (हारीतो) गौतमो गर्गः शङ्ख शातातपोऽङ्गिरा ॥
मार्कण्डेयश्च माण्डव्यः कपिलो नारदः शुक्र ।
जमदग्निर्याज्ञवल्क्यो विश्वामित्रः पराशरः ।
एतेव न्योऽपि मुनयो धर्मज्ञाधर्मतत्पराः ॥

२. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ. ४१
नारदः पुलहो गार्ग्यः शौनकः क्रतुः ।
बौधायनो जातुकर्णो विश्वामित्र पितामहः ॥
व्यासः सनत्कुमारश्च शन्तनुर्जनकस्तथा ।
जाबालिनोचिकैतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकश्यपो ॥
व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातुकर्ण्यः कपि जलः ।
पैठी नसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायिका ॥

धर्मशास्त्रकार काणे महोदय ने वीर मित्रोदय के परिभाषा-प्रकाश से उद्धृत कर जिन स्मृतिकारों के नामों का उल्लेख किया है, वे निम्न हैं ।[1]

स्मृतिकार पैठीनसि ने ३६ स्मृतियों के नाम गिनवाये हैं। अपरार्क ने भविष्यत-पुराण में भी ३६ स्मृतियों के नाम गिनाये हैं । इनके अतिरिक्त वृद्ध गौतम स्मृति में ५७ धर्मशास्त्रों के नाम आये हैं तथा वीर मित्रोदय में उद्धृत 'प्रयोगपारिजात' ने क्रमशः १८ मुख्य स्मृतियों, १८ उप-स्मृतियों तथा २१ अन्य स्मृतिकारों के नामों को संगृहीत किया है । अपितु बाद में आने वाले निबन्ध ग्रन्थों, टीका ग्रन्थों तथा व्याख्या ग्रन्थों के साथ ही निर्णय सिन्धु, नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय के अलावा व्यवहार मयूख इत्यादि की सूचियों को देखा जाये, तो स्मृतियों की संख्या लगभग १०० हो जाती है ।[2]

स्मृतियों का काल

समय की दृष्टि से स्मृतियां प्रायः प्राचीन एवं मध्ययुगीन अर्थात् परवर्ती मानी गई हैं । जो स्मृतियां ईसा की सातवीं शताब्दी से पूर्व की रचनाएं हैं वे प्राचीन स्मृतियां कही गई हैं । और जो उसके बाद की रचनाएं हैं अर्थात् हर्षवर्धन के समय की रचनाएं हैं उन्हें परवर्ती या मध्ययुगीन स्मृतियां कहा गया है ।[3] अतः इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी से पूर्व की रचनाएं प्राचीन स्मृतियां तथा उसके बाद की स्मृतियां परवर्ती या मध्ययुगीन मानी जाती हैं ।

---

१. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ.४१
वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवल ॥
जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिवत्स एव च ॥
पारस्करश्चर्ष्यशृङ्गो वैजवापस्तथैवन ।
इत्येते स्मृतिकत्तारै एकविंशतिरीरिता ॥

२. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.४१

३. पराशर स्मृति (१.२४)
कृतै तु मानवा धर्मास्त्रैतायां गौतमाः स्मृताः ।
द्वापरे शंखलिखिताः क्लौ पराशराः स्मृताः ॥

कालक्रमानुसार गौतम, बौधायन के धर्मसूत्र तथा मनुस्मृति कुछ ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जो ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्रणीत हुये थे। कुछ स्मृतियों का प्रणयन ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ, वे याज्ञवल्क्य, पराशर एवं नारद स्मृति आदि हैं। इनके अतिरिक्त देवल स्मृति को मध्ययुगीन स्मृति माना गया है जिसे ६०० से ९०० ईसा के उपरान्त का निश्चित किया गया है। वे सब स्मृतियां जो ई. ४०० से १००० ई. के बीच की हैं, उन सबका काल-निर्णय करना सम्भव नहीं है। कुछ तो प्राचीन सूत्रों का संशोधन मात्र हैं यथा शंख स्मृति। कभी-कभी दो या तीन स्मृतियां एक ही नाम से जानी जाती हैं। कुछ स्मृतियों के प्रणेता, प्रमुख स्मृतिकारों में भी हैं जिनके नामों के साथ क्रमशः वृद्ध, बृहत् एवं लघु उपाधियों का जुड़ा रूप भी मिलता है। यथा—

१. वृद्ध-याज्ञवल्क्य

२. वृद्ध-मनु

३. वृद्ध-वसिष्ठ

४. बृहत्-पराशर

५. बृहद्-गार्ग्य

६. वृद्ध-शातातप

७. वृद्ध-हारीत

भाषा-शैली की दृष्टि से स्मृतियां भिन्न स्वरूपों वाली हैं। क्योंकि सभी स्मृतियों में अलग-अलग शैली अपनायी गयी है। कुछ स्मृतियां काव्य-शैली में हैं अर्थात् पद्यों में निबद्ध हैं। कुछ मिश्रित गद्य एवं पद्य दोनों शैलियों में मिलती हैं। अधिकांश स्मृतियां ऐसी भी हैं जो सूत्र शैली की परिचायक हैं। वैसे मुख्य रूप से उपलब्ध स्मृतियां पद्य शैली में ही प्राप्त हैं।

स्मृतियों के विषय में यह जानना आवश्यक है कि ये सभी स्मृति ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं हैं जिनमें से कुछ केवल व्याख्याओं में उल्लिखित हैं एवं इनका मूल रूप आज प्राप्त नहीं है। धर्मसूत्रों की अपेक्षा स्मृतियों के १२ व्याख्याकार भी हो चुके हैं यथा—कुल्लुकभट्ट, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, गोविन्दराज, विश्वरूप, मेघातिथि, हरदत्त तथा माघवाचार्य आदि अग्रगण्य हैं।[१]

१. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.४२

स्मृतियों का वर्ण्य-विषय

स्मृतिग्रन्थों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रायः स्मृतियों में मुख्य रूप से तीन आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित इत्यादि विषयों का प्रतिपादन मिलता है । वह प्रतिपाद्य विषय अर्थात् आचार, सदाचार, कर्तव्य, अकर्तव्य, नैतिक आचरण के रूप में सभी स्मृतियों में वर्णित हुआ है । सामान्यतः आचार प्रकरण के अंतर्गत व्यक्ति के सभी कर्म गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक के संस्कार एवं नैतिक नियम आते हैं । व्यवहार प्रकरण में मनुष्य के इहलोक प्रधान कर्म एवं सभी न्यायायिक नियम आते हैं एवं प्रायश्चित प्रकरण में मनुष्यों के लिए वे नियम होते हैं, जो १. काम कृत, २. अकाम कृत के नाम से जाने गये हैं ।

१. काम कृत (पाप) कर्म वे होते हैं जो जान-बूझकर किये जायें ।

२. अकाम कृत (पाप) कर्म वे होते हैं जो अनजाने में बिना चाहे हो जाते हैं । जिनका दोषी व्यक्ति को तनिक भी ज्ञान नहीं होता । इस प्रकार के अपराधों के उपाय को प्रायश्चित का नाम दिया गया है ।

आचार

आचार मनुष्य की सांस्कृतिक पहचान है । इन्हीं आचार नियमों के अनुपालन से उसका संस्कृत एवं परिमार्जित रूप समाज को प्रेरणा देता है तथा एक आदर्श बनाता है जिसके द्वारा मनुष्य का बहुमुखी व्यक्तित्व निखर जाता है ।

मनु स्मृतिकार ने भी माना है कि देश में पूर्व परम्परा से चला आने वाला सभी वर्णों तथा वर्ण-संकरों द्वारा अपनाया गया जो सदाचार है वही आचार के अंतर्गत समाविष्ट है । वह पूर्वजों द्वारा अनुपालित सदाचार ही आज हमारा आचार है ।[१]

इसके अतिरिक्त आचार के अंतर्गत वर्णाश्रम नियम तथा सत्व, रजस, तमस इन तीन गुणों के तारतम्य से मनुष्य को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार श्रेणियों एवं जातियों में विभाजित किया है । जिसके अनुसार उनके कर्म, जिस कर्म में जिसकी क्षमता हो, उसे वह कर्म करने का अधिकार इन स्मृति ग्रन्थों ने दिया

---

१. मनुस्मृति—१.४
तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यकर्मागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

है जिससे समाज-व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है । जब तक षोडश संस्कारों में से बालक का उपनयन एवं यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से सम्पन्न व्यक्ति पूर्ण मानव होता है । तत्पश्चात् ही वह दैव एवं पितृ कर्म करने का अधिकारी माना गया है ।[१]

शूद्र जाति के संबंध में, उसको संस्कारों से वंचित रखने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह कोई छोटी या निम्न जाति है । अपितु सब वर्णों की सेवा करने से पुनः उस पर इन सभी संस्कारों का भार सौंपना कोई औचित्यपूर्ण नहीं लगता ।

धर्मशास्त्रों के अनुसार पतितों एवं पापियों के साथ रहने से अस्पृश्यता होती है । जबकि स्मृतिकार पराशर ने तो रजस्वला स्त्री को भी अस्पृश्य कहा है । क्रमशः चार दिन के बाद वह स्पृश्य होती है ।[२] अर्थात् उसके ऋतुकाल में पहले दिन चाण्डाली संज्ञा, दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी संज्ञा तथा तीसरे दिन स्त्री की रजकी संज्ञा होती है । अन्तिम दिन में वह शुद्ध हो जाती है । महर्षि मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि स्मृतिकारों ने आचार को ही धर्म का पोषक या धर्म का मूल माना है । क्योंकि सभी वर्णों का आचार ही धर्म होता है । यदि मनुष्य आचार हीन हो जाते हैं तो उनसे उनका धर्म भी विमुख हो जाता है ।[३]

इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषों के अनुशासन के नियमों को आचरण स्वरूप बताकर स्मृति ग्रन्थों में आचार, सदाचार प्रकरण को विस्तार से निरूपित किया गया है ।[४]

---

१. मनुस्मृति—(२.१४०)
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः ।
स कल्पं स रहस्य च तमाचार्य प्रवक्षते ॥

२. पराशर स्मृति (७.१९)
प्रथमे अहनि चाण्डाली, द्वितीये ब्रह्मघातिनी ।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति ॥

३. पराशर स्मृति (१.३७)
चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः ।
आचारभ्रष्ट-देहानां भवेत् धर्म पराङ्मुखः ॥

४. मनुस्मृति—(१.१)
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधतः ॥

व्यवहार

स्मृति ग्रन्थों का व्यवहार शब्द आधुनिक 'दण्डनीति' का पर्याय है अर्थात् कानून व्यवस्था। इस व्यवहार के संबंध में प्राचीन मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एवं पराशर आदि स्मृतिकारों का विचार है कि जब यह मानवता धर्म और सत्य में निष्ठ थी, तब (उस समय) व्यवहार की आवश्यकता ही नहीं थी, अपितु जब से समाज में राग द्वैष बढ़ा, सत्य का ह्रास हुआ तथा लोकमर्यादा का भाव न रहा, तब इस दण्डनीति, एवं व्यवहार का आविर्भाव हुआ अर्थात् राज्यशासन की आवश्यकता उत्पन्न हुई।[१]

व्यवहार प्रकरण के अंतर्गत आने वाले 'दाय भाग', 'स्त्री धन', 'वसीयत' एवं 'संपत्ति विभाजन' इत्यादि विषयों को स्मृति ग्रन्थों ने तथा मिताक्षरा, अपरार्क आदि व्याख्याकारों ने भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है विशेष रूप से इनका विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया है। 'दाय भाग' में सभी प्रकार के लेन-देन, जायदाद के हिस्से तथा पुत्र एवं स्त्री के अधिकार तथा स्त्री धन का उपयोग जैसे अनेक विषयों का समावेश किया गया है।

प्रायश्चित

स्मृतियों के अन्तिम प्रतिपाद्य विषय का विधान आचार, व्यवहार प्रकरण के उपरान्त ही विवेचित किया गया है। कुछ स्मृतियां मूलतः प्रायश्चितपरक हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के व्रत, उपवास एवं प्रायश्चित विधियों का परिभाषा सहित वर्णन मिलता है जिनमें देवल स्मृति (परिशिष्ट रूप में), व्यास स्मृति, बौधायन स्मृति, हारीत स्मृति, शातातप स्मृति विशेष महत्व की हैं। जिनमें विभिन्न प्रकार की शुद्धि, अशुद्धि की प्रक्रिया, दुष्ट कर्मों का फल, प्रायश्चित का स्वरूप, पापी को सुधारने का उपाय इत्यादि सभी विषयों का क्रमानुसार वर्णन मिलता है। अर्थात् जाने अनजाने में किए गए दुष्कर्मों के सुधारहेतु जो मृदु या सरल दण्ड मिलता है, वही प्रायश्चित के नाम से जाना जाता है।[२]

---

१. नारद स्मृति २/१
धर्मैकतानाः पुरुषास्तदासन सत्यवादिनः।
नष्टे धर्मेः मनुष्येषु व्यवहार प्रवर्तितः॥

२. पराशर माधव में उद्धृत पृ. ३, भाग ३.
प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चय संयोगात् प्रायश्चितं इति स्मृतम्॥

कुछ स्मृतिकारों ने जैसे आश्वलायन, व्यास, बौधायन इत्यादि ने केवल वर्णाश्रम धर्म एवं प्रायश्चित विधान को ही अधिक महत्व दिया है[१] और कुछ ने रोग से मुक्ति का उपाय तथा पाप का प्रायश्चित करने को विशेष रूप में बताया है।[२]

पाप के प्रायश्चित न करने से नरक भोगने के अनन्तर देह में चिह्न, शारीरिक विकृति एवं असाध्य रोग के अंकुर हो जाते हैं।[३]

इनके अतिरिक्त स्मृतिकार देवल ने विभिन्न प्रकार की शुद्धि जैसे देह शुद्धि, जाति शुद्धि तथा समाज शुद्धि की व्यवस्था की है। साथ ही समाज बहिष्कृत जनों की पुनः अपने ग्राम या समाज में सम्मिलित करने की विधि भी बतायी है।[४]

समाज के निर्वाह हेतु अन्न एवं अन्य खाद्य फसलें जिनकी सभी प्राणियों को आवश्यकता होती है जैसे गेहूं, चावल, बाजरा, जौ, मक्का इत्यादि खाद्यान्न जीवनार्थ आवश्यक हैं। उनकी कृषि करने के लिये स्मृतिकार पराशर ने कृषि कर्म के साथ गौ आदि का निःस्वार्थ पालन विशेष रूप से करने का आदेश दिया है। खेती के समान और कोई कर्म नहीं है जिससे मनुष्य को सच्चा सुख मिलता हो। यदि इस स्मृति में बताये नियम से कृषि कार्य किया तो यह कृषि एक महान् यज्ञ का फल देती है जिसके द्वारा कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणियों की तृप्ति होती है।[५]

---

१. व्यास स्मृति—(१.१)
वाराणस्यां सुखासीनं वेदव्यासं तपोनिधिम्।
प्रपृच्छमुनयो भ्येत्य धर्मान् वर्णव्यवस्थितान्॥

२. बौधायन स्मृति (१.१)
प्रायश्चितानि वक्ष्यामोविख्यातानि विशेषतः।
समाहितानां युक्तानां प्रमादेषु कथं भवेत्॥

३. शातातप स्मृति (१.१)
प्रायश्चित विहीनानां महापातकानां नृणाम्।
नरकान्ते भवेज्जन्म चिह्नाङ्कित शरीरिणाम्॥

४. देवल स्मृति—(१७)
बलात् दासी कृता ये न म्लेच्छ चाण्डालदस्युभिः।
अशुभं कारिताः कर्म गवादि प्राणि हिंसनम्॥

५. बृहत पराशर स्मृति (२.१८५)
कृषेरन्यतमोधर्मो न लभेतकृषितोऽन्यथा।
न सुखं कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण कर्षति॥

आपत् काल में द्विज मात्र के लिये कृषि कर्म को करने की छूट दी है ।[१] अर्थात् ऐसी स्थिति में जब अकाल हो या अतिवृष्टि हो तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी कृषि कर्म को कर सकते हैं ।

स्मृतिकार अत्रि का मत है तथा साथ ही भारतीय जन मानस का भी इसमें अटूट विश्वास है कि नित्य कर्म की क्रिया प्राणायाम आदि को प्रमुख स्थान दिया जाये साथ ही प्रणव को ब्रह्म का स्वरूप, प्राणायाम को तपस्या एवं गायत्री मन्त्र के जप से निर्मल होकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के साधन बताया है ।[२]

निष्कर्ष रूप से सभी स्मृतियों की वर्ण्य वस्तु एक होने पर भी किसी स्मृतिकार ने संस्कारों, किसी ने राजधर्म, किसी ने व्यवहार तथा किसी ने कर्म विपाक आदि मुख्य विषयों का व्याख्यान किया है । इस श्रुति स्मृति प्रतिपादित धर्म के पालन से समाज के सर्वाधिक कल्याण की आशा की जाती थी । ये स्मृतियां ही समाज व्यवस्था की नियमावली हैं । इनका लक्ष्य मनुष्य जीवन को प्रकृति के अनुकूल बनाना तथा मनुष्यमात्र का हित सम्पादन करना है ।

इन स्मृति ग्रन्थों के अभिप्राय को समझने के लिए देश, काल एवं अवस्था को दृष्टि में रखने से ही अर्थ की संगति बैठती है । जैसे कृषिकर्म को अनुष्ठेय बताया है । क्योंकि अन्न के बिना प्राणी का जीवन सम्भव नहीं है । तभी सब यज्ञ कृषि पर आश्रित हुये हैं । इसके अतिरिक्त कृषि यज्ञ का अनुष्ठान करने से मनुष्य का पुरुषार्थ बढ़ता है । जबकि कृषि यज्ञ सन्यासाश्रम में त्याज्य है क्योंकि वहां पुरुषार्थ शक्य नहीं है । शक्ति के अभाव में पुरुषार्थ भी सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार महर्षियों के सभी उपदेश मान्य हैं । अपितु उनमें केवल देश, काल एवं अवस्था को ध्यान में रखकर ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये ।

स्मृतियों का ज्ञान परमावश्यक है । इसके अभाव में राजधर्म, व्यवहार एवं प्रायश्चित विधान के साथ-साथ समाज की सांस्कृतिक जीवनी में भी दोष आ जाता है । ये स्मृतियां ही 'अभ्युदय निःश्रेयस' की अनुपम व्यवस्था को प्रतिपादित करती हैं ।

---

१. पराशर स्मृति (२.२)
षट्कर्म सहितो विप्र : कृषिकर्म चकारयेत् ।

२. अत्रि स्मृति (१.५)
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परन्तपः ।
ब्रह्माणी नैव गायत्री पावनं परमं स्मृतम् ॥

द्वितीय अध्याय

विधिवेत्ता पराशर एवम् देवल—एक सामान्य परिचय

भारतीय धर्मशास्त्र साहित्य में 'पराशर' नाम एक महत्वपूर्ण ऋषि अर्थात् व्यक्ति के नाम से जाना जाता है। पराशर नाम के विभिन्न व्यक्तित्व हमें मिलते हैं। ऋषि पराशर को विधिवेत्ता कहना असंगत नहीं है क्योंकि उनकी रचना 'पराशर स्मृति' विधिपरक् ग्रन्थों की श्रेणी में रखी गई है तथा अन्य स्मृति ग्रन्थों यथा—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, बहस्पति स्मृति एवं नारद स्मृति इत्यादि के साथ पराशर-स्मृति का नाम भी आदर सहित लिया जाता है। क्योंकि पराशर स्मृति में भी विधि-सम्बन्धी सभी नियमों का आचार प्रकरण के अन्तर्गत विवेचन एवं प्रतिपादन किया गया है।

पराशर नाम बहुत प्राचीन है। तैत्तिरीयारण्यक एवं बृहदारण्यक में क्रम से व्यास पराशर्य एवं पाराशर्य नाम हैं। पाणिनि ने भी भिक्षु-सूत्र नामक ग्रन्थ को पाराशर्य माना है। महर्षि यास्क ने भी निरुक्त में पराशर शब्द की व्युत्पत्ति—बूढ़े ऋषि को उत्पन्न पुत्र से की है। किन्तु महाभारत में जिस 'पराशर' का उल्लेख मिलता है, वह 'शक्ति पुत्र' पराशर है। अत: यह कहना गलत नहीं है कि महर्षि पराशर पर्याप्त प्राचीन ऋषि हैं जबकि स्मृतिकार पराशर एक अलग व्यक्तित्व प्रतीत होता है। क्योंकि पराशर स्मृति मध्यकालीन स्मृतियों में से एक है। जिनका समय ईसा के उपरान्त ६०० से ९०० के बीच का निश्चित किया गया है।[१]

पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव ने 'पराशर' शब्द के कई निवर्चन किये हैं, जो निम्न हैं—

---

१. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ.१५

१. जिसके द्वारा वध करने के लिए छोड़े गए बाणों को हटा दिया गया, ऐसे ऋषि को मनीषियों ने 'पराशर' नाम दिया है ।

२. कामदेव के सम्मोहन आदि बाणों को जिसने परे कर दिया है, उस ऋषि को पराशर कहा जाता है ।

३. जिसने चित्त से पापों को दूर कर दिया है तथा जिनके चित्त पापों से भरे हैं उन्हें क्षमा कर दिया है, उसे पराशर ऋषि माना है ।

४. जो या जिसने माता के पेट को फाड़कर जन्म लिया है तथा वेद की ऋचा बोलते हुये जो माता के पेट से बाहर आया है, वह बालक पराशर के नाम से जाना गया ।[१]

महाभारत के आदि पर्व में आया है कि उस बालक के गर्भ में आकर परासु (मरने की इच्छा वाले) वसिष्ठ मुनि को पुनः जीवित रहने के लिये उत्साहित किया था, इसीलिये वह इस लोक में पराशर के नाम से विख्यात हुआ । सम्भवतः यही पराशर 'स्मृतिकार पराशर' रहा हो ।[२]

पराशर का व्यक्तित्व

पराशर के व्यक्तित्व से सम्बन्धित एक किंवदन्ति भी प्रचलित है । पराशर को जन्म से महर्षि वसिष्ठ पुत्रवत् मानते थे । उनके पिता शक्ति, वसिष्ठ के पुत्र को राजा कल्माषपाद ने शाप-ग्रस्त अवस्था में खा लिया था । तभी से महर्षि वसिष्ठ दुःखी रहने लगे थे तथा जीवित न रहकर मरना चाहते थे । लेकिन जब उन्हें अपनी पुत्रवधू अदृश्यन्ती ने अपने गर्भधारण की बात बताई तब उन्हें कुछ सान्त्वना मिली तथा वे अपने पौत्र की उत्पत्ति की प्रसन्नता में दुःख को भूल गये । कुछ समय

---

१. पराशर स्मृति—१.८,९
तस्मिन्नृषि—सभा मध्ये शक्ति पुत्रं पराशरम् ।
सुखासीनं महातेजाः मुनि-मुख्य-गणावृत्तम् ॥
कृता जलि-पुटोभूत्वा व्यासस्तु ऋषिभिः सह ।
प्रदक्षिणभिवादैश्च स्तुतिभिः समपूजयत् ॥

२. महाभारत—(आदि पर्व) ३.१७७
परासु स यस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनि ।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः ॥

पश्चात् अदृश्यन्ती से पराशर उत्पन्न हुये। इनके पितामह वसिष्ठ ने ही इनका पालन-पोषण अपना बेटा समझकर किया। पराशर भी बाल्यकाल में वसिष्ठ ऋषि को अपना पिता समझ 'तात-तात' कहकर पुकारते थे। इनकी माता की आंखों में आंसू आ जाते थे। तब मां अदृश्यन्ती ने बालक पराशर को समझाया 'वसिष्ठ को' बाबा कहो किन्तु नन्हें पराशर को यह सूक्ष्म भेद समझ नहीं आता था।[१]

पराशर का सत्यवती से 'व्यास' नामक पुत्र हुआ। यमुना नदी के द्वीप में उसका जन्म होने से उसे 'द्वेपायन' व्यास कहते थे। सत्यवती को काली (कृष्णा) नामान्तर भी प्राप्त था, उस काली का पुत्र होने के कारण, व्यास को 'कृष्ण द्वैपायन' की उपाधि प्राप्त हो गयी। इसी कृष्ण-द्वैपायन व्यास को पराशर का पुत्र होने के कारण 'पाराशर्य' नाम से भी जाना जाता था। जिससे विदित होता है कि व्यास मुनि के पिता का नाम ही पराशर था।

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में वाचस्पति गैरोला ने प्रतिपादित किया है कि अलबेरूनी ने भी व्यास को पराशर का पुत्र माना है। इसके अतिरिक्त मैक्डोनल और कीथ इत्यादि लेखको ने व्यास अर्थात् पाराशर्य व्यास को एक पौराणिक महापुरुष के रूप में स्वीकार किया है।[२]

कुल परम्परा के रूप में महाभारत के अनुसार संभवत: व्यास वंश के मूल पुरुष, ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम वसिष्ठ था, वसिष्ठ के पुत्र शक्ति और शक्ति के पुत्र ऋषि पराशर हुये।

इस पराशर ने 'दाशराज' की कन्या सत्यवती से विवाह किया था। सत्यवती को योजनगन्धा के नाम से जाना जाता था। ये दोनों ही कृष्ण-द्वैपायन के माता पिता थे। जिसने सम्पूर्ण महाभारत की रचना की थी।

महाभारत में जनक-पराशर संवाद तथा वृद्ध-भीम को पराशर के धर्मकथन प्रसंग में पराशर के स्मृति-मर्मज्ञ एवं विधिवेत्ता होने का प्रबल प्रमाण हमें मिलता

---

१. महाभारत (आदि पर्व)—४.१७७
अमन्यत् स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनि।
जन्म प्रभृति तस्मिन् तु पितरीवान्ववर्तत॥
२. गैरोला वाचस्पति : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास,.पृ. ३१३

है । इस वर्णन के अनुसार ज्ञात होता है कि ऋषि पराशर ने 'पराशर स्मृति' की रचना अपने जीवन के सायंकाल में की थी ।[१]

अर्थशास्त्र के कर्ता आचार्य चाणक्य ने भी अपने ग्रन्थ में अनेकशः 'पराशर' का उल्लेख किया है तथा उन्हें सम्प्रदाय विशेष से जोड़ा है यथा औशनसा, पाराशराः इत्यादि । इसके साथ ही पराशर शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुये नाम को पाठभेद के आधार पर कहीं 'पाराशर' तो कहीं 'पराशर्य' का उल्लेख उपस्थित किया है ।[२]

मत्स्य-पुराण के अनुसार 'पराशर' शब्द हमें कई विशेषणों से जुड़ा हुआ मिलता है । मत्स्य-पुराण के वंश, प्रवर एवं गोत्र नामक शीर्षक में हम क्रमशः गौर, नील, कृष्ण, श्वेत, श्याम एवं घूम इन छः प्रकार के पराशर नाम से परिचित होते हैं जिससे ज्ञात होता है कि 'पराशर' व्यक्ति के नाम न होकर कई व्यक्तियों एवं वंश का नाम रहा हो या फिर ये नाम उसके अनुयायियों, वंशजों इत्यादि के लिये कहा गया होगा ।[३]

महाभारत और विष्णु-पुराण में 'पराशर' को वसिष्ठ का पुत्र न मान कर पौत्र माना गया है । महाभारत में पराशर के जन्म की कथा मिलती है जिसमें राजा कल्माषपाद राह में एक बार 'शक्ति ऋषि' से मिले, राह संकरी थी और राजा ने ऋषि से एक ओर हट जाने को कहा । ऋषि ने यह सोचकर राह न दी कि स्वयं राजा को क्षत्रिय होने के कारण ऋषि की राह से हट जाना चाहिये । इस पर क्रोधित होकर राजा ने ऋषि को चाबुक मारी । ऋषि ने राजा को मनुष्य भक्षी हो जाने का शाप दिया । राजा ने तत्काल शापवश राक्षस होकर शक्ति को ही खा लिया । शक्ति की पत्नी अदृश्यन्ति गर्भवती थी, जिससे पराशर ने जन्म लिया । जब पराशर बड़े हुए और उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का वृत्तान्त सुना, तब वे राक्षसों के संहार के लिए, एक यज्ञ का अनुष्ठान करने में प्रवृत्त हुए । तत्काल वसिष्ठ आदि ऋषियों ने पराशर का वह यज्ञ कुंड हिमालय की ऊंचाइयों पर बिखेर दिया । जिससे आज

---

१. गैरोला वाचस्पति : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ.३१३
२. सिंह डा. रघुनाथ : कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, पृ.८४
३. आचार्य श्रीराम शर्मा : मत्स्य पुराण, पृ.२०९, २१०, २११
तस्मात् ऋषिं विवरो ... समग्रं पुरुषो जहाति ॥

भी चन्द्रकलाओं के रूप में लपटें निकला करती हैं और जिसमें राक्षस, वनादि भस्म होते रहते हैं ।[१]

पराशर का कृतित्व

पराशर के नाम से हमें पराशर स्मृति, बृहत पराशर संहिता, कृषि पराशर तथा ज्योतिष पराशर नामक उल्लेखनीय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । जिनमें पराशर-स्मृति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है । जो आज भी हमें पूर्ण रूप में प्राप्त है । जिसके उद्धरण मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृति-चन्द्रिका, हेमाद्रि आदि अनेक धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थों में पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त पराशर ने नीतिशास्त्र ज्योतिष शास्त्र एवं आयुर्वेदादि ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है ।

पराशर स्मृति के बारह अध्याय एवं तीन काण्ड हैं जो आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित काण्ड हैं, इनमें से व्यवहार काण्ड व्याख्याकार आचार्य माघव ने स्वयं जोड़ा है ।

पराशर स्मृति की भूमिका में व्यास आदि ऋषियों ने महर्षि पराशर से कलियुग में मानवों के आचार सम्बन्धी धर्म-अधर्म सम्बन्धी बातें पूछीं थीं । जिन्हें बदरि-काश्रम में स्थित महामुनि पराशर ने सभी ऋषि-मुनियों के समक्ष बताया ।[२]

पराशर स्मृति एक प्रगतिशील ग्रन्थ है । इसके प्रथम अध्याय में उल्लेख मिलता है कि सतयुग में मनु प्रोक्त मानव धर्मशास्त्र की प्रधानता थी, त्रैता में गौतम स्मृति की प्रमुखता रही, द्वापर में शंख लिखित यज्ञ की प्रमुखता रही तथा इस कलियुग में दान एवं पराशरोक्त धर्म को ही प्रमुख माना गया है ।[३]

पराशर स्मृति में मौलिक एवं विकासशील विचारों को प्रोत्साहन दिया है तथा स्त्रियों को पुनर्विवाह करने की अनुमति प्रदान की है । वाग्दान होने के पश्चात् एवं

---

१. उपाध्याय, भगवत शरण : भारतीय व्यक्ति-कोष, पृ. १३२

२. पराशर स्मृति—५, १२.१
ऋषि व्यासं पुरस्कृत्यं गत्वा बदरिकाश्रमम् ।
श्रुतामे मानवधर्म्मावशिष्ठाः काश्यपास्तथा ॥

३. वही—२४.१
कृते तु मानवा धर्मा : त्रेतायां गोतमा : स्मृताः ।
द्वापरे शंख-लिखिता : कलौ पाराशराः स्मृताः ॥

विवाह होने के पूर्व तथा विवाह के बाद भी निम्न परिस्थितियों में स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है :

१. पति के मर जाने पर

२. उसके संन्यासी होने पर

३. पति के विदेश चले जाने पर तथा वहीं जाकर बस जाने पर

४. पति के नपुंसक या शारीरिक रूप से असमर्थ होने पर

५. पति के सामाजिक दृष्टि से पतित होने पर तथा उसके समाज से बहिष्कृत हो जाने पर ।[१]

ब्राह्मण को शूद्र के घर भोजन करने में दोष का प्रावधान नहीं किया है अपितु ब्राह्मण को आपत्काल में शूद्र के घर भोजन करने में कोई दोष नहीं होता है । अर्थात् किन्हीं विशेष परिस्थिति जैसे दुर्भिक्ष पड़ जाने पर या सूखा पड़ जाने या किसी संक्रामक रोग के फैलने तथा ब्राह्मण के विदेश में चले जाने पर जैसा भी जहां भी भोजन मिल सकता हो, वह उसे ग्रहण कर सकता है । इस प्रकार विशेष छूट का प्रावधान किया गया है । उस समय ब्राह्मण को धर्म अधर्म को विचारे बिना ही व्यवहार करना चाहिये । तथा उसे प्रायश्चित स्वरूप कृच्छ्र एवं ब्रह्मकूर्च्चव्रत का पालन करना चाहिए ।[२]

पुत्रों के सम्बन्ध में पराशर ने 'औरस', 'दत्तक' क्षेत्रज एवं कृत्रिम इस प्रकार से चार प्रकार के पुत्रों का परिचय दिया है । जबकि यह संख्या मनु ने १२ गिनाई हैं ।[३]

---

१. पराशर-स्मृति—२८.१
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे न पतिते पतौ ।
पति चस्वापत्सु नारीणां पतिः अन्यो विधीयते ॥

२. पराशर-स्मृति—११.४,५
यदि भुक्तन्तु विप्रेण अज्ञानादआपदोपि वा ।
ज्ञात्वा समाचरेत् कृच्छ्रं ब्रह्मकूर्च्यन्तु पावनम् ॥

३. वही—१८.४
औरसः क्षेत्रज नैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वापि स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥

स्मृतिकार पराशर ने पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी का ब्रह्मचर्य (पातिव्रात्य) व्रत में निरत रहना आवश्यक माना है। और सती स्त्री की प्रशंसा भी की है साथ ही उसे स्वर्ग प्राप्ति का आश्वासन भी दिया है।[१]

पराशर स्मृति ने क्षत्रियों के आचार, कर्तव्य एवं प्रायश्चित के विषय में भी महत्वपूर्ण उपदेश दिये हैं। क्षत्रिय अर्थात् राजा के राजधर्म का सम्यक् निरूपण किया है।[२]

पराशर स्मृति के बारहवें अध्याय में कुछ वैदिक मंत्र मिलते हैं जो हमें ऋग्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद में भी प्राप्त होते हैं।[३]

पराशर का काल

समय की दृष्टि से महर्षि पराशर पाणिनि से भी पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि पाणिनि ने अपने 'भिक्षुनट सूत्र' नामक ग्रन्थ को पाराशर्य माना है। इसके अतिरिक्त निरुक्त में यास्काचार्य ने 'पराशर' शब्द की व्युत्पत्ति—'पराशीर्णस्य स्थविरस्य जज्ञे' की

---

१. पराशर स्मृति—२६.४
मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्ग यथा सद् ब्रह्मचारिणः॥

२. वही—२.३
क्षत्रियों दशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहिकैः।
शूद्रः शुद्धयति मासेन पराशरवचोः यथा॥

३. वही—१२.१९ से २७
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोमः सूर्य्यो निलस्तथा।
ते सर्वे ह्यपि तिष्णन्ति कर्णे विप्रस्य दक्षिणे॥
दिवाकरे पूर्त दिवास्नानं प्रशस्यते।
अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात्॥
मरुतो वसवो रुद्रा आदित्यश्चादि देवताः।
सर्वे सोमे विलीयन्ते तस्मात् स्नान्तु तद्ग्रहे।
खलयज्ञे विवाहे च संक्रान्तो ग्रहणेषु च।
शर्वय्यां दानमस्त्येव नान्यत्रेवं ग्रहणे यथा॥
महानिशा तु विज्ञेया मध्यस्थप्रहरद्वयम्।
प्रदोषपश्चिमो यामो दिनवत् स्नानमाचरेत्॥

है तथा महाभारत में भी निरुक्त की इस व्युत्पत्ति को आधार मानकर पराशर को वसिष्ठ का पौत्र एवं शक्ति की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न पुत्र माना है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आचार्य चाणक्य ने पराशर के राजधर्म-विषयक विचारों का स्वागत किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'कौटिलीय-अर्थशास्त्र' में पराशर या पराशरों के मत की चर्चा छः बार की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पराशर ने राजनीति पर भी लिखा था। वे राजनीति विषयक स्थल निम्न हैं—जिनके अन्तर्गत पराशर का समर्थन मिलता है—

१. चतुर्थ प्रकरण—अमात्योत्पत्तिः 'साधारण एवं दोष' इति पाराशराः।१।[१]

२. एकादश प्रकरण—मन्त्राधिकार 'स्तन्मन्त्रज्ञानम्, नैतन्मन्त्ररक्षणम्'—इति पाराशराः।३।

३. त्रोयदश प्रकरण—राजपुत्र रक्षणम् 'अहि भयमेतद्' इति पाराशराः।९।

४. पंचविंश प्रकरण—अक्ष पटले गणानिक्याधिकारः सर्वत्राष्टगुणः इति पाराशराः।१२।

५. अष्टममधिकरणम्—व्यसनाधिकरणम् 'जनपदः दुर्गव्यसनम्' इति पाराशराः।२४।

६. एकोनत्रिंशच्छततमं प्र.—पुरुषव्यसनवर्गः 'अर्थदूषण दण्डपारुष्योः अर्थदूषणं गरीयः' इति पाराशराः।३०।

पराशर की तिथि

इसके अतिरिक्त अनेकों टीकाकारों तथा लेखकों ने पराशर के मतों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर मान्यता प्रदान की है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि पराशर इन सभी मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृति-चन्द्रिका, हेमाद्रि आदिं से पूर्ववर्ती थे।

---

१. चैत्यवृक्षश्चितिः यूपः चण्डालः सोमविक्रमी।
एतास्तु ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सवासाजतमाविशेष्॥
सर्वं गङ्गा समं तोयं राहुग्रस्ते दिवाकरे।
सोम ग्रहे तथैवोक्तं स्नानदानादिकर्मसु॥

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने भी पराशर को प्राचीन धर्मप्रवक्ताओं में गिना है। जबकि पराशर ने स्वयं मनु का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पराशर, याज्ञवल्क्य से पूर्ववर्ती तथा मनु से परवर्ती स्मृतिकार हुये हैं।

काणे महोदय के अनुसार सम्भवत: पराशर का समय ईसा की १ से ५वीं शताब्दी के मध्य का माना गयां है। क्योंकि तब तक पराशर स्मृति को 'एक प्रामाणिक' ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर लिया गया था।[१]

इसके विषय में काणे महोदय ने अपने ग्रन्थ धर्मशास्त्र का इतिहास में ९वीं शताब्दी का निश्चित किया है क्योंकि उस समय यह 'पराशर स्मृति' विद्यमान थी। क्योंकि इसे मनु की स्मृति का ज्ञान था, अत: यह प्रथम शताब्दी तथा पांचवीं शताब्दी के मध्य में कभी लिखी गयी होगी।[२]

महर्षि पराशर वैदिक ऋषि माने जाते हैं। यह नाम ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक सर्वत्र आया है। पराशर परम्परागत रूप में कपिल मुनि के शिष्य थे, जिन्होंने पुलत्स्य से 'विष्णु पुराण' प्राप्त कर उसका ज्ञान मैत्रेय को प्रदान किया था।[३]

इनके नाम से एक धर्मशास्त्र भी प्रसिद्ध है, जिसके अनेक उद्धरण स्मृतियों में यत्र-तत्र उद्धृत हुए हैं। काणे महोदय ने पराशर स्मृति का रचना-काल ९वीं शताब्दी निश्चित किया है नि:संदेह पराशर स्मृति पर्याप्त प्राचीन है। स्वयं पराशर ऋग्वेदीय सूक्तों के रचयिता हैं तथा महाभारत कालीन ऋषियों में भी प्रसिद्ध हैं।

---

१. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ.५४

२. वही, पृ.५५

३. विष्णु-पुराण—१.१.३-५
प्रणम्य विष्णुं विश्वेशं ब्रह्मदीन् प्रणिपत्य च।
गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसम्मितम्॥
इतिहास पुराणज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम्।
धर्मशास्त्रादितत्वज्ञं वशिष्ठतनयात्मजम्॥
पराशरं मुनिवरं कृतपूर्वाहिनकपूर्वकम्।
मैत्रेय परिपृच्छः पर्याप्त प्रणिप्रत्यांभिवाद्य च॥

आचार्य यास्क के प्रसिद्ध ग्रन्थ निरुक्त के अनुसार पराशर वसिष्ठ के पुत्र थे, जिससे पराशर का समय निश्चयपूर्वक यास्काचार्य के समय अर्थात् छठी-सातवीं ईसवी पूर्व से भी पहले का माना जाता है ।[१]

अत: इस प्रकार महर्षि पराशर का समय त्रेता युग के अन्त से लेकर द्वापर युग के अन्त तक का माना जा सकता है । क्योंकि द्वापर युग में पराशर जीवित थे । पराशर का आयुर्वेद तन्त्र, कृषिशास्त्र और ज्योतिष (होरा) संहिता इत्यादि उसी काल के हैं । इनमें पाणिनि से पूर्व की संस्कृत भाषा का परिस्फुट रूप मिलता है ।[२]

स्मृतिकार देवल

संस्कृत-साहित्य में ऋषि देवल तथा इसके अतिरिक्त अनेक देवल नाम के ऋषियों का वर्णन प्राप्त होता है । जिनमें से एक स्मृतिकार देवल थे, दूसरे ज्योतिष के गणक और तीसरे वैयाकरण पाणिनि के पितामह इत्यादि थे ।

महाभारत के आदि पर्व में 'देवल ऋषि' के साथ 'असित' शब्द भी जुड़ा मिलता है । जिसको देवल का विशेषण भी कहा जा सकता है । महाभारत के प्रारम्भ में वर्णन मिलता है कि इस मनुष्य लोक में एक लाख श्लोकों का जो आद्य महाभारत है, उसे देवर्षि 'नारद' ने देवताओं को और 'असित देवल' ने पितरों को इसका श्रवण कराया था ।[३]

महर्षि देवल के जन्म के विषय में कहा गया है कि ऋषि 'असित्' देवल को एकपर्णा से उत्पन्न पुत्रों में से एक था । यह कश्यप गोत्र का एक मंत्रकार एवं प्रवर था । 'असित देवल' एवं 'देवल' इन दोनों नामों से इसका निर्देश प्राप्त होता है । इसका छोटा भाई धौम्य, वह पांडवों का पुरोहित था ।[४]

---

१. उपाध्याय, भगवत शरण : भारतीय व्यक्ति कोष, पृ. १३१

२. वही, पृ. १३२

३. महाभारत (आदि पर्व) अ. १०७
एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ।
नारदो श्रावयद् देवान् असितो देवलः पितृन् ॥

४. शास्त्री, सिद्धेश्वर : प्राचीन चरित्र कोष, पृ. २६७

इसके अतिरिक्त महाभारत के आदि पर्व में देवल के पिता का नाम प्रत्युष ऋषि बताया गया है ।[१] अर्थात् देवल नाम से उत्पन्न हुए प्रत्यूष ऋषि के पुत्र को सब जानते हैं । देवल के भी क्षमावान् और बुद्धिमान दो पुत्र हुए थे ।

ब्रह्म पुराण में व्यास जी से मोक्ष-विषयक प्रश्न करने वाले जिज्ञासु मुनियों की सूची में महर्षि देवल की गणना भी की गई है ।[२]

सांख्य-दर्शन के ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' तथा उसकी टीका माठर वृत्ति तथा जयमंगला में जिन दस आचार्यों का नाम लिया गया है, उनमें देवल ऋषि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

शिष्य परम्परा से ही यह सांख्य ज्ञान महर्षि पंच शिख आदि के माध्यम से 'महर्षि देवल' इत्यादि तक पहुंचा । उन सब सांख्य के आचार्यों के नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं—१. भार्गव, २. उलूक, ३. वाल्मीकि, ४. हारित एवं ५. देवल—ये सभी सांख्य ज्ञान के प्रवर्तक पंचशिख के शिष्य थे । अर्थात् अभिप्राय है कि उन्होंने यह सांख्यज्ञान मुनि पंचशिख से प्राप्त किया ।

भगवान् कपिल ने इस ज्ञान को आसुरि को दिया, आसुरि से पंचशिख ने, पंचशिख से भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत एवं देवल प्रभृतियों ने प्राप्त किया ।

---

१. महाभारत (शल्य पर्व) २५.६०
प्रत्युषस्य विदुः पुत्रमृषि नाम्नाथ देवलम् ।
द्वो पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणां ॥

२. ब्रह्म पुराण—१,१४.२६
कश्यपो जमदग्निश्च भारद्वाजोऽथ गौतमः ।
वसिष्ठो जैमिनिर्धोम्यो मार्कण्डयोऽथ वाल्मीकिः ॥
विश्वामित्रः शतानन्दो वात्स्यो गार्ग्योऽथ आसुरिः ।
सुमन्तु भार्गवो नाम कण्वो मेघातिथिर्गुरुः ॥
माण्डव्यश्चवनो घूम्रो ह्यसितो देवलस्तथा ।
मौदगल्यस्तृणयज्ञश्च पिप्पलपादो कृत व्रणः ॥
सम्वर्तः कौशिकी रैम्यो मैत्रेयो हारितस्तथा ।
नारद पर्वतश्चैव वैशम्पायन गालवो ॥
भास्करिः पूरणं सूत पुलस्त्यः कपिलस्तथा ।

इनसे यह सांख्य ज्ञान ईश्वर कृष्ण ने प्राप्त किया। प्रसिद्ध सांख्याचार्य ईश्वर कृष्ण ने 'षष्टि तन्त्र' का सम्यक् मनन कर, उसके सिद्धान्त को आर्यया छन्द के द्वारा संक्षेप में वर्णन किया।

आदि 'शङ्कराचार्य' ने ब्रह्मसूत्र के (१.४.२८) सूत्र पर भाष्य करते हुए सांख्य सिद्धान्त के विषय में भी महर्षि देवल आदि की चर्चा की है। अर्थात् देवलादि कुछ धर्मसूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में उसको आश्रय दिया है। यहां यह सिद्ध हो जाता है कि वेदान्त के ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र के रचना काल के समय महर्षि देवल विद्यमान थे।[१] अतः प्रसिद्ध वेदान्ती शंकराचार्य के संदर्भ से स्पष्ट होता है। उन्होंने देवल के ग्रन्थ को देखा होगा।

महर्षि देवल के नाम से दो वैदिक ऋषि भी विख्यात हैं—एक तो महर्षि याज्ञवल्क्य से भी पूर्ववर्ती हैं। दूसरे वह जो मुसलमानों के आक्रमण काल से पूर्व हुये हैं। सम्भवतः यह वही स्मृतिकार देवल हैं जिनके ग्रन्थ का सांख्य सम्बन्धी सन्दर्भ याज्ञवल्क्य-स्मृति की अपरादित्य विरचित 'टीका ग्रन्थ' अपरार्क में अनेकों उद्धरणों में उपलब्ध हैं।

एक अन्य ग्रन्थ के 'सांख्याचार्यों का इतिहास' के अंतर्गत 'असित देवल' और 'आर्टिषेण' नामक शीर्षक में देवल का नामोल्लेख मिलता है। जहां पर प्रथम दोनों को मन्त्रद्रष्टा एवं वैदिक ऋषि माना है। जबकि महाभारत के अनुसार तीनों ऋषिगण सांख्याचार्य हैं। इनमें से तृतीय ऋषि आर्टिषेण की सांख्य-विषयक कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती है। यहां पर असित और देवल को बड़े सदाचारी पुरुष कहा है। तथा इनके चरित्र को अनुकरणीय समझकर इनका नाम प्रातःस्मरणीय पुरुषों की श्रेणी में रखा है।[२]

इसी पक्ष को पुष्ट करती है कि श्रीमद्भगवद्गीता की वह पंक्ति जिसमें असित देवल दोनों ही नाम एवं ऋषि क्रमपूर्वक स्मरण किये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि असित, देवल समकालिक, पूज्य ऋषिवर हुये हैं। तभी अर्जुन ने कहा है—हे

---

१. शंकराचार्य—ब्रह्मसूत्र—१.४.२८१
एतेन सर्वे व्याख्याताः॥ 'देवल-प्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः'

२. जोशी, हरिशंकर : सांख्य-योग दर्शन का जीर्णोद्धार, पृ.६३,६४

भगवन असित, देवल, महर्षि व्यास, देव ऋषि नारद तथा सब ऋषि लोग आपको ऐसा ही कहते हैं। आप स्वयं भी अपने श्रीमुख से मुझ को ऐसा ही कहते हैं।

महर्षि देवल एक धर्मशास्त्रकार एवं एक स्मृतिकार के रूप में अधिक सुविख्यात हुये। याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गई टीका 'मिताक्षरा', 'अपरार्क' तथा 'स्मृति-चन्द्रिका' इत्यादि ग्रन्थों में देवल के उल्लेख मिलते हैं। स्मृति-चंद्रिका में देवल स्मृति का ब्रह्मचारी प्रकरण भी मिलता है तथा उसका ४४ वर्षों तक पाला जाने वाला ब्रह्मचर्य, पत्नी के कर्तव्य आदि विषयों के उद्धरण लिए गये हैं तथा इसके अतिरिक्त 'हरदत्त कृत' विवरण टीका तथा अपरार्क आदि ग्रन्थों में 'देवल' स्मृति के आचार, व्यवहार, श्राद्ध एवं प्रायश्चित आदि विषयों के उद्धरण भी लिये गये हैं।[१]

पंडित भगवददत्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में भिक्षु, पंचशिख, आसुरि, जातुकर्ण्य और जैगीषव्य आदि मुनियों को ब्राह्मण-ग्रन्थों से पूर्वकाल के तथा कणाद, अक्षपाद, गौतम, उलूक, देवल एवं हारीत इत्यादि ऋषियों को ब्राह्मण-काल का बताया है। इनकी गणना क्रमशः महापुरुषों में की गई है।[२]

उपरोक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि देवल के समय में 'सांख्य शास्त्र' पर गम्भीर और विशाल (संख्या) में ग्रन्थ विद्यमान थे जिनका संक्षेप करके उसने अपने ग्रन्थ में सांख्यशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। यहां यह कहना गलत नहीं होगा कि देवल ने उन सिद्धान्तों के मूल ग्रन्थों के शब्दो को ही रखने का प्रयत्न किया है। क्योंकि कुछ 'तत्वसमास' के सूत्र उनकी आनुपूर्वी में बिना किसी परिवर्तन के उसी रूप में मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—[३]

१. षोडश विकाराः ।२।

२. दश मूलिकार्थाः ।१६।

३. त्रिविधो बन्धः ।१९।

४. त्रिविधं दुखम् ।२२।

---

१. शास्त्री, सिद्धेश्वर चित्रावः प्राचीन चरित्रकोष, पृ. २६७

२. दत्त, भगवत : भारतवर्ष का बृहद इतिहास, पृ. ७७

३. शास्त्री, उदयवीर : सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. २१० से २१२

जिन तत्वसमास के सूत्रों में देवल से कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है वह अन्तर केवल शब्दावली का है अन्यथा अर्थ सामंजस्य की दृष्टि से वह भेद सर्वथा नगण्य प्रतीत होता है । उदाहरण स्वरूप निम्न सूत्र इस प्रकार है—

तत्वसमास	देवल
त्रैगुण्यम् ।४ ।	त्रयो गुणाः ।
त्रिविधं प्रमाणम् । २२ ।	त्रीणि प्रमाणनि ।
पञ्च वायवः ।१० ।	पञ्च वायु विशेषः ।

यद्यपि वर्तमान समय में देवल रचित कोई भी सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता तथापि शिलाहार वंश के राजा अपरादित्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर, टीका की व्याख्या में देवल के ग्रन्थ का कुछ अंश उद्धृत किया है, जो सम्पूर्ण सांख्य का द्योतक है । राजा अपरादित्य का समय ईसवी सन् का एकादश शतक माना गया है । सम्भवतया अपरादित्य ने भी देवल के ग्रन्थ को देखा हो तथा उस समय तक वह ग्रन्थ उपलब्ध रहा हो ।

तदनन्तर विधर्मियों के आक्रमण के समय जहां विशाल ग्रन्थ भण्डारों को भस्मसात् किया गया, उनमें यह ग्रन्थ भी नष्ट हो गया होगा ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्याख्याकार अपरादित्य ने प्रायश्चित प्रकरण के १०९वें श्लोक की व्याख्या के समय देवल के ग्रन्थ को उद्धृत किया है । जो निम्न है—'पञ्चविंशति तत्वज्ञानं सांख्यम् । . . .एतो सांख्ययोगो चाधिकृत्यमैयुक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणि इह संक्षिप्यो एतत् देशतो वक्ष्यन्ते तत्र सांख्यमेका मूल प्रकृतिः । . . .षोडश विकाराः त्रयोदशकरणानि. . . पञ्चवायुविशेषाः । त्रयो गुणाः । त्रिविधो बन्धः । त्रीणि प्रमाणनि । त्रिविधं दुखम् । विपर्ययः पञ्चविधः ।[१]

'सांख्य षड्ध्यायी' के कुछ सूत्र ऐसे भी उपलब्ध हैं जो देवल के संदर्भ में उल्लिखित सूत्रों से अक्षरशः समानता रखते हैं । वे निम्न हैं—[२]

---

१. शास्त्री, उदयवीर : सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. २०९

२. वही, पृ. २१०

सांख्यषडध्यायी	देवल
१. अशक्तिरष्टाविंशति । ३.३८	अशक्तिरष्टाविंशति घा ।
२. विपर्यय भेदा पञ्च । ३.३७	विपर्ययः पञ्चविधः ।
३. करण त्रयोदशविधम् । २.३८	त्रयोदश करणानि ।
४. प्रकृतेर्महान महतो अहंकार । अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणिः	प्रकृतेर्महानुत्पद्यते, ततोऽहंकार । अहंकारात् तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
५. उभय इंद्रियं तन्मात्रेभ्यः	तन्मात्रेभ्यो विशेषः ।
अध्यवसायोबुद्धिः ।२.१३	अध्यवसायो लक्षणो महान् बुद्धि ।
६. अभिमानऽहंकार	अभिमान लक्षणऽहंकार ।

कृतित्व[1]

महर्षि देवल एक स्मृतिकार के रूप में अधिक सुविख्यात हुआ । देवल स्मृति नाम से ९० श्लोकों का जो ग्रन्थ आनन्द-आश्रम (पूना) में छपा है, उस स्मृति ग्रन्थ में विशेष रूप से 'प्रायश्चित-विधि' का वर्णन मिलता है जो आज भी उपलब्ध है । अपितु यह ग्रन्थ मूल स्वरूप में अन्य स्मृतियों से लिये गये श्लोकों का संग्रह मात्र हो सकता है । साथ ही स्मृति ग्रन्थ का रचनाकाल भी काफी अर्वाचीन प्रतीत होता है । क्योंकि इस स्मृति के १७ से २२ तक के श्लोक तथा ३० से ३१ तक श्लोक विष्णु स्मृति के हैं, ऐसा अपरार्क टीका में प्रतिपादित है, जो निम्न है—

१. शास्त्री-सिद्धेश्वर-प्राचीन व्यक्तिकोष पृ. २६७ देवल स्मृति—१७,१८,१९,३०,३१

बलात् दासीकृता ये च म्लेच्छ चाण्डाल दस्युभिः ।
अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥
उच्छिष्ट मार्जनं चैव तथा तस्यैव भोजनम् ।
खरोष्ट्र विड् वराहाणां आभिष्य च भक्षणम् ॥
मासोषिते द्विजातो तु प्राजापत्यं विशोधनम् ।
तत्स्त्रीणां च तथा सह्यं ताभिश्च सहभोजनम् ॥
अशीतिः यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोऽशः ।
प्रायश्चितः अर्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ॥
उनेकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
प्रायश्चितं चरेत् भ्राता पिता वा न्योऽपि वर्धिताः ॥

अपरार्क टीका तथा स्मृति-चन्द्रिका में देवल स्मृति से दाय भाग, स्त्री धन इत्यादि विषयों के अनेकों उद्धरण मिलते हैं । इस विवेचन से लगता है कि देवल स्मृति इनसे पूर्व की रचना होगी ।

प्रसिद्ध काणे महोदय ने स्मृतिकार देवल को यवनों अर्थात् म्लेच्छों के आक्रमण काल का अर्थात् आठवीं शताब्दी का माना है । क्योंकि विषय-वस्तु की दृष्टि से आज विद्यमान देवल स्मृति काफी अर्वाचीन प्रतीत होती है ।[१]

महर्षि देवल विरचित स्मृति से श्लोक एकत्रित कर तीन सौ श्लोकों का संग्रह 'धर्मप्रदीप' के नाम से प्रसिद्ध है । इन सब तथ्यों के सामने आने से स्मृति की विषय विविधता एवं विस्तृत स्वरूप की कल्पना उभरती है कि दैवल स्मृति भी किसी समय में पूर्ण स्मृति रही हो, जिसका आज हमें थोड़ा अंश प्राप्त होता है ।

देवल स्मृति के प्रतिपाद्य में मुख्य रूप से प्रायश्चित वर्णन के अन्तर्गत 'बलात् म्लेच्छ: नीतानां', 'स्त्रीणां विषये प्रायश्चित' म्लेच्छ सम्बन्धी प्रायश्चित वर्णनम्, सांतपनादिकृच्छ्रचान्द्रायरणान्त विधि वर्णनम् इत्यादि विषयों को प्रमुख रूप से बताया है अर्थात् म्लेच्छों के साथ जिनका सम्पर्क हो गया है तथा जो स्वेच्छा से धर्म परिवर्तन कर चुका है । उसको क्या प्रायश्चित करना चाहिये ? जिससे वह पुन: अपनी जाति में मिल सके अथवा सम्मिलित हो सके ।[२]

प्राय: स्मृतियों ने खान-पान के विषय में दोषों के लिए विभिन्न प्रायश्चितों की व्यवस्था दी है यथा—सुरा के लिए प्रयुक्त पात्र में जल पीना, धोबी, या शूद्र के घर जल पीना, न पीने योग्य दूध का पीना इत्यादि ।

देवल स्मृति में भी इन सबका प्रायश्चित विभिन्न प्रकार का बताया है । यहां अपेर्य पान से अभिप्राय न पीने योग्य वस्तु को, जल या दूध का पी लिया जाना । तथा अभक्ष्य-भक्षण से तात्पर्य है कि भक्षण के अयोग्य पदार्थ, जूठा भोजन, गोमांस या बासी भोजन इत्यादि का खा लिया जाना है या किसी म्लेच्छ के द्वारा लाये हुए

---

१. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृ. २५६

२. देवल स्मृति—१७,८०
बलात् दासी कृता ये च म्लेच्छ चाण्डाल दस्युभिः ।
अशुभं कारिताः कर्मः गवादि प्राणि हिंसनम् ॥
म्लेच्छः नीतस्य विप्रस्य पञ्चगव्य विशोधनम् ॥

भोजन का सेवन किया हो तत्पश्चात् संसर्गादि दोष के लिये कहा गया है । यदि किसी विप्र ने अगम्य स्त्री अर्थात् म्लेच्छ पत्नी का गमन किया हो, उसकी शुद्धि के निमित्त कहा है कि उस ब्राह्मण को एक वर्ष पर्यन्त तक चान्द्रायण तथा पराक व्रत का पालन करना चाहिये ।[१]

इसके अतिरिक्त कहा है कि विभिन्न प्रकार के प्रायश्चितों के करने पर भी गंगा स्नान से शुद्धि की (बात कही) है ।[२]

इस प्रकार से देवल स्मृति में भिन्न-भिन्न प्रकार की शुद्धि का वर्णन विशेष रूप से मिलता है । यथा—जाति शुद्धि, देह शुद्धि तथा समाज शुद्धि जैसे कितने ही उपयोगी विषयों का समावेश किया गया है । प्रायः सभी विद्वानों की दृष्टि में इनका पर्याप्त महत्व है ।

मिताक्षरा ने देवल के गद्यांश उद्धृत किये हैं, जिनमें शूद्र की वृत्ति का, यायावर एवं शालीन नामक गृहस्थों का वर्णन है । अपरार्क एवं स्मृति-चन्द्रिका में भी देवल के उदाहरण भरपूर मात्रा में मिलते हैं जिनमें मुख्य रूप से आचार, व्यवहार, श्राद्ध, प्रायश्चित आदि विषय सम्मिलित किये गये हैं । देवल की यह एक स्वतन्त्र कृति अवश्य थी ।[३] इसके अतिरिक्त देवल के स्मपत्ति-विभाजन, वसीयत, स्त्री धन इत्यादि पर अपरार्क एवं स्मृति-चन्द्रिका में उद्धृत अंश अवलोकनीय है ।[४]

१.　वही—७८
　　अपेयं यैन संपीतमभक्ष्यं भक्षितम् ।
　　म्लेच्छेनीतेन विप्रेण अगम्यागमनं कृतम् ॥
　　तस्य शुद्धि प्रवक्ष्यामि यावदेकं तु वत्सरम् ।
　　चान्द्रायणं तु विप्रस्य सपराकं प्रवर्तितम् ॥

२.　वही—१५
　　अथ संवत्सरात् उर्ध्व म्लेच्छर्नीतो यदा भवेत् ।
　　प्रायश्चिते तु संचीर्ण गङ्गास्नानेन शुध्यति ॥

३　वही—१६
　　सिन्धु सोवीर सोराष्ट्र तथा प्रत्यन्तवासिनः ।
　　कलिङ्ग कोङ्कणन्वङ्गान्गत्वा संस्कारं अर्हतिः ॥
　　काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ३८

देवल का समय

स्मृतिकार देवल का समय, इस विषय को लेकर जो तथ्य 'सांख्य शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित किए गए हैं। उनका अपना विशिष्ट महत्व है। क्योंकि उससे देवल की प्राचीनता को लेकर जो मतभेद रहे हैं वे सभी सामने आते हैं। डा. उदयवीर शास्त्री जी ने महर्षि देवल के सन्दर्भ में सिद्ध किया है। देवल का समय सांख्य-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सांख्य षड्ध्यायी' के आधार पर निश्चित हो सकता है।

महर्षि देवल द्वारा उल्लिखित 'तन्त्र' को वास्तविक रूप से 'षष्टितन्त्र' कहा गया है। इसकी अपेक्षा अनेक आधुनिक विद्वान् ईश्वर कृष्ण की 'सांख्य सप्तति' को ही सांख्य का प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। उसको सर्वापेक्षया सांख्य का प्राचीन ग्रन्थ कदापि नहीं कहा जा सकता है।[१]

देवल को ईश्वर कृष्ण की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन आचार्य माना जाता है। इसकी प्रामाणिकता के प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि 'सांख्यसप्तति' की ७२ वीं आर्या में ईश्वर कृष्ण ने लिखा है कि यह 'षष्टि तन्त्र' मुझे गुरु शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ है।[२]

'सांख्य सप्तति' के व्याख्याकार आचार्य माठर ने उस गुरु शिष्य परम्परा को यह दर्शाने के लिये कहा कि ईश्वर कृष्ण आचार्य देवल के समय का हो। क्योंकि देवल नाम के आगे जुड़ा हुआ 'प्रभृति' पद इस बात को स्पष्ट करता है कि देवल और ईश्वर कृष्ण के बीच में भी अनेक सांख्याचार्य हुए होंगे जिनका इस परम्परा में नामोल्लेख नहीं हुआ।

आचार्य माठर के अनुसार महर्षि कपिल, आसुरि, पंचशिख की अविच्छिन्न परंपरा के अतिरिक्त भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत और देवल इन पांच सांख्याचार्यों का साक्षात् नाम निर्देश किया गया है। जबकि सांख्य सप्तति की 'युक्तिदीपिका' व्याख्या में जनक, वसिष्ठ, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर,

---

१. शास्त्री, उदयवीर : सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ.

२. सांख्याकारिका—ईश्वर कृष्ण
'कपिलादासुरिणा प्राप्तम्...।
'ततः पंचशिखेन, तस्माद् भार्गवालोलूकवाल्मीकि हारीत देवल प्रभृतीनाम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन् प्राप्तम्।'

पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूक इन बारह तेरह सांख्याचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है । इनमें केवल हारीत ऐसा नाम आया है जिसका उल्लेख माठर ने भी किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि देवल और ईश्वर कृष्ण के मध्य अन्य अनेक सांख्याचार्यों का होना सम्भव है । अत: ईश्वर कृष्ण की अपेक्षा देवल की प्राचीनता स्वयंसिद्ध हो जाती है ।[१]

देवल की प्राचीनता का एक और प्रबल प्रमाण यह है, कि महाभारत में अनेक स्थलों पर उसका उल्लेख मिलता है और सांख्य के साथ भी उसका सम्बन्ध प्रकट होता है । जैसे कि महाभारत के सभापर्व में युधिष्ठिर के सभा प्रवेश के समय अनेक ऋषियों का सभा में उपस्थित होने के समय, अनमें देवल का भी उल्लेख है । इस प्रसंग में भी देवल के 'असित' पद का भी निर्देश है । अनेक स्थलों पर साथ में जुड़े होने पर 'असित' इसी का नामान्तर अथवा विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।[२]

महाभारत के शल्य पर्व में वर्णन है कि देवल के जैगीषव्य के योग प्रभाव को देखकर गार्हस्थ्य धर्म छोड़ा और संन्यास धर्म स्वीकार किया ।[३]

काणे महोदय के अनुसार देवल का समय तीसरी शती के लगभग माना गया है । क्योंकि इन्हें बृहस्पती एवं कात्यायन का समकालीन कहा गया है । देवल का यह समय निर्देश भी ठीक नहीं लगता है क्योंकि महाभारत में वर्णित होने पर स्वयं ही देवल प्राचीन आचार्य सिद्ध हो जाता है ।

---

१. शास्त्री, उदयवीर : सांख्य-दर्शन का इतिहास, पृ. २११, २१२

२. वही, पृ. २१२

३. महाभारत (शल्यपर्व) ७.५७
तं तत्र वसमानं तु जैगीषव्यं महामुनिम् ।
देवलो दर्शयत्रेव नैवायुञ्जत धर्मत: ॥

तृतीय अध्याय

पराशर एवम् देवल स्मृति में विहित वर्ण-व्यवस्था

सामान्य रूप से ऋग्वेद में वर्ण शब्द का अर्थ रंग या प्रकाश माना गया है। कहीं-कहीं यथा २.१२.४ एवं १.१७.६ सूक्तों में वर्ण का सम्बन्ध ऐसे जन गण से है, जिनका चर्म काला या गोरा है।[१]

तैत्रिरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण देवी वर्ण है तथा शूद्र असूर्य वर्ण है।[२] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में आर्यों एवं दस्युओं या दासों की अभिन्नता के विषय में अनेकशः चर्चा हुई है। यहां दस्यु एवं दास दोनों एक ही अर्थ के पर्याय हैं। अतः कहा जा सकता है कि ऋग्वेदीय काल में दो परस्पर विरोधी दल आर्य एवं दस्यु जो परस्पर शरीर के रंग, पूजा-पाठ, बोली एवं स्वरूप से भिन्न थे। अतः सिद्ध होता है कि वर्ण शब्द प्राचीन काल में दास एवं आर्य से ही सम्बन्धित था। यद्यपि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय शब्द का ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त हुये हैं, तथापि वर्ण शब्द का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य एवं शूद्र (शब्द) का उल्लेख हुआ है वहां वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। तथापि ऋग्वेद में 'पुरुष सूक्त' के अतिरिक्त कहीं भी वैश्य एवं शूद्र शब्द नहीं आये हैं। जबकि अथर्ववेद में कई बार एवं तैत्तिरीय संहिता में भी कई बार ये शब्द दिखलाई पड़ते हैं।[३]

---

१. ऋग्वेद संहिता—२.१२.४, पृ.१०६७
   यो दासं वर्णंमधरं गुहा कः।
   वही, १.१७.६, पृ.१०६७.
   उभो वर्णावृषिरुग्रः पुपोष।
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण १.२.६, पृ.४६
   देव्यो वे वर्णोः ब्राह्मणः, असुर्यः शूद्रः।
३. ऋग्वेद—१०.१०.१२
   ब्राह्मणों स्य मुखमासीद बाहु राजन्य कृतः।
   ऊरु तस्य यदवेश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायतः॥

प्राचीन काल में भारतीय समाज-व्यवस्था का आधार वर्णाश्रमधर्म था तथा धर्मशास्त्रकारों ने प्रत्येक वर्ण के लिये पृथक्-पृथक् नियम बनाये हुये थे जिनका पालन करना वर्ण का धर्म था। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करता है, उससे भगवान् विष्णु प्रसन्न रहते हैं।[१]

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रम-धर्म को त्यागकर अन्य वर्ण-धर्म का अनुसरण या पालन करता है, वह नरकगामी बनता है।[२]

आचार का महत्व

स्मृतिकार महर्षि पराशर ने सर्वप्रथम आचार धर्म को समझाया है। आचार धर्म का पालक है अर्थात् आचार ही चारों वर्णों के धर्मों का पोषक है। क्योंकि आचार के अभाव में केवल धर्म के कथन मात्र से ही धर्म का पालन नहीं हो सकता अपितु वर्ण-धर्म के पालन हेतु आचार आचरण अत्यावश्यक होता है। और जो मनुष्य आचार से रहित हैं तथा जिन्होंने धर्माचरण को त्याग दिया है, उनसे धर्म भी विमुख हो जाता है।[३]

महाभारत के अनुशासन पर्व के इसी आचार धर्म को चतु:लक्षण युक्त बताया है। यथा—आचारवान् मनुष्य आयुष्मान् होते हैं। वे आचार द्वारा ही श्री अर्थात् धन की प्राप्ति करते हैं तथा आचार का पालन करने से ही मनुष्य यशस्वी बनता है।[४] इसके विपरीत आचरण करने से अर्थात् दुराचार करने से, उसकी आयु का

---

१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१.५८.१८, पृ.१०२१
स्वर्णोत्रम धर्मस्थः पूजयन्मधूसूदनम्।
कालं नयति यो ब्रह्मस्तस्यातुष्यति केशवः॥

२. विष्णुधर्मोत्तर पुराण—२.१८.७, पृ.१०२१
वर्णाश्रमोक्तं वर्तन्ते धर्म त्यक्त्वा तु ये नराः।
बहिः शास्त्रान्महाभागा ते वे निरयगामिनः॥

३. पराशर स्मृति—३१.१
चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्म्मपालकः।
आचारभ्रष्ट देहानां भवेद्धर्म पराङ्गमुख॥

४. महाभारत (अनुशासन पर्व)—१४७.६
आचारात् लभते हि आयुः आचारात् लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्ति आप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

नाश हो जाता है । साथ ही वह मनुष्य निन्दा का पात्र बनता है । अन्ततः पापाचरण करने से दुराचारी के शरीर का नाश हो जाता है ।[१]

आचार का लक्षण

महाभारत के अनुशासन कर्म के अनुसार सज्जनों के आचरण को आचार माना है । अर्थात् शिष्टों के द्वारा जो आचरण किया जाता है, वही आचार कहलाता है ।[२] वे साधु पुरुष कौन होते हैं ? हारीत के अनुसार दोष हीन मनुष्य साधु होते हैं । अर्थात् सत् शब्द को यहां भले का द्योतक माना है । उन भले पुरुषों का जो आचरण होता है वही सदाचार कहलाता है ।[३]

सदाचार के सम्बन्ध में आचार्य माधव ने स्मृतिकार.मनु का मत उद्धृत किया है । उस देश में सभी वर्णों का एवं अनुलोम-प्रतिलोम वर्णसंकरों का जो आचार प्राचीन परम्परा से माना गया है, वही सदाचार कहलाता है ।[४]

धर्मसूत्रकार बोधायन ने धर्म का पालन करने वाले शिष्ट जनों के विषय में कहा है कि मनुष्य निरंहकारी, कुम्भी-धान्य (अर्थात् एक कुम्बी भर अन्यत्र पात्र में अन्न रखते थे), अलोलप, घमंड रहित, लालच, मोह तथा क्रोध का विवर्जन करने वाले हैं,[५] वे सभी शिष्ट जन कहलाते हैं ।

---

१. दुराचारोहि पुरुषोनेहायुविन्दन्ते महत् ।
ग्रसन्ति नास्य भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥
तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद भूतिमात्मनः ।
अपि पाप-शरीरस्य आचारोहन्त्यलक्षणम् ॥

२. महाभारत (अनु.पर्व)
आचार-लक्षणों धर्मः सन्त च आचार-लक्षण ।
साधूना च यथावृत्तमेतदाचार-लक्षणम् ॥

३. हारीत—पराशर-माधव से उद्धृत पृ.सं.१३४ (अ.आ.का.)
साधवः क्षीण-दोषाः स्युः शब्दः साधु वाचकः । तेषामाचरणं यतु सदाचारः स उच्यते ॥

४. मनुस्मृति—५.२
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य्य क्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

५. पराशर माधव से उद्धृत—पृ.१३०
'शिष्टाः खलु विगत मत्सराः निरहङ्काराः कुम्भीधान्याः ।
अलोलुपाः दम्भ-दर्प-लोभ-मोह-क्रोध-विवर्जिताः ॥' इति

वर्ण-व्यवस्था का सामान्य परिचय

वर्ण-व्यवस्था का तात्पर्य उन चारों वर्णों से है जो भारतीय समाज के चार वर्ग विशेष के रूप में जाने जाते हैं। ऋग्वेद के 'पुरूष सूक्त' में चतुर्वर्ण-व्यवस्था का स्पष्ट संकेत मिलता है। जहां पर विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मणों, भुजाओं से क्षत्रियों, जंघाओं से वेश्यों तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति बतलाई गई है।[१]

उसी प्रकार महाभारत में भी पूर्वोक्त मत की पुष्टि की गई है। वहां भी ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण की, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा चरण से शूद्र की उत्पत्ति हुई थी।[२]

अन्य सभी स्मृति ग्रन्थों के साथ ही वायु-पुराण एवं विष्णु पुराण भी वर्णों की उत्पत्ति के विषय में ऐसी ही मान्यता को समेटे हैं।[३]

प्रसिद्ध विद्वान् काणे ने अपने ग्रन्थ धर्मशास्त्र का इतिहास में स्पष्ट लिखा है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद में कालान्तर में जोड़ा गया है। ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है। अपितु ऋग्वेद का ब्राह्मण शब्द यह संकेतित नहीं करता है कि वह जाति विशेष को द्योतित करता है।[४]

धर्मसूत्रों के समय में भोजन एवं विवाह संबंधी नियंत्रण कठोर नहीं थे, अपितु ब्राह्मणत्व जन्म से माना जाता था। क्षत्रिय के लिये भी ऋग्वेद में 'शक्ति' शब्द प्रचलित था। कहीं-कहीं ब्राह्मणों के लिये 'ब्रह्म वे ब्राह्मण:' तथा क्षत्रिय के लिये 'क्षत्रं राजन्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के वर्ण्य-विषय के अनुसार यह कहना सम्भव नहीं है कि वैदिक काल में क्षत्रिय जन्म से क्षत्रिय थे अथवा नहीं अपितु

---

१. ऋग्वेद—१०.९०.१२
ब्राह्मणों स्य मुखमासीद बाहु राजन्य कृतः।
उरु तस्य उद्देश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायतः॥

२. महाभारत (शान्ति पर्व) ४५.७३
ब्राह्मणों मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसतम्।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट उरुभ्यां वेश्य उच्यते॥
वर्णनां परिचयार्थ त्रयाणां पुरुषर्वम।
वर्णश्चतुर्थ पश्चातु पद्भ्यां विनिर्मितः॥

३. वायु पुराण—६.११३ विष्णु पुराण—१.६१६

४. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ. ११०

ऋग्वेद की एक गाथा के आधार पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में कर्म सम्बन्धी विशेष अन्तर नहीं था। जैसे—क्षत्रिय राजा देवापि ने ब्राह्मणत्व स्वीकार किया था, वह अपने लघु भ्राता शान्तनु के पुरोहित बने थे।[१]

गीता में भी भगवान् कृष्ण ने गुण और कर्मों के विभागानुसार अर्जुन को वर्णाश्रम-व्यवस्था का मर्म समझाया है। वहां भी गुण और कर्म विभाग के अनुसार ही इन चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) की उत्पत्ति कही है।[२] तत्पश्चात् समाज में धीरे-धीरे कर्म का आधार विस्मृत हो गया और जन्म का आधार विस्तृत होने लगा। जिसके फलस्वरूप यह समाज-व्यवस्था आज विसंगत सी लगती है।

वेश्य वर्ण भी क्रमशः 'विश्' धातु से उत्पन्न शब्द माना गया है। ऋग्वेद के अन्तर्गत वेश्य शब्द केवल पुरुष सूक्त में आया है। 'विश' शब्द का अर्थ जन दल का द्योतक है। ऋग्वेद की सभी स्तुतियों में 'विश' शब्द का प्रयोग है। अपितु वहां पर वेश्य अर्थ का द्योतक नहीं बनता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'विश' का अर्थ राष्ट्रिणी या देश है।[३] वैश्य के धन कमाने पर ही राज्य में सब वर्णो का काम चलता है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार 'वैश्य' ऋक् मन्त्रों से उत्पन्न हुए हैं तथा क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों की उत्पत्ति क्रमशः यजुर्वेद तथा सामवेद से बताई है।[४] महाभारत में भी वैश्यों की गणना द्विजातियों में की गयी है।

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने भी प्रथम तीन वर्णों को द्विजन्मा कहा है। इन सबकी गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक की सभी क्रियायें मन्त्रों द्वारा सम्पादित होती हैं।

---

१. काणे, पी.वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ. १११

२. श्रीमद्भगवद्गीता—१३.४
चातुर्वणर्य मया सृष्टं गुण कर्मविभागशः
तस्य कर्तारमपि मां विद्धि कर्तारं अव्ययम्॥

३. ऐतरेय ब्राह्मण—८.२६
राष्ट्राणि वे विशः
ऋग्भ्यो जातं वैश्य वर्णमातु।
यजुर्वेदः क्षत्रियस्याहुयोनिम्।

४. तैत्तिरीय ब्राह्ण—सामवेदो ब्रह्मणानां प्रसूतिः।

द्विजन्मा होने के कारण वैश्य को वानप्रस्थ एवं आश्रमोचित सभी धार्मिक कार्यों को करने का अधिकार था।[१]

महाभारत में एक सदाचारी वैश्य के लिये तिल, चन्दन और रस की बिक्री का निषेध बताया है तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य त्रिवर्ग का यथाशक्ति, यथायोग्य आतिथ्य-सत्कार को महत्व दिया गया है। सैद्धान्तिक रूप से वैश्य आचार्य नहीं बन सकते थे, अपितु व्यावहारिक रूप से भी महाभारत में किसी वैश्य आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता।

शूद्र शब्द का उल्लेख भी सर्वप्रथम ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में मिलता है। 'पदभ्यां शूद्रो जायत्' एवं 'आशु द्रवति स शूद्रः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर काम, क्रोधादि मनोविकारों से जिसका हृदय शीघ्र ही प्रभावित हो, वह शूद्र होता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में प्रजापति ने शूद्र को सब वर्णों का सेवक कहा है।[२] इसी प्रकार मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति ने भी सभी वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का प्रमुख कर्तव्य कहा है। उनकी सेवा-सुश्रूषा से शूद्र को महत् सुख प्राप्त होता है।[३] शूद्र का कर्तव्य ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इन तीनों की सेवा के साथ यह भी है कि वह कभी भी किसी प्रकार का धन संचय न करे।[४]

इस प्रकार ऋषियों ने व्यक्ति और समाज दोनों के हितार्थ वर्णाश्रम-व्यवस्था का समायोजन किया। वर्ण की व्यवस्था समाज को दृष्टि में रखकर तथा आश्रम की व्यवस्था व्यक्ति के हित को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। इस प्रकार यह

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१०.१
ब्रह्म क्षत्रिय विट् शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः शमशानान्तः तेषां वे मन्त्रतः क्रियाः॥

२. महाभारत (शान्ति पर्व) २७.६०
प्रजापतिर्हि वर्णानां दास शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते॥

३. वही (वही), २८.६०
तेषां शुश्रूषणा चैव महत्सुखभवाप्नुयात्।

४. महाभारत (शान्ति पर्व) २९.६०
शूद्र ऐतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णान अनसूयकः।
संचयांश्च न कुर्वीत् जातु शूद्र कथंचन॥

दोनों वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था एक दूसरे की पूरक हैं। क्योंकि व्यक्ति और समाज भी एक दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय वर्ण-व्यवस्था हिन्दू धर्मशास्त्र तथा स्मृति-साहित्य की एक ऐसी विशेषता है, जिसका उदाहरण अन्यत्र किसी देश या समाज में नहीं मिलता अपितु हिन्दू समाज का धार्मिक एवं सांस्कृतिक विधान अपूर्व माना जाता है।

वर्ण-व्यवस्था के संबंध में पराशर एवं देवल स्मृति का दृष्टिकोण

प्रायः स्मृतियों के अनुसार भी भारतीय समाज को चार वर्णों में विभक्त माना गया है। उनके नाम क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र हैं। स्मृतियों ने इन जातियों को वर्ण शब्द से सूचित किया है। सभी स्मृतियों के अनुसार प्रथम तीन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज कहलाते हैं। जो शूद्रों से विपरीत हैं। क्योंकि शूद्र समाज में स्थान पाने पर भी अद्विज ही कहलाता है। द्विज का एक जन्म माता के गर्भ से होता है और दूसरा जन्म उपनयन संस्कार से होता है।

पराशर स्मृति के वर्ण-व्यवस्था संबंधी विधान को व्यास जी द्वारा पूछे गये प्रश्न के निमित्त बताया गया है। जब व्यास जी ने कहा कि इस मन्वन्तर में कृतयुग, त्रेतादि युग में विद्यमान सम्पूर्ण धर्म कलियुग के आने पर विनष्ट हो गये,[१] अतः हमें चारों वर्णों के आचरण योग्य एवं इन सबका कर्तव्य बोधक तथा सभी धार्मिक विद्वानों का उपकारी धर्मशास्त्र सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों भेदों सहित विस्तार से कहिये।[२]

वर्णों के कर्तव्य

ब्राह्मण के साधारण धर्म के सम्बन्ध में स्मृतिकार पराशर का मत है कि 'षट्कर्म में लगा रहने वाला, नित्य देवता एवं अतिथि का पूजन एवं सत्कार करने

१. पराशर स्मृति—६.१
अस्मिन् मन्वन्तरे धर्मा कृतादिके युगे।
सर्वेः धर्माः कृते जाताः सर्वेनष्टाः कलो युगे॥

२. पराशर स्मृति—७.१
चातुर्वर्ण्यं समाचारं किन्चित साधारणं वद।
चतुर्णामपि वर्णानां कर्तव्यं धर्मकोविदैः॥

वाला, तथा हवन से बचा हुआ भोजन ग्रहण करने वाला ब्राह्मण कभी दु:खी नहीं रहता है।'[१]

आचार्य माधव ने षटकर्मों को स्मृतिकार मनु के अनुसार इस क्रम से निर्दिष्ट किया है। वे पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना इत्यादि हैं। जन्म से ही ब्राह्मण को इन सबका पालन करना अनिवार्य कहा गया है।[२]

स्मृतिकार ने ब्राह्मण के साधारण धर्म के संबंध में कुछ नहीं कहा अपितु ब्राह्मण के अयाज्य-याजक स्वरूप के विषय माना है। कि जो ब्राह्मण शूद्रों एवं पतितों का यज्ञ केवल अर्थ (धन) प्राप्ति के उद्देश्य से कराता है। और पुन: उन पतितों एवं शूद्रों से यवों (जो) द्वारा यज्ञ करवा देता है वह ब्राह्मण अयाज्य-याजक कहलाता है।[३]

अध्ययन-अध्यापन

अध्ययन के संबंध में आचार्य माधव ने व्याख्या करते हुए वसिष्ठ स्मृति का उल्लेख किया है जिसके अंतर्गत अध्यापन तथा 'उसके अधिकारी' शिष्य के विषय में कहा है कि 'वेद विद्या ब्राह्मण के पास जाकर उससे कहती है कि मेरी रक्षा करो, मैं तेरी निधि हूं। जो व्यक्ति असूया करने वाला हो, कुटिल हो तथा संयम रहित हो, उसे मुझे मत देना। तभी मैं वीर्यवती होऊंगी।[४]

---

१. पराशर-स्मृति—३८.१
षट्कर्माभरतो नित्यं देवता-अतिथि-पूजकः।
हुत-शेषन्तु भु जानो ब्राह्मणो न अवसीदति॥

२. मनुस्मृति—७५.१०
अध्ययनं चाध्यापनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चापि षट्कर्माष्यग्र-जन्मनः॥

३. देवल—पराशर माधव से उद्धृत, पृ. १६४
यः शूद्रान् पतितांश्चापि याजयेदर्थ-कारणात्।
याजितोवा पनुस्ताभ्यां ब्राह्मणों अयाज्य-याजक॥

४. वसिष्ठ स्मृति—६०
'विद्यया ह वै ब्राह्मणं जगाम्र।
गोपाय मां सेवधिः ते इह मस्मि॥
असूयकायान ऋजवे शठाय।
न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

शिष्य नियम बताने के बाद अध्यापन के संबंध में यम स्मृति का अद्धरण देकर आचार्य का नियम बताया है। गुरु को नित्य प्रति, आलस्य-रहित होकर, अध्ययन रत शिष्य से 'भो शिष्य पढ़' यह कहे और 'विराम हो' ऐसा कहकर विश्राम की आज्ञा दे।[१]

इसके साथ ही आचार्य को प्रतिदिन प्रातः उठकर अपने दैनिक कृत्यों से निपट कर अध्यापन कार्य सम्पन्न करना चाहिये अर्थात् अध्यापन करना चाहिये। तथा नित्य ही अध्यापन कार्य के आरम्भ में 'अधीष्वभो' तथा अन्त में 'विरामो स्तु' कहे।[२]

अध्यापन अर्थात् स्वाध्याय के लिए बालक या शिष्य की आयु सीमा क्या होनी चाहिये ? इस विषय में आचार्य माधव ने मनु स्मृति के अनुसार उल्लेख किया है। आठ वर्ष के बालक का उपनयन संस्कार हो जाना चाहिये। अर्थात् शिष्य का अध्ययन-अध्यापन कार्य प्रारम्भ करने की निश्चित अवधि (आयु-सीमा) ८ वर्ष निश्चित की गई है। यह मत सभी स्मृतिकारों को अभिप्रेत है।

पराशर स्मृति के व्याख्याकार आचार्य माधव ने उपनयन तथा अध्ययन को अङ्गाऽङ्गीभाव से स्वीकार किया है। साथ ही आचार्य एवं आचार्य के गुणों की चर्चा भी की है।

स्मृतिकार मनु ने आचार्य को आदेश दिया है। वह आचार्य (द्विज) उस शिष्य को वेद पढ़ाये जिसका उपनयन (संस्कार) हो गया है तथा उसे ही कल्प (यज्ञ विद्या) तथा रहस्य (उपनिषद) आदि की शिक्षा दे।[३] यहां पर आचार्य ने स्वाध्याय के अंतर्गत ही अध्ययन का अवगमन माना है।

---

१. यम स्मृति—पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १३६
सततं प्रातरुत्थाय दन्त-धावन पूर्वकम्।
स्नात्वा हत्वा च शिष्येभ्यः कुर्यादध्यापनं नर॥

२. मनु स्मृति—७३.२
अध्येष्यमाणन्तु गुरुः नित्य कालं तन्त्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रुयात् विरामो स्विति वा रमेत्॥

३. मनुस्मृति–१०४.१
उपनीय तु यः शिष्य वेदमध्यापयेत् द्विजः।
स कल्पं स–रहस्य न तम् आचार्य प्रवक्षते॥

जिस प्रकार से प्रथम, अध्ययन, यजन, तथा दान ब्राह्मण के धर्म हैं। उसी प्रकार से अध्यापन, याजन एवं प्रतिग्रह उसके (आजीविका) असाधारण धर्म हैं, उसकी वृत्ति हैं। स्मृतिकार मनु ने ब्राह्मण वृत्ति या आजीविका के साधन, पढ़ाना, यज्ञ कराना तथा विशुद्ध दान ही लेना ब्राह्मण के उपयुक्त कर्म निर्धारित किये हैं।[१]

यहां 'विशुद्ध' शब्द के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि प्रतिग्रह अर्थात् वह दान योग्य व्यक्तियों से ही लिया जाना चाहिए। दान दी गई वस्तु भी शुद्ध दान है या नहीं अर्थात् वह दान उचित तरीके से प्राप्त करके ही दिया गया हो, क्योंकि गलत तरीके से प्राप्त करके दिया गया दान दोषयुक्त होता है। उसका सभी दोष प्रतिग्रहाता को ही दूषित करता है। इन सब की जांच-परख करके ही दान स्वीकार करना चाहिये।

ब्राह्मण के अध्ययन कर्म के संबंध में अध्ययन को नित्य कर्म माना है। अर्थात् जो ब्राह्मण नित्य अध्यायन यानी वेद को न पढ़कर, अन्य शास्त्रों में व्यर्थ ही परिश्रम करता है, वह तो जीते जी, कुटुम्ब सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है।[२]

आचार्य माधव का आशय है कि अध्ययन के लिए सर्वप्रथम वेद विधि को अपनाना चाहिये। तथा अध्ययन से पूर्व संध्या वंदन आदि के पश्चात् पिता, गुरु इत्यादि के द्वारा ही शिष्य को विधि के अर्थ को जानना चाहिए। पिता गुरु आदि के अनियमित तथा असंयमित हो जाने पर दोष उनका ही होता है। शिष्य या ब्रह्मचारी के मन्द बुद्धि या अप्रबुद्धत्व का दोष नहीं होगा।

शिष्य के कर्तव्य

अध्ययन के समय शिष्य के क्या कर्तव्य होने चाहिये। उन कर्तव्यों के संबंध में आचार्य माधव ने स्मृतिकार याज्ञवल्क्य को स्मरण किया है। तब ब्राह्मण शिष्य को 'मैं अमुक हूं' ऐसा कहते हुये श्रेष्ठ व्यक्तियों को नमस्कार करना चाहिये।

---

१. मनुस्मृति—७६.१०
ष्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजना अध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रहः॥

२. वसिष्ठ स्मृति—१०४
यो अनधीत्य द्विजोवेदान् अन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमासु गच्छति सान्वयः॥

तत्पश्चात् अध्ययन के निमित्त दत्तचित्त होकर गुरु की परिचर्या करे। गुरु द्वारा बुलाये जाने पर अध्ययन कार्य करे तथा जो कुछ भी (भिक्षा से) प्राप्त हो, वह सब उसको अर्पित करे। साथ मन, वाणी, शरीर तथा कर्मों द्वारा उसके अनुकूल आचरण करे।[१]

वेदाध्ययन के महत्व को स्पष्ट करते हुये आचार्य ने क्रमशः विष्णुपुराण, कूर्म-पुराण तथा वसिष्ठ स्मृति के उद्धरणों द्वारा समझाया है कि वेदाध्ययन करने वाले ब्राह्मण शिष्ट एवं आदरणीय होते हैं। इस संबंध में वसिष्ठ स्मृति का मत है—परम्परा से अंगों सहित समृद्ध वेद का अध्ययन-अध्यापन जिनको होता है वही श्रुति में प्रत्यक्ष हेतु वाले शिष्ट ब्राह्मण कहलाते हैं।[२]

शाखा का महत्व

जो शिष्य अपनी शाखा का परित्याग कर, अन्य शाखा का अनुसरण करता है, उसके सभी अच्छे कर्म व्यर्थ हो जाते हैं और वह शूद्र के समान हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपनी शाखा से विमुक्त वह ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान को नहीं पाता तथा नित्य ही अपमानित किया जाता है।[३]

उपर्युक्त विषय के समर्थन में आचार्य माधव ने बृहस्पति स्मृति के मत की प्रशंसा की है। क्योंकि जिस प्रकार वेद का अध्ययन आवश्यक है उसी प्रकार धर्मशास्त्र आदि स्मृति-ग्रन्थों का ज्ञान भी परम आवश्यक है। जैसे पिता दण्ड आदि

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—२६,२७.१
गुरुन् चैवपि उपासीत् स्वाध्यायार्थ समाहितः।
आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत्॥
हितं चास्यास्य चरेत् नित्यं मनो वाकाय-कर्मभिः॥

२. वसिष्ठ स्मृति—२०४
पारम्पर्यागतोयेषां वेदः स-परिबृंहणः।
तच्छाखं कम्भकुर्वीत् तत् शाखा अध्ययनं तथा॥

३. वसिष्ठ-स्मृति—पराशर-माधवीय, भाग-१, पृ.सं. १४२
यः शाखा परित्यज्य पारक्यमधिगच्छति।
स शूद्रवत् हि कार्यः सर्वं कर्मसु साधुभिः॥
स्वीया शाखोजझिता येन ब्रह्म तेनोजझितं परम्।
ब्रह्मैव स विज्ञेयः सद्भिः नित्यं विगर्हितः॥

उपायों के प्रयोग से पुत्र को संस्कार युक्त बनाता है वैसे ही शिष्य को वेद पढ़ने के उपरान्त मनु, याज्ञवल्क्य एवं पराशर आदि के स्मृति ग्रन्थों को भी अवश्य पढ़ाना चाहिये। क्योंकि वेद (श्रुति) सुने गये हैं जबकि स्मृतियां उनका मूल हैं जो स्मरण किये जानेपर भी वेद का आधार हैं। अतएव चारों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद को पढ़ करके भी जिस (ब्राह्मण) शिष्य ने स्मृति ग्रन्थों को नहीं जाना। वह सभा में ऐसे शोभा नहीं पाता जैसे चन्द्रमा के अभाव में (न रहने पर) रात्रि सुन्दर नहीं लगती।[१]

यजन-याजन[२]

ब्राह्मण के षट्कर्मों में द्वितीय स्थान पर यजन-याजन आता है। यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना ये दोनों ही ब्राह्मण के कर्मों में आते हैं। यज्ञ करना ब्राह्मण का कर्तव्य है जबकि अध्यवसाय की दृष्टि से याजन उसकी वृत्ति है। जिसे आजीविका भी कहा जाता है। अब जानना यह भी आवश्यक है कि यज्ञ करने का क्या तात्पर्य है? तथा उसके करने से क्या लाभ है? तथा इन सभी का ब्राह्मण के जीवन में क्या महत्व है।

आचार्य माधव ने पूर्वोक्त आशय को गीता के श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है। प्रथम तो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार हेतु ये सभी अनिवार्य कर्म हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में यज्ञ के महत्व को बताया है। प्रजापति ब्रह्मा ने सर्वप्रथम प्रजा को उत्पन्न किया, उस सारी प्रजा ने मिलकर यज्ञ किया। वह यज्ञ कामधेनु (गाय) की भांति सभी इच्छाओं की पूर्ति करने वाला होता है। उस यज्ञ के विधान से देवता संतुष्ट होते हैं और देवताओं के तुष्ट होने से यज्ञकर्ता भी संतुष्ट होते हैं। तब सब आपस में मिलकर कल्याण एवं निःश्रेयस की प्राप्ति करते हैं। यज्ञ से प्राप्त

---

१. बृहस्पति-स्मृति—पराशर-माधवीय, भाग-१, पृ.सं. १४३
एवं दण्डादिकेयुक्तं संस्कृत्य तनयं पिता।
वेदं अध्यापयेत् पश्चात् शास्त्रं मन्वादिके यथा॥

२. ब्राह्मणोवेद-मूलः-स्यात् श्रुति-स्मृत्योः समः स्मृतः।
सदाचारस्य च तथा ज्ञेयं ऐतन्त्रिकं सदा॥
अधीत्य चतुरोवेदान् साङ्गोपाङ्ग-पद-क्रमान्।
स्मृतिहीनाः न शोभन्ते चन्द्र-ही नेव सर्वरी॥

इन प्रिय फलों को जो बांटकर नहीं भोगते उनका यज्ञ व्यर्थ होता है। जो उसका भाग देवताओं को अर्पित नहीं करता, वह चोर होता है।[१]

यज्ञ के प्रकार

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यज्ञ को तीन प्रकार माना गया है—

१. सात्विक यज्ञ, २. राजसिक यज्ञ, ३. तामसिक यज्ञ।

इन तीनों के भेद बताते हुये स्पष्ट किया है कि जो यज्ञ फल की आकांक्षा किये बिना ही विधिपूर्वक मन को संयमित करके अर्थात् समाहित चित्त से युक्त होकर सम्पन्न किया जाता है वह सात्विक वृत्ति वाला (यज्ञ) होता है। तथा इसके विपरीत जो यज्ञ फल के प्रति रुचि (या आसक्त भाव) से तथा घमण्ड की भावना से युक्त होकर किया जाता है वह राजसम् यज्ञ माना जाता है। और जो यज्ञ विधि के अभाव में बचे हुए अन्न से बिना मन्त्रोच्चारण से तथा अश्रद्धाभाव से युक्त होकर सम्पन्न किया जाता है उसे तामस् (वृत्ति वाला) यज्ञ कहा गया है।[२]

इसी संदर्भ में आचार्य माधव ने देवल के मत को भी यहां उद्धृत किया है। देवल ने भी यज्ञ के महत्व को स्वीकार किया है तथा उसके समर्थन में कहा है कि यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को यज्ञ करने का महान् फल मिलता है। जैसे महानयज्ञ

---

१. गीता—१०,१२,१२.३
सह-यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजा-पतिः।
अनेन प्रसबिध्वमेष वो स्लिवष्ट काम-धुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवाभावयन्तु वः।
परस्परम् भावयन्तः श्रेय परम वापि अथ॥
इष्टान् भोगान् हि वादेवादास्यन्ते यज्ञ-भाविता।
तैर्दत्तान् प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

२. गीता—११.१७
अ-फलाकांक्षिभियज्ञोविधि-दृष्टोइज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विक॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठः तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्र-ही नमदक्षिणम्।
श्रद्धा-विरहितं यज्ञं तामस परिचक्षते॥

करने से फल मिलता है ऐसे ही केवल सामान्य रूप से यज्ञ करने पर महान यज्ञ के फल के समान फल मिलता है । अर्थात् जो फल 'अश्वमेघ यज्ञ' एवं 'राजसूय यज्ञ' के करने पर मिलता है ठीक वैसा ही फल उसे 'पौण्ड्रीक यज्ञ' तथा 'गो सेवा यज्ञ' के करने से मिलेगा । प्रथम दो 'अश्वमेघ यज्ञ' तथा 'राजसूय यज्ञ' चक्रवर्ती राजाओं द्वारा ही किये जाते थे। इन्हें सामान्य व्यक्ति नहीं करता था तथा द्वितीय दो 'पौण्ड्रीकयज्ञ' एवं 'गो सेवा यज्ञ' आम यज्ञ थे जिन्हें कोई भी कर सकता था । ये सभी प्रकार के यज्ञ भी नित्य यज्ञ, नैमित्तिक यज्ञ एवं काम्य यज्ञ भेद से तीन प्रकार के माने गये हैं ।[१]

यज्ञ का महत्व

आचार्य माधव ने यज्ञ की प्रशंसा का प्रतिपादन किया है । द्विजाति (ब्राह्मण) को यज्ञ का लाभ मिलता है । अर्थात् किस प्रेरणा के निमित्त यजमान यज्ञ करता है । इसके संबंध में स्पष्ट किया है । यज्ञ के द्वारा सभी लोक विमल कान्ति से चमक जाते हैं, उस यज्ञ द्वारा देवता भी अमृत का पान करते हैं । यज्ञ करने से ही मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं तथा यज्ञ के द्वारा भी लोकों में मनुष्य अमर लोक अर्थात् विष्णु के पद को प्राप्त करते हैं । अतएव यज्ञ के अभाव में लोक न कान्तियुक्त रहते हैं अपितु उनका शुभ नहीं होता है ।[२]

स्मृति ग्रन्थों में सामान्य रूप से ब्रह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इस त्रिवर्ग के षट्कर्मों का विधान था । जिनमें यज्ञ करना प्रत्येक वर्ग के लिये अनिवार्य कर्म माना गया था तथा शूद्रों के लिये पाकयज्ञों का विधान किया गया था । यज्ञ को प्रजा का

---

१. देवल-पराशर माधव से उद्धृत पृ,
'अश्वमेघ-राजसूय-पौण्ड्रीक-गो सेवादयो महायज्ञाः क्रतव इति ।
एते सर्वे यज्ञाः यथायोगं नित्यं-नैमित्तिक-काम्य-भेदेन त्रिविधाः ॥'

२. हारीत स्मृति—४५, ४६, ४७/४
यज्ञेन लोकाविमलाविभान्ति ।
यज्ञेन देवा अमृतत्वमाप्नुवन् ॥
यज्ञेन पापेबहभिर्विभुक्तः ।
प्राप्नोति लोकानमरस्य विष्णो ॥
नास्त्ययज्ञस्य लोको वे नायज्ञोविन्दते शुभम् ।
अनिष्ट-यज्ञो पूतात्मा भ्रश्यति छिन्न पर्णवत् ॥

रसविता तथा इष्ट कामधुक् माना गया है ।[१] प्रजापति के समान यज्ञ को प्रजा का रक्षक माना गया । क्योंकि अनावृष्टि के समय वह वर्षा का कारण बनता है । उस यज्ञ के सम्पादन के फलस्वरूप ही मेघ उत्पन्न होकर वर्षा करते हैं ।

यज्ञ के लाभ

यज्ञों को मनुष्य का पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि सभी यज्ञ मनुष्य को पौरुष से ही सम्पन्न होते हैं । अर्थत् यज्ञ करना ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों में से एक है । जिसे मीमांसा ने कर्मकाण्ड का नाम दिया है । यजन के अतिरिक्त याजन कर्म के सम्पादन करने से ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के द्रव्यों अर्थात् दक्षिणा में प्राप्त वस्तुओं का अर्जन कर लेता है ।

इस प्रकार यज्ञों में दी गयी दक्षिणा से लोक का कल्याण होता था । तथा याजन कर्म द्वारा यज्ञकर्ता अथवा यजमान ऋषि महर्षियों, गृहमेधी स्नातकों, तपस्वियों, ब्रह्मचारियों और अन्य ब्राह्मणों को सामर्थ्यानुसार दक्षिणा देता था । इसीलिए दक्षिणा विहीन यज्ञ के सम्पादन का निषेध किया गया था ।

यज्ञ में समस्त वर्णों की तृप्ति होती थी, क्योंकि इसमें ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त म्लेच्छ आदि भी आमन्त्रित किये जाते थे । भोजन और गोदान द्वारा एक ओर तो लोगों को संकटकाल में अन्न मिलता था और दूसरी ओर गोपालन के विस्तार के कारण राष्ट्र समृद्ध होता था ।[२]

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी गोदान की प्रशंसा की गई है । एक हृष्ट-पुष्ट गाय के दान करने पर यजमान को स्वर्ग मिलता है तथा वह स्वर्ग में विन्दनीय होता है ।[३]

---

१. महाभारत, सभापर्व—३०.१८,१९
यज्ञाय सृष्टानि धनानि यात्रा यष्टादिष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात्सर्व यज्ञ एवोपयोज्यं धनं ततो नन्तर एव कामः ।

२. महाभारत—(शान्ति पर्व), २९,१०४
यः स वर्षशतं राजाहुतशिष्टाशनो भवत् ।
वही (शान्तिपर्व) २९.१२०
तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमुष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपभूयिष्ठमश्नी ध्वं नाथं मांसं यथा पुरा ॥

३. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२०८
यथाकथंचित कत्वा गां धेनु वा धेनमेव च ।
अरोगामपरिविलष्टां दाता स्वर्गे महीयते ॥

आचार्य माधव ने अध्यापन एवं याजन को ब्राह्मण का धर्म नहीं अपितु उसकी आजीविका माना है। क्योंकि द्रव्यार्जन उसकी कामना से जुड़ा हुआ है। याजन के संबंध में मार्कम्डेय पुराण में आया है कि ये तीनों धर्म अध्यापन, याजन एवं प्रतिग्रह ब्राह्मण को शुद्धभाव से जीवन में धारण करने चाहिये क्योंकि यही उसकी आजीविका के साधन हैं। साथ में ही उसके धर्म अधर्म के कारण भी हैं। क्योंकि धर्म लब्ध धन यज्ञ के माध्यम से ही वितरित होता है।[१]

यज्ञ में दक्षिणा स्वरूप अन्न देने के कारण अन्नदाता को प्राणदाता कहते थे तथा यज्ञ में दक्षिणा के माध्यम से प्रजाजनों में संगृहीत रत्नों को भी वितरित किया जाता था।[२]

यज्ञ सम्पादन के तीन अंश माने जाते थे—सर्वप्रथम यज्ञ में हवि प्रदान करना, दूसरा दक्षिणा का था तथा तीसरा भक्ष्य भोजन का वितरण। इन तीनों के योग से यज्ञ सम्पन्न होता था तथा इन्हीं साधनों के अभाव में यज्ञ की कल्पना भी व्यर्थ है। अत: पुण्य फल के कारक होने के कारण दैवी विपत्तियों के समय राजाओं से बड़े-बड़े यज्ञों की आशा की जाती थी। राजसूय एवं अश्वमेघ जैसे यज्ञ भी जनकल्याम सहित राष्ट्र की प्रसिद्धि के प्रतीक माने जाते थे। अत: संचित धन को शुभ व धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान में लगाना सामाजिक दृष्टि से कल्याणप्रद था।

दान

ब्राह्मण के धर्मों में याजन के पश्चात् दान देना एवं दान लेना अथवा प्रतिग्रह आदि भी मुख्य कर्म हैं। महर्षि मनु के अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुगों में धार्मिक जीवन के प्रमुख रूप क्रमश: तप, आध्यात्मिक ज्ञान, यज्ञ एवं दान हैं। इसीलिये मनु ने गृहस्थाश्रम को सर्वोच्च माना है कि गृहस्थी मनुष्य ही दान करने

---

१. मार्कण्डेय पुराण—२५.४
याजनाध्यापने शुद्धे तथा शुद्ध प्रतिग्रहः।
एषा सम्यक् समाख्याता त्रितयं तस्य जीविका॥

२. महाभारत (सभापर्व), १२.२५
स रत्नानि विचित्रानि संभृतानि ततस्ततः।
मरवेष्वनभिसंत्यस्य नास्तिक्यमभिजल्पसि॥

में समर्थ होता है तथा अन्य आश्रमों में से यह श्रेष्ठ है, क्योंकि इसी के द्वारा अन्य आश्रमों के लोगों का परिपालन होता है ।[१]

इसी प्रकार स्मृतिकार पराशर ने भी कलियुग में मनुष्यों का पालनीय धर्म के रूप में दान को प्रमुखता दी है क्योंकि कृतयुग में तप की प्रधानता थी, त्रेतायुग में अध्यात्म ज्ञान की प्रधानता रही, द्वापर युग में भी यज्ञ की प्रधानता थी तथा कलियुग में दान की प्रबलता बताई है ।[२] दोनों स्मृतिकारों का मन्तव्य यह नहीं है कि अन्य युग में तप, ज्ञान, यज्ञ आदि का अभाव था अपितु जिस युग में जो धर्म सर्वोपरि रहा होगा, उसकी प्रधानता स्वीकार की गई है ।

यज्ञों में दक्षिणा के अतिरिक्त दान भी दिया जाता था तथा बिना यज्ञ के भी दिये गये धन को दान शब्द से अभिहित किया जाता था । मानव का पुरुषार्थ यही था कि भरपूर धनोपार्जन किया जाये और सत्पात्रों में उसका दान किया जाये ।

दान का अर्थ प्राचीन काल में ही स्पष्ट कर दिया गया था । दान का तात्पर्य है किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना देना अर्थात् दान को याग एवं होम से पृथक् माना गया है क्योंकि याग में देवता के लिए वैदिक मन्त्रों के साथ कुछ वस्तुओं का त्याग किया जाता है, होम में अपनी किसी वस्तु की आहुति किसी देवता के लिए अग्नि में दी जाती है । अतः इस प्रकार से याग, होम एवं दान में अन्तर स्पष्ट हो जाता है ।[३]

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा का कहना है कि दान लेने की स्वीकृति मानसिक, वाचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है ।[४] क्योंकि शारीरिक

---

१. मनुस्मृति—१८६
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञान मुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेकं कलो युगे ॥

२. पराशर स्मृति—१.२३
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेव कलो युगे ॥

३. महाभारत (शा. पर्व), २३.११ द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रेषु प्रतिपादनम् ।

४. जैमिनि—७.१.५ स्वत्वनिवृत्ति : परस्वत्वापादनं च दानम् ।

स्वीकृति भी एक हाथ में ले लेने या छू देने से हो जाती है ।[१] इसके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं बृहत्पराशर स्मृति में दान लेने की विधियों का विशद वर्णन किया गया है ।

प्रतिग्रह (दान लेना)

धर्मशास्त्र में 'प्रतिग्रह' शब्द का विशिष्ट अर्थ होता है । मनुस्मृति के टीकाकर मेदातिथि का कथन है—'ग्रहण मात्र प्रतिग्रह नहीं है । उसी को प्रतिग्रह कहते हैं जो विशिष्ट स्वीकृति का परिचायक हो । अर्थात् जब उसे स्वीकार किया जाये तथा दाता को अदृष्ट आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो और जिसे देते समय वैदिक मन्त्र भी पढ़े जायें । प्राय: स्मृतिकारों के अनुसार भिक्षा में तथा दान में अन्तर होता है । जब कोई भिक्षा देता है तब वह कोई मन्त्रोच्चारण नहीं करता, अत: वह शास्त्र की दृष्टि से दान नहीं है और न स्नेहवश मित्र या नौकर को दिया गया पदार्थ ही प्रतिग्रह होता है ।[२]

इसी प्रकार जब 'विद्या दान' शब्द का प्रयोग होता है तो यहां 'दान' शब्द मात्र आलंकारिक अर्थ में प्रयुक्त है । नहीं तो गुरु को शिष्य के लिए दक्षिणा देनी पड़ जायेगी, किन्तु ऐसी बात युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वास्तव में शिष्य ही गुरु को दक्षिणा देता है । इसी प्रकार जब किसी मूर्ति को दान दिया जाता है तो वहां भी 'दान' शब्द का प्रयोग अर्थ में है, क्योंकि वास्तव में मूर्ति कोई दान ग्रहण नहीं करती ।[३]

महर्षि देवल ने 'दान' की परिभाषा की है—'शास्त्र द्वारा उचित माने गये व्यक्ति के लिए, शास्त्रानुमोदित विधि से दिये जाने वाले धन को दान कहा जाता

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—२.२७
आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् ।
आगमोऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥
मिताक्षरा टीका—पृ. १५४ स्वीकारश्च त्रिविधः—मानसः, वाचिकः, कायक्षेति ।

२. मनुस्मृति की मेधातिथि व्याख्या—पृ. ४/५
नैव ग्रहणमात्रं परिग्रहः । विशिष्ट एव स्वीकारे प्रतिपूर्वो गृहातिवर्तते । अदृष्टबुद्धया दीयमानं मन्त्रपूर्वं गृह्यातःप्रतिग्रहो भवति । न च भैक्ष्ये देवस्य त्वादिमन्त्रोच्चारणमस्ति । न च प्रीत्यादिना दानग्रहणे न च तत्र प्रतिग्रह व्यवहारः ।

३. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ४४९

है अर्थात् जब किसी व्यक्ति को केवल अपना कर्तव्य समझकर कुछ दिया जाता है तो उसे धर्मदान कहा जाता है।[१]

दान धर्म की सर्वभूतों में प्रशंसा होती है, दान सेवा कोई असम्भव कार्य नहीं है क्योंकि दान में देवता निवास करते हैं। ऋग्वेद में तीन स्थानों पर (१०.१०७.२,७) आया है—जो गायों अथवा दक्षिणा का दान करता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करता है, जो अश्व दान करता है वह सूर्य-लोक में निवास करता है और जो स्वर्ग का दानी है वह देवता होता है, जो परिधान का दान करता है वह दीर्घ जीवन का लाभ करता है।

आदित्य पुराण के अनुसार दान का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—भुवन-त्रय में दान से बढ़कर कुछ भी नहीं है। दान देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होती है। दान से शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है तथा दान से बीमारी दूर हो जाती है। दान से विद्या लाभ होता है तथा मोक्ष मिलता है।[२]

दान का अधिकारी

स्मृति-ग्रन्थों में दान विधि को विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है। परन्तु अपात्र अथवा अयोग्य व्यक्ति को दान देने का निषेध किया गया है।[३] जहां धनी व्यक्तियों एवं राजा द्वारा धनार्थियों को दान दिया जाता था, वहां गुरुकुलों और शिक्षा-संस्थानों को चलाने वाले गुरुओं को अनुदान भी दिये जाते थे।

---

१. पराशर माधव—देवल, पृ. १६६
अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते॥

२. आदित्य-पुराण—पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १६४
न दानादधिकं किञ्चित् दृश्यते भुवन-त्रये।
दानेन प्राप्यते स्वर्गः श्रीदार्नेनैव लभ्यते॥
दानेन शत्रून् जयति व्याधिदानेन नश्यति।
दानेन लभ्यते विद्या दानेन युवती जनः॥
धर्म्मार्थ-काम-मोक्षाणां साधनं परमं स्मृतम्।

३. गीता—२६.३९
लब्धानांमपि क्तानां बोध्व्यो द्वावतिक्रमो।
अपात्रे प्रतिपतिश्च पात्रे प्रतिपादनम्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण को अपने योगक्षेम अथवा जीविका एवं रक्षण के लिए राजा या धनिक जन के पास जाने का विधान किया गया था ।[१]

मनुस्मृति का मत है कि क्षुधापीड़ीत होने पर विप्र को राजा या अपने शिष्य या फिर सुपात्र के यहां जाना चाहिये ।[२] यदि उपर्युक्त तीन प्रकार के राजा, शिष्य या इच्छुक सुपात्र दानी न मिलें तो अन्य योग्य द्विजातियों के पास जाना चाहिये ।[३]

यदि यह भी सम्भव न हो, तब ब्राह्मण किसी से भी यहां तक कि शूद्र से भी दान ले सकता ।[४] किन्तु शूद्र से दान लेकर यज्ञ या अग्निहोत्र नहीं करना चाहिए, नहीं तो आगामी जन्म में वह चाण्डाल होगा ।[५] आचार्य माधव ने याज्ञवल्क्य के अनुसार दान के पात्र के सम्बन्ध में निश्चय किया है कि दान किसी योग्य (अधिकारी) व्यक्ति को, जो विद्या धर्म एवं शील युक्त हो देना चाहिये । याचना करने पर भी उसकी (परीक्षा करके) ही श्रद्धा से सामर्थ्यानुसार दानें देना ही ठीक होता है । इसके अतिरिक्त योग्य व्यक्ति को विधिपूर्वक अर्चना करके, अपने सम्पूर्ण फल की इच्छा वाले तथा (योग्य, अयोग्य का ज्ञान रखने वाले) विद्वान ब्राह्मण को

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.१००
उपैयात् ईश्वरं चैव योगक्षेमार्थ सिद्धये ।
स्नात्वा देवान्पितृंश्चैव तपयेदचयेतथा ॥

२. मनुस्मृति—४.३३
राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत् इति स्थिति ॥

३. गौतम स्मृति—१७.१,२
प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणों भुञ्जीत प्रगृहीयात्...

४. मनुस्मृति—१०.१०२,१०३
सर्वतः प्रतिगृहीयात् ब्राह्मण स्वतनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हिते ॥

५. वही—११.२४
न यज्ञार्थ धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेतकर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥

अपात्र क्षत्रिय, वैश्य आदि तथा पतित ब्राह्मण को अल्प दान भी नहीं करना चाहिए।[१]

दान के योग्य एवं अयोग्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में सभी स्मृतिग्रन्थों में भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। कहीं राजा की प्राथमिकता, कहीं विद्वान धर्म युक्त विप्र की यहां तक की स्मृतिकार मनु ने तो शूद्र को भी योग्य पात्र माना है। अपितु दक्ष स्मृति का मत इन सभी मतों से सर्वथा अलग है। स्मृतिकार दक्ष ने कहा है—माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र, असहाय, विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है, किन्तु धूर्तों, बन्दियों, मल्लों, कुवैद्यों, जुआरियों, वंचकों, चाटों, चारणों एवं चोरों को दिया गया दान निष्फल होता है।[२]

मनु के अनुसार कपटी एवं वेद न जानने वाले ब्राह्मण को दान का पात्र नहीं मांना गया है।[३]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने पात्र की योग्यता के मापदम्ड को तय किया है कि न केवल श्रुताद्ययन आदि से अथवा न केवल शम-दमादि तपस्या से ही कोई व्यक्ति सुपात्र नहीं होता है। अपितु जिस व्यक्ति के आचरण में विद्या और तपस्या दोनों का समन्वय हो वही (व्यक्ति) श्रेष्ठ पात्र होता है।[४] यदि कोई व्यक्ति विद्या

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२०३,२०१
दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः।
याचितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं स्वशक्तितः॥
नापात्रे विदुषा किंचिदात्मनः श्रेय इच्छता॥

२. दक्ष स्मृति—३.१५.१६
मातापित्रोर्गुरो मित्रे विनीते चोपकारिणि।
दीनानाथ विशिष्टेभ्योदत्तन्तु सफलं भवेत्॥
धूर्ते वन्दिनि मन्दे च कुवैद्ये कितवे शठे।
चाटु चारण चौरभ्योदत्तं भवति निष्फलम्॥

३. मनुस्मति—४.१९३
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यजितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय पात्रदातुरेव च॥

४. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२००,२०२
न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृतमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥

सम्पन्न हो और तपस्वी न हो, तो उसे दान नहीं लेना चाहिए। यदि वह ऐसा व्यक्ति दान स्वीकार करता है तो वह अपने को और यजमान (दाता) को भी नरकगामी बनाता है।[१]

दान देना श्रद्धा के साथ

दान देना तभी पूर्ण एवं सफल माना जाता है जब वह दान श्रद्धा एवं निष्ठा से युक्त होकर आदर के साथ दिया जाये, अन्यथा वह दान निष्फल ही होता है, उसका दाता को कोई फल नहीं मिलता है। अर्थात् श्रद्धाभाव दान का एक आवश्यक अंग है। इसके अभाव में दान देने वाले तथा दान लेने वाले व्यक्ति नरक में ही जाते हैं।

महर्षि मनु का मत है—जब किसी सच्चे प्रार्थी को देखते ही जिसके मुख पर सुख की लहरें उत्पन्न हो जाती हैं और जो प्रेमपूर्वक एवं सम्मान के साथ देता है, वह वास्तविक श्रद्धा की अभिव्यक्ति करता है। आदर से देने वाले एवं आदर से लेने वाले स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[२]

स्मृतिकार देवल ने दान के विषय में श्रद्धा एवं निष्ठा तथा भक्ति भाव को आवश्यक माना है। अपितु दान की मात्रा चाहे थोड़ी हो या अधिक हो यदि वह दान आदर सम्मानपूर्वक नहीं दिया जाता तो ऐसा 'दान' दान नहीं कहलाता।[३]

दान की वस्तुयें

दान का देय अर्थात् दान में दिए जाने वाले पदार्थ एवं उपकरण ही दान का 'देय' कहे जाते हैं। अनुशासन पर्व के अनुसार संसार के सर्वश्रेष्ठ प्यारे पंदार्थ तथा

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२०२
विद्यात् तपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।
गृहन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेवच्च॥

२. मनुस्मृति—४.२२५
योऽचितं प्रतिगृह्याति ददात्यचितमेव च।
तावुमो गच्छतः स्वर्ग नरकं तु विपर्यये॥

३. पराशर—माधव—देवल, पृ. १६६
अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
नाल्पत्वं वा बहुलत्वं वा दानस्याभ्युदयावहम्।
श्रद्धा भक्तिश्च दानानां वृद्धि श्रेयस्करे हिते॥

जिसे व्यक्ति बहुत मूल्यवान् समझता है उसका गुणवान व्यकित को दिया जाना अक्षय गुण एवं पुण्य देने वाला दान कहा जाता है ।[१]

महर्षि देवल के मत में वह वस्तु देय है जिसे दाता ने बिना किसी को सताये, क्लेश रहित एवं किसी को दु:ख दिये, स्वयं प्राप्त किया हो, वह वस्तु चाहे छोटी हो या मूल्यवान हो । अंत: दान में देय ही छोटाई अथवा बढ़ाई या उसकी न्यूनता एवं अधिकता पर पुण्य नहीं निर्भर करता, वह तो केवल मनोभाव की अपेक्षा रखता है तथा दाता की समर्थता तथा उसके धनार्जन के ढंग पर निर्भर रहता है ।[२] श्रद्धा से जो कुछ सुपात्र को दिया जाये वही सफल देय कहा गया है । किन्तु श्रद्धा से या कुपात्र को दिया गया दान निष्पल होता है ।

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने गाय, भूमि, तिल, सोना आदि को देय वस्तुयें माना है अर्थात् पात्र व्यक्ति को गाय, भूमि, तिल, सोना आदि विधिपूर्वक दान स्वरूप देना चाहिये ।[३]

स्मृतिकार मनु ने कुछ वस्तुयें ऐसी गिनायी हैं जो देय पदार्थ बिना मांगे दान की श्रेणी में आती हैं । जैसे—कुश, कच्ची तरकारियां, दूध, शय्या, आसन, भुना हुआ जो, जल, मूल्यवान् रत्न, समिधा, फल, कन्दमूल, मधुर भोजन इत्यादि हैं ।[४]

इन देय पदार्थों में कुछ उत्तम, कुछ मध्यम एवं कुछ निकृष्ट माने गये हैं । जो निम्न हैं—

१. उत्तम देय पदार्थ—भोजन, दही, मधु, रक्षा, गाय, भूमि, सोना, अश्व एवं हाथी इत्यादि हैं ।

---

१. महाभारत (अनुशासन पर्व) ५०.७

२. देवल, अपरार्क टीका से उद्धृत, पृ. २९०
अन्यायाधिगतां दत्वा सकलां पृथिवीमपि। श्रद्धावर्जमपात्राय न कांचिद भूतिमाप्नुयात्॥ प्रदाय शाकमुष्टिं वा श्रद्धा भक्तिसमुद्यात्। महते पात्रभूताय सर्वाभ्युदयमाप्नुयात् ॥

३. याज्ञवल्क्य—१.२०१
गो-भू-तिल-हिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम् ।

४. मनुस्मृति—४.२५०
शय्या गृहान्कुशान्गन्धानप: पुष्पं मणीन् दधि ।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निनुदेत् ॥

२. मध्यम देय पदार्थ—विद्या, आश्रय गृह, घरेलू उपकरण, (पलंग बरतन आदि) औषधें आदि मानी गई हैं।

३. निकृष्ट देय वस्तुयें—जूते, हिंडोले, गडियां, छत्र या छाता, बरतन, आसन, दीपक, लकड़ी, फल तथा अन्य जीर्ण-शीर्ण वस्तुयें इत्यादि अधम देय माने गये हैं।[१]

तीन प्रकार के देय द्रव्य सर्वोत्तम देय कहे गये हैं, यथा गाय, भूमि एवं सरस्वती अर्थात् विद्या दान। इन्हें अतिदान भी कहा गया है। बृहस्पति, स्मृति में आया है कि ये तीनों प्रकार के दान दाता को सब पापों से मुक्त करा देते हैं। अर्थात् गाय, भूमि एवं विद्या इत्यादि अतिदान हैं।[२] महर्षि मनु, महर्षि वसिष्ठ एवं महर्षि याज्ञवल्क्य इत्यादि के अनुसार विद्या सर्वश्रेष्ठ देय है। अर्थात् यह जल, भोजन, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, सोने एवं मधु से श्रेष्ठ देय है।[३] किन्तु अनुशासन पर्व की दृष्टि से भूमि का दान सर्वश्रेष्ठ दान है।[४] कुछ पदार्थों का दान महादान कहा जाता है। अग्नि पुराण के अनुसार दस महादान निम्न हैं—सोने, अश्वों, तिल, हाथियों, दासियों, रथों, भूमि, घर, दुलहिन एवं कपिला गाय का दान।[५]

---

१. देवल—पराशर माधव से उद्धृत, पृ. १७०
अन्न-विद्या-वधू-वस्त्र-गो-भू-समाश्चा-हस्तिनाम्।
दानान्युत्तमदानानि उत्तम द्रव्य-दानतः।
विद्यादाच्छादनं वासः परिभोगोषधानि च।
दीप काष्ठ-फलादीनि चरम बहुल-वार्षिकम्।.
उपानत्-प्रेष्य-यानानि छत्र पात्रासनानि च।
बहत्वादर्थ-जातानां सङ्ख्या शेषेणु नेष्यते॥

२. बृहस्पति स्मृति—१८
त्रीन्याहुरति दानानि गावः पृथ्वी सरस्वती।
तारयन्ति हि दातारं सर्वाहपापाद संशयम्॥

३. मनुस्मृति—४.२३३ सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

४. महाभारत (अनुशासन पर्व) ६१८९
मास्ति भूमिसमं दानं नास्तिमातृसमो गुरुः।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दान समो निधिः॥

५. अग्नि पुराण—अध्याय २०९
नानादानानि—गोसहस्र दानतः सोवर्णप्रासादादिस्थगन्धर्वैः स्तूयमानह्वकथनम्॥
गृहमठसभादीनां नानाविधानि दानानि तत्फलम्। गजाश्वादिनाम् अन्नदानमहिमा।

दान के प्रकार

सर्वप्रथम करुणावश जो दान दिया जाता है वह अक्षय फलदायक होता है। अत: यह दान अन्य छः प्रकार के दानों में विशेष दान माना जाता है।

इन छः प्रकार के दानों के नाम निम्नलिखित हैं—

१. विशेष दान—दया या करुणा करके दिया गया दान।

२. नित्य दान—प्रतिदिन वेश्वदेवादि की पूजा के भोजन स्वरूप दान।

३. नैमित्तिक दान—किसी विशेष निमित्त पूर्वक दिया जाने वाला दान।

४. काम्य दान—किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर किया गया दान।

५. ध्रुवदान—जिसका फल कभी नष्ट न हो, वह ध्रुव दान है।

६. नैवेशिक दान—निवेश की तरह से स्थिर रहने वाला दान।

महर्षि देवल के अनुसार जो दान दयावश किया जाता है, वह विशेष दान कहा जाता है और जो दान प्रतिदिन किया जाये वह नित्य दान है। किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर किया जाने वाला दान नैमित्तिक दान है। जो दान कामना या इच्छा के निमित्त से किया जाये वह काम्य दान कहलाता है। जैसे सन्तानोत्पत्ति, विजय, स्मृद्धि, स्वर्ग या पत्नी आदि। जो दान जन कल्याणार्थ सदा के लिये किया जाता है जैसे—वाटिका, कूप, प्याऊ इत्यादि समर्पण के भाव से किया जाने वाला ध्रुवदान होता है। जो दान अक्षय फल प्रदान करने वाला हो तथा निवेश की भावना से युक्त् होकर किया जाता है ऐसा दान नैवेशिक दान है।[१]

दक्ष स्मृति में नैवेशिक दान को अलग ढंग से बताया गया है। विवाह के लिए ब्राह्मण को तथा उसे पूर्णरूपेण व्यवस्थित करने के लिए जो दान दिया जाता है, वह दान का फल अग्निहोत्र एवं अग्निष्टोम यज्ञ करने से भी नहीं मिलता अर्थात्

---

१. देवल, पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १६९
अनुक्रोशं-वशात् दत्तं दानमक्षयतां व्रजेत् ॥
ध्रुवमाजस्त्रिकं काम्यं नैमित्तिकमिति क्रमात् ।
देविको दानमार्गोऽयं चतुर्धा वर्णयते बुधै ॥
प्रपा, आराम-तडागदि सर्व-काम-फलं ध्रुवम् ॥

एक मातृ पितृ विहीन ब्राह्मण के संस्कार एवं विवाह आदि कराने से जो पुण्य मिलता है, उसके समान कोई फल नहीं मिलता है ।[१]

दान की तिथियां

दान करने के उचित कालों के विषय में बहुत से नियम बने हुए हैं । प्रतिदिन के दान के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट अवसरों के दान की व्यवस्था करते हुए धर्मशास्त्रकारों ने माना है कि प्रतिदिन के दान कर्म से विशिष्ट अवसरों के दान-कर्म अधिक सफल एवं पुण्यप्रद माने गये हैं । महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि अयनों अर्थात् सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन के प्रथम दिन में सूर्य ग्रहण एवं चन्द्रग्रहण षडाऽशीति (छियासीवां दिन का समय या अवधि) सूर्यचन्द्र ग्रहण के समय दान अवश्य देना चाहिये ।[२] क्योंकि इन अवसरों पर किये गये दान अक्षय फलों के दाता माने जाते हैं ।

काणे महोदय ने विभिन्न धर्मशास्त्रों के अनुसार तिथियों का संकेत दिया है—अमावस्या के दिन, तिथिक्षय में, विषुव में, जब दिन-रात बराबर हों एवं व्यतिपात के दिन का दान, सो गुणा फल देने वाला होता है ।[३]

महर्षि सम्वर्त का कहना है कि अयन, विषुव, व्यतिपात, दिनक्षय, द्वादशी, संक्रान्ति को दिया हुआ दान भी अक्षय फल देने वाला होता है ।[४] इसी प्रकार

---

१. दक्ष-स्मृति—३.३०-३१
माता-पितृविहीनन्तु संस्कारोद्वहनादिभिः ।
यः स्थापयति तस्येह पुण्यसंख्या न विद्यते ॥
न तत् श्रेयो अग्निहोत्रेण नाग्निष्टोमेन लभ्यते ।
यच्छेयः प्राप्यते पुंसा विप्रेण स्थापितेन तु ॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२०३ दातव्यं प्रत्यहं पात्रे 'निमित्तेषु विशेषतः' ।

३. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ.४५३

४. सम्वर्त स्मृति—२०८, २०९
सप्तव्याहृतिभिहोमी द्विजैः कार्य्यो हितात्मभिः ।
उपपातकसिद्धयर्थ सहस्रपरिसंख्यया ॥
महापातसंयुक्तो-लक्षहोमं सदा द्विजः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो गायत्र्याश्चैव जापनात् ॥

उपरोक्त दिनों या तिथियों के अतिरिक्त रविवार का दिन स्नान, जप होम, ब्राह्मण भोजन, उपवास एवं दान के लिए महत्वपूर्ण बतलाया है।

दान के अपवाद

सामान्य रूप से दान के नियम विभिन्न स्मृतिकारों ने भिन्न-भिन्न बताये हैं। अपितु कुछ स्मृतिकारों ने इनके अपवाद भी बताये हैं। जैसे कि ग्रहणों, विवाहों, संक्रान्तियों एवं पुत्र रत्न लाभ इत्यादि के अवसर पर विशेष रूप से रात्रि में दान दिये लिये जा सकते हैं। इसी संदर्भ में महर्षि देवल का विचार है कि नैमित्तिक दान रात्रि में भी सम्पन्न किये जा सकते हैं।[१]

व्यास स्मृति में भी इसी मत का समर्थन मिलता है कि वाराणसी, प्रयाग, पुष्कर, गंगा एवं समुद्र तट, त्रिवेणी, कुरुक्षेत्र, गया, अमरकण्टकादि तीर्थों पर दिया गया दान, अनन्त फल दायक होता है।[२]

क्षत्रियों के कर्म

प्राचीन भारतीय परम्परा में ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय वर्ण का स्थान आता है। जहां विद्वत्ता और धर्म-परायणता की दृष्टि से ब्राह्मणों का उच्च स्थान माना जाता था तो वहीं समाज और राष्ट्र की सुरक्षा के कारण क्षत्रियों की भी विशेष महत्ता रही है। सुरक्षा की स्थिति होने पर ही न केवल ब्राह्मणों का, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का अवलम्बन सम्भव है। सामान्यतया क्षत्रिय ब्राह्मण से निम्न थे।

जिस प्रकार से वेद का अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना यह छः कर्म ब्राह्मण के लिए कहे गये हैं। वैसे ही इनमें से वेदों का अध्ययन करना, यज्ञ करना तथा दान देना ही क्षत्रिय के प्रमुख कर्म बताये गये हैं।[३]

---

१. देवल, पराशर-माधव-पृ. १९४
'राहु-दर्शन-संक्रान्ति-यात्राऽऽदो, प्रसवेषु च।
दानं नैमित्तिकं ज्ञेयं रात्रावपि तदिष्यते॥

२. व्यास स्मृति—४.१४
गङ्गाद्वार च केदारं सन्निहत्यां तथैव च।
एतानि सर्वतीर्थानिकृत्वा पापेः प्रमुच्यते॥

३. मनुस्मृति—१.९०
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

अपितु वेदों का अध्यापन कराना, यज्ञ कराना तथा दान ग्रहण, ब्राह्मणों का ही कर्तव्य है। अध्यापन का कार्य केवल ब्राह्मण ही करा सकता है क्योंकि वह शासन तथा व्यापार से अलग रहता है। इसी प्रकार याजन का कार्य भी ब्राह्मण ही करा सकता है, क्योंकि इसमें वेद की विधियों का ज्ञान आवश्यक है। इन विधियों को समझने के लिए काफी समय चाहिए। शासन तथा व्यापार में लगा हुआ व्यक्ति इतना समय नहीं दे सकता, दान ग्रहण भी केवल ब्राह्मण कर सकता है क्योंकि त्यागी को ही प्रतिग्रह की आवश्यकता होती है। वह अन्य कर्म करके धन एकत्रित नहीं करता वह तो अपना सम्पूर्ण समय विद्या तथा साधना में लगा देता है।

किन्तु समाज में सुरक्षा होने पर ही साधना सम्भव हो सकती थी। इसलिए राष्ट्र की सुरक्षा तथा शक्ति की वृद्धि के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्र धारण करना, धन तथा प्रजा की रक्षा करना, दण्ड देना, युद्ध कराना ये सब कर्म क्षत्रिय के लिये बताये गये हैं।[१]

महर्षि पराशर के अनुसार प्रजा का रंजन करने वाला व्यक्ति ही वस्तुतः राजा माना गया है। शान्तिपर्व में क्षत्रिय की परिभाषा की गई है। 'जो मनुष्य युद्ध आदि कार्यों का आश्रय लेता है, वेदों के अध्ययन में संलग्न रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है और प्रजा की रक्षा करता है, वह क्षत्रिय है।[२]

क्षत्रिय वर्ग का मुख्य कर्तव्य समाज और राष्ट्र की सुरक्षा तथा शासन-व्यवस्था को धर्म मार्ग पर प्रतिष्ठित करना था। सुरक्षा के अभाव में न तो वर्ण-व्यवस्था चल सकती है और न ही आश्रम-व्यवस्था। तथा साथ ही अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों में से किसी एक की भी प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती।

सामाजिक दृष्टि से शान्ति और सुव्यवस्था तो उनका कर्तव्य था ही, अत्याचारियों से रक्षा भी उनके धर्म या कर्तव्य का महत्वपूर्ण अंग था। रक्षा का कर्म

---

१. पराशर स्मृति—१.९०
क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्म्मेण पालयेत्॥

२. महाभारत (शा. पर्व) ६०.१८
दानमध्ययनं यज्ञो योगः क्षेमो विधीयते।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता॥

पराक्रम से पूर्ण होता है, भुजाएं पराक्रम की प्रतीक हैं, इसीलिये क्षत्रियों को विराट् पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न अर्थात् भुजाएं माना गया है ।[१]

महाभारत के अनुसार क्षत्रिय धर्म या राजधर्म पर समाज और संस्कृति के अन्य धर्म तथा मूल्य निर्भर करते हैं । जिस प्रकार सारे पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं, उसी प्रकार क्षत्रि धर्म में सभी धर्म समा जाते हैं ।[२] अत: इस प्रकार से क्षत्रिय धर्म महान एवं व्यापक कहा गया है ।

ब्राह्मणों के छ: कर्तव्यों में से अध्ययन, यजन और दान करना क्षत्रियों के लिए भी विहित हैं ।[३] ब्राह्मणों को किसी भी प्रकार की क्षति से बचाने के लिये वे क्षत्रिय कहलाते हैं । यही भाव महाकवि कालिदास ने रघुवंश में प्रकट किया है ।[४]

जहां सामान्य स्थिति में समाज की सुरक्षा और सुव्यवस्था उनका मुख्य कर्तव्य था वहीं युद्ध काल में उन्हें क्षमा, दया, करुणा और सरलता का भाव उनके लिए ग्राह्य नहीं था । अपितु उनका पराक्रम ऐकान्तिक योग के लिए नहीं था, वह पराक्रम युद्ध काल में वीरतापूर्वक शत्रु से लड़ते हुये युद्ध भूमि में मृत्यु का आलिंगन करना था । वही उनकी संद्गति का कारण माना गया है ।[५] इस संबंध में स्मृतिकार पराशर

---

१. ऋग्वेद, पुरुष सूक्त—१०.९०.१२
ब्राह्मणों अस्य मुखमासीद बाहू राजन्य: कृत: ।
अरु तस्य यद्धेश्य: पदभ्यो शूद्रो अजायत ॥
महाभारत (शा. पर्व), ७३.४
बाहुभ्यां क्षत्रिय: सृष्ट अरुभ्यां वैश्य उच्यते ॥

२. महाभारत (शा. पर्व) ६३.२५
यथा राजन्हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वस्तवोदयवानि
एवं धर्मन्राजधर्मेषु सर्वान्सर्वावस्थान्सम्प्रलीनान्निबोध ॥

३. महाभारत (शा. पर्व) १८२.५
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंमत: ।
दानादानरतिर्यश्च स वे क्षत्रिय उच्यते ॥

४. वही—६०.१३
यद्याद्राजा न याचेत यजेत न तु याजयेत् ।

५. रघुवंश, कालिदास, २.५३
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र : क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ: ।
पराशर स्मृति—३.३७

ने क्षत्रिय की वीरता को इस प्रकार बताया है—इस लोक में दो ही मनुष्य सूर्य-मण्डल का भेदन कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाले होते हैं। उनमें एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा वह जो क्षत्रिय युद्ध क्षेत्र में सम्मुख, युद्ध में मृत्यु को प्राप्त करने वाला होता है।

सुसंस्कृत एवं संयत जीवन बिताने वाला क्षत्रिय ही समाज का रक्षक हो सकता था। बिषयों के आसक्त क्षत्रिय संस्कृति का रक्षक नहीं हो सकता। इसलिये जहां उनके संयत जीवन का निर्देश किया गया है, वहीं त्यागपूर्ण भोग की भी उनके लिए व्यवस्था की गई है।[१] अहिंसा में जीवन नहीं चलता, इसलिए क्षत्रियों की कर्म-व्यवस्था में शरीर-वध मात्र को हिंसा नहीं माना गया है।[२]

यह स्पष्ट है कि युद्ध-संलग्न क्षत्रिय योद्धा एवं सैनिक के नैतिक मूल्य सामान्य मानवीय मूल्यों से सर्वथा भिन्न हैं। अर्थात् भिन्न निर्धारित किये गये हैं। अतः युद्ध काल में क्षत्रिय के हृदय को वज्र के सदृश माना गया है।[३] महर्षि पराशर ने कहा है कि युद्ध काल में पीठ ने दिखाने वाले क्षत्रिय योद्धा को महान् यग का फल मिलता है। अतः क्षत्रिय को संग्राम में कमर दिखाने या कायरतापूर्ण व्यवहार करना वर्जनीय बतलाया है।[४] इसलिए वीरत्व का आदर्श क्षत्रिय-धर्म में प्रतिष्ठित किया गया है। युद्ध उसका मुख्य कर्म है, किन्तु युद्ध का उद्देश्य भी धर्मसम्मत होना

द्वाविभो पुरुषां लोके सूर्यमण्डलभेदिनां।
परिव्राड् योग युक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

१. महाभारत (शा. पर्व) १३.३
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवी मनुशासतः।

२. वही—१५.२०
न हि पश्यामि जीवन्तं लोकेकंचिदहिंसया।
सत्वैः सत्वानि जीवन्ति दुर्बलेः बलवत्तराः॥

३. महाभारत (शा. पर्व) २२.९
त्यक्त्वा संतापजं शोके देशितो भव कर्मणि।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंनिभम्॥

४. पराशर स्मृति—३.४०
यस्तु भग्नेषु सेनेषु विद्रवस्तु समन्ततः।
परित्राता यदा गच्छेत् स च क्रतुफलं लभेत्॥

चाहिए ।[१] पराशर स्मृति में भी उस वीर को देवकन्यायें स्वर्ग में ले जाती हैं जिसका शरीर युद्ध-भूमि में शर, मुदगर एवं लाठी आदि द्वारा विनष्ट हो गया हो ।[२] शान्तिकाल में भी दस्युओं एवं आततायियों का वध उनके पराक्रम का एक अंग है ।

क्षत्रिय के लिए त्याग, भिक्षावृत्ति, तप तथा पराश्रयता पर जीवन यापन करना विहित नहीं माना गया ।[३] जबकि राजधर्म में प्रतिष्ठित क्षत्रिय का परम कर्तव्य प्रजा का परिपालन माना जाता था ।[४]

सर्वभूत-परित्राण क्षत्रिधर्म का प्रतीक था तथा आत्म-त्याग, सर्वभूत-दया, लोक-ज्ञान, छुटकारा दिलाना, भरण-पोषण तथा आर्तत्राण राजाओं के क्षत्रिधर्म के आवश्यक अंग थे ।[५] युद्ध में विजयी राजा ही लोकजित कहलाता था । इसके अतिरिक्त पराशर स्मृति में उस शूर वीर सैनिक को आदरणीय बतलाया है जो वीर युद्ध-भूमि में मृत्यु को प्राप्त करता है । उसको देखकर हजारों देवांगनायें कन्यायें शीघ्रता के साथ दौड़ती हैं, यह मेरा पति हो, ऐसी कामना करती हैं ।[६]

---

१. महाभारत (शा.पर्व) ६०.१८
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ।
वही—६०.१७ वधं हि क्षत्रबन्धुनां धर्मबाहुः प्रधानतः ।

२. पराशर स्मृति—३.४१
यस्य च्छेदक्षातं गात्रं शर मुदगर यष्टिभिः ।
देवकन्यास्तु तं वीरं हरन्ति रमयन्ति च ॥

३. पराशर स्मृति—२७.७
न त्यागो पुनर्या चा न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥

४. महाभारत (शान्ति पर्व) २४.२९
एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम् ।

५. महाभारत—(शा. पर्व)—६४.२६
आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं मोक्षणं पालनं च ।
विष्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥

६. पराशर स्मृति—३.४०
देवाङ्गना सहस्राणि शूरमायोधने हतम् ।
त्वरमाणाः प्रधावन्ति मम भर्त ममेति च ॥

अपने राज्य से अधर्मी व्यक्तियों का नाश करना तथा अन्य शत्रुओं से युद्ध कर उन पर विजय प्राप्त करना क्षत्रिय के आवश्यक दायित्व माने जाते थे। इसी प्रकार से पराशर स्मृति में भी उस क्षत्रिय को लक्ष्मी प्राप्त होती है। जिसकी संग्राम में विजय हुई हो तत्पश्चात् संग्राम में मृत्यु होने पर श्रेष्ठ देवांगना या सुन्दर स्त्री भी मिलती हैं। फिर क्षणमात्र में नष्ट होनें वाले इस शरीर के लिये चिन्ता करने की आवश्यकता भी नहीं है।[१]

यह भारतीय समाज के स्थान विशेष की विशेषतायें हैं। कन्यायें वीर पुरुष को अपने पति के रूप में देखना चाहती हैं। कोई यशस्वी तथा कोई सुन्दर तो कोई शूरवीर पुरुष के रूप में अपने जीवन साथी की कामना करती हैं।

क्षत्रिय के गुण

प्राय: अत्याचारों से समाज और संस्कृति की रक्षा के लिए सदा एकशक्ति के साधक और साहसिक वर्ग की आवश्यकता होती है। यही साहसिक वर्ग प्राचीन समय में क्षत्रिय के नाम से सम्बोधित किया गया था। आज उसे क्षत्रिय बल को हम सैनिक बल या सेना के नाम से अभिहित करते हैं। जाति से तो बहुत से क्षत्रिय होते हैं। जबकि जो क्षत्रिय विधिवत् अभिषिक्त हो जाता है वह राजा कहलाता है।

उस क्षत्रिय के वे कर्म जिनके पालन द्वारा वह समाज एवं संस्कृति की रक्षा में सहायता प्रदान करता है वे सभी कर्म उसके गुण कहलाते हैं।

स्मृतिकार पराशर ने इन्हें क्षत्रिय के गुण न कहकर अपितु इन्हें क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म कहा है। जो क्रमश: निम्न हैं—शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध से विमुख न होना, दान और ईश्वरभाव (अनुकम्पाभावयुक्त) होना ये सभी स्वभाव से क्षत्रिय के कर्म हैं।[२]

---

१. पराशर स्मृति—३.४१
जितेन लभ्यते लक्ष्मीमृतेनापि वराङ्गना।
क्षणध्वंसिनि कार्येऽस्मिन्का चिन्ता मरणे रणे॥

२. पराशर स्मृति—१.९०
शौर्य तेजो घृतिदक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

ब्राह्मणों से सर्वथा भिन्न क्षत्रियों के दोहरे कर्तव्य निश्चित किये गये हैं। शान्तिकाल में लोकरक्षण उसका प्रमुख दायित्व था, किन्तु युद्ध काल में शान्तिकाल के नैतिक मूल्य उसके लिए आवश्यक नहीं समझे गये थे। जबकि युद्ध एक आपात-स्थिति है और इस स्थिति में मानवीय नैतिक मूल्यों पर या तो प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं अथवा परिस्थितियां उन मूल्यों के निर्वाह में बाधक सिद्ध होती हैं।

अत: युद्ध में क्षत्रियों के लिए जो जीवन मूल्य-निर्धारित किये गये, उनमें पराक्रम के अतिरिक्त युद्ध में पीठ न दिखाना एक सर्वोत्कृष्ट मूल्य के रूप से प्रतिष्ठित किया गया है तथा आततायी, दस्यु अथवा शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा और उसके लिए प्राण-विसर्जन में भी उनके राष्ट्रनिष्ठ दायित्वों की उद्घोषणा की गई है। महर्षि पराशर ने उस क्षत्रिय को सम्मान देने को कहा जिसने युद्ध क्षेत्र में भी अपने प्राणों की परवाह न करते हुए अपने दायित्व को महत्वपूर्ण समझा है।[१] अर्थात् जिस क्षत्रिय के युद्ध करते रहने पर ललाट प्रदेश कर बहता रुधिर मुख में आ जाये, तो संग्राम रूपी यज्ञ में इसको सोमपान के सदृश माना है।

वैश्य का धर्म (कर्तव्य)

क्षत्रिय के धर्म के पश्चात् क्रमानुसार वैश्य का धर्म भी समग्र स्मृति साहित्यक्रम प्रतिपाद्य विषय रहा है। अत: वर्ण-व्यवस्था के पूर्ण स्वरूप को जानने के लिए वैश्य धर्म की जानकारी एक आवश्यक तथ्य है।

भारतीय समाज के तृतीय वर्ग विशेष को हो वैश्यवर्ण माना गया है। वैश्यों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के उदर से मानी गयी है।[२] वे कृषि, वाणिज्य आदि वार्ता-वृत्ति का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करने वाले होते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में वैश्यों के प्रमुख कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है, जिनमें पशुपालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन सदाचार, अतिथि-सत्कार, शम, दम,

---

१. पराशर स्मृति—१.४२
ललाट देशे रुधिरं स्रवच्य यस्याहवे तु प्रविशेत् वक्त्रम्।
तत्सोमपानेन किलास्य तुल्यम् संग्राम यज्ञे विधिवच्च दृष्टम्॥

२. महाभारत (अनुशासन पर्व) १४१.२९ उदरात् उद्गता वैश्याः।

ब्राह्मणों का स्वागत या आदर तथा त्याग भी सम्मिलित है ।[१] स्मृतिकार पराशर ने वैश्य के धर्म के विषय में लाभ प्राप्त करना, रत्नों का क्रय-विक्रय, गोओं का पालना तथा कृषि कर्म करना विशेष रूप आचरणीय माना है ।[२] अर्थात् इन सब कर्मों से युक्त होकर वह वृत्ति कमाये ।

महाभारत के शान्तिपर्व में वैश्य के कर्तव्यों का कई स्थलों पर उल्लेख किया गया है । जो वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशुपालन और खेती का काम करता हुआ पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है ।[३] वैश्य के प्रमुख कर्मों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि दान, अध्ययन, यज्ञ एवं पवित्रतापूर्वक धन का अर्जन एवं वृद्धि वैश्य के कर्म हैं ।[४] तथा प्रजापति ने गो आदि पशुओं की सृष्टि करके उनको पालने का भार वैश्यों को सोंप दिया था । यहां पर 'शोचेन धनसंचयः' अत्यन्त महत्वपूर्ण है । क्योंकि पवित्रता के साथ धन संग्रह करने में ही उसका आचार परिनिष्ठत है ।

जिस प्रकार क्षत्रिय प्रजा का रक्षण और प्रजा पालन करते थे, उसी प्रकार वैश्यों के लिए पशु पालन एवं पशु रक्षण का कार्य सोंपा गया था । क्योंकि यह कर्म स्वयं प्रजापति ने इनके लिए निर्दिष्ट किया था । पशुपालन के पारिश्रमिक का उल्लेख भी

---

१. महाभारत—(अनुशासन पर्व) १२८.५३-५४
वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा ।
अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रश्मो दमः ।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्य धर्मः सनातनः ॥

२. पराशर-स्मृति—१.९३
लाभ कर्म तथा रत्नं गवां च परिपालनम् ।
कृषिं-कर्मश्च वाणिज्यं वैश्य-वृत्तिरुदाहृता ॥

३. महाभारत (शान्ति पर्व) १८२.६
कृषि गो रक्ष्य वाणिज्यं यो विशत्यनिशं शुचिः ।
वेदाध्ययन संपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥

४. वही (वही) ६०.२१, २३
दानमध्ययनं यज्ञः शोचेन धनसंचयः ।
प्रजापति वैश्याय सृष्ट्वा परिददो पशून् ॥

शान्तिपर्व में हुआ है। छः गायों के वार्षिक पालन पर, एक गाय का दूध वह स्वयं ले सकता है।[१]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी वैश्य की वृत्ति के विषय में ब्याज लगाना या लेना, कृषि करना, वाणिज्य-व्यापार को फैलाना तथा पशुओं का पालन इत्यादि उसके प्रमुख धर्म कहे हैं।[२]

आचार्य माधव ने स्मृतिकार मनु को उद्धृत कर वैश्य के धर्मों को स्पष्ट किया है। जिनमें मुख्य रूप से वैश्य के धर्मों के क्रम में भेद मिलता अपितु उसके धर्म प्रायः सभी वे ही हैं जो याज्ञवल्क्य में मिलते हैं।[३]

विशेष रूप से कृषि करना तथा वाणिज्य-व्यापार इन दोनों ही प्रकार के व्यवसाय या वृत्ति को विधिपूर्वक प्रयोग में लाना चाहिये, उनका दुरुपयोग न करना इन सभी कर्मों को वैश्य के साधारण कर्मों में गिनाया गया है। यहां पर 'पशुपालन' से तात्पर्य केवल गो पालन से नहीं है अपितु पाल्य पशु भैंस एवं बकरी भी इनमें ही सम्मिलित हैं।

यद्यपि वैश्य वर्ग धनार्जन करता था तथापि धन के वितरण में अत्यधिक उदार था। ब्राह्मण और क्षत्रिय के उनके लिए भी वानप्रस्थ-आश्रम का विधान था।[४]

दान तथा यज्ञ एवं आतिथ्य के माध्यम से वैश्य सामाजिक व्यवस्था को सन्तुलित रखने में सहायक थे। अनुचित धनसंग्रह वैश्यों के लिए वर्जित था। महाभारत के अनुशासन पर्व में जहां भिन्न-भिन्न द्रव्यों को बेचना-खरीदना तथा

---

१. महाभारत (शान्ति पर्व) ६०.२४
षण्णामेकां पिबेत् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.११९
कुसीद कृषि वाणिज्यं पाशुपाल्यं विशः स्मृतम्।

३. मनुस्मृति—१.९०
पशूनां रक्षणं दानभिज्याद्ययनमेव च।
वणिक् पथं कुसीदश्च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

४. महाभारत,(शा.पर्व),६३.१५
कृत्यकृत्यो वयोतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणात्रममण्डलम्॥

उनकी वृद्धि करना उनकी वृत्ति माना है वहीं एक सदाचारी वैश्य के लिए तिल, चन्दन और रस (दूध, घी आदि) की बिक्री को भी वर्जित किया है ।[१]

खेती, पशुपालन और वाणिज्य-व्यवसाय इस लोक की भौतिक स्मृद्धि के साधन थे । वैश्य-वर्ग को ही राष्ट्र की स्मृद्धि का वाहक माना जाता था, इसलिए राजाओं को निर्देश था, कि उन पर अधिक कर न लगाया जाये, क्योंकि किसानों के द्वारा दिये हुए अन्न से देवता, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस और पशु-पक्षी सबकी जीविका चलती है ।[२]

महाभारत में वैश्य के कर्म जहां लाभ कर्म, वाणिज्य इत्यादि को बताता है वहां मार्कण्डेय पुराण में वैश्य के सामान्य धर्म दान, अध्ययन एवं यज्ञ कर्म इत्यादि को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है । इनके अलावा व्यापार, पशुपालन एवं कृषि करना वैश्य की वृत्ति बतलाया है ।[३]

स्मृतिकार मनु का मत है कि वैश्य मूल्यवान् वस्तुओं का व्यापार करे, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके, नित्य-प्रति अपने व्यवसाय का समुचित रूप से निर्वाह करे अर्थात् गलत ढंग से धन संचय न करे तथा व्यवसाय को फैलाने की विधियों को जाने एवं प्रयोग करे । साथ ही गाय, भैंस, बकरी आदि पशुओं का पालन भी वह करे ।[४]

---

१. महाभारत (अनु. पर्व), १२८.५५
तिलान्गन्धान्रसाश्चैव न विक्रीणीत् वै क्वचित् ।
वणिक्पर्थ उपासीनो वैश्यः सत्पथमाश्रितः ॥

२. वही—(शा. पर्व) ९०.२२, २४
कच्चिते वाणिजो राष्ट्रे नौद्विजन्ते करार्दिताः ।
क्रीणन्तो बहु वाल्पेन कान्तारकृतनिश्रमाः ॥
इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा ।
मनुष्योरग रक्षांसि वयांसि पशुवस्तथा ॥

३. मार्कण्डेय पुराण—६.२५
दानमध्ययनं यज्ञो वैश्यस्यापि त्रिधैव सः ।
वाणिज्यं पाशुपाल्यश्च कृषिश्चैवास्य जीविकाः ॥

४. मनुस्मृति—९.३२६
वैश्यस्तु कृत-संस्कारः कृत्वा दार-परिग्रहम् ।
वात्रायां नित्ययुक्तः स्यात् पशुनां नैव रक्षणे ॥

वैश्य-वर्ग के लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन ही उनका सबसे बड़ा धर्म था। वे अपने धर्म से कभी विचलित न हों, ऐसी धारणा के निमित्त उसे सतर्क किया है 'मैं पशुपालन नहीं करूं' ऐसी इच्छा का उसे त्याग करना चाहिए।[१]

वैश्य के उत्पादन के स्रोतों के विषय में महर्षि मनु का मत है कि उसको मणि, मोती, मूंगा, लोहा, कपड़ा, कपूर आदि के मूल्य की वृद्धि एवं उसके ह्रास को देशकाल के अनुसार आवश्यकता के अनुरूप ही आचरण में लाना चाहिए। जिससे प्रजा जनों को नुकसान न हो।[२]

अन्न का उत्पादन वैश्य के कृषि कर्म से जुड़ा हुआ है। अतः मनुस्मृति में कृषि-विज्ञान की जानकारी आवश्यक बताई है क्योंकि इसके अभाव में अन्न उत्पादन में वृद्धि असम्भव है। अतः सब प्रकार के बीजों को बोने की विधि तथा कौन सा बीज किस समय में, कैसे खेत में, कितने प्रमाण व मात्रा में, किस प्रक्रिया से बोया जाये इत्यादि के अलावा एक व्यापारी वैश्य को भूमि के गुण तथा दोष जानने चाहिये। तौल—मन, आध मन, पंसेरी, सेर, छटांक आदि, धातुओं में तोला, मासा, रत्ती आदि तथा तौल के उपाय, इन सबको वैश्य को भली-भांति जान लेना चाहिये।[३]

वैश्य के संदर्भ में यह बात भी विशेष महत्व की है कि वे उत्पादन के प्रमुख स्रोत थे तथा उनके अर्थ संचय पर धार्मिक और राजकीय दोनों प्रकार का अंकुश विद्यमान था। लेकिन उनके इस उत्पादन कार्य से सीधा सम्पर्क था, व्यापारिक क्रय-विक्रय का आधार अर्थात् उत्पादक वस्तुओं की श्रेष्ठता एवं निम्नता को जानना, साथ ही विभिन्न देशों व स्थानों के गुण दोषों की जानकारी उन्हें होनी चाहिये।

---

१. वही—९.३२८
न च वैश्यस्य कामः स्यात् न रक्षेयं पशून् इति।
वैश्य चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंनन॥

२. मनुस्मृति—९.२२९
मणि मुक्ता प्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च।
गन्धानां च रसानां च विद्यात् अर्घ बलाबलम्॥

३. वही—९.२३०
बीजानामुत्पत्तिविच्च स्यात् क्षेत्रं-दोष-गुणस्य च।
मान-योगाश्च जानीया तुला योगांश्च सर्वतः॥

तभी उन्हें सोदों के लाभ एवं वृद्धि का ज्ञान हो सकता था, अन्य महत्वपूर्ण पहलू उनके व्यवसाय से जुड़ा था। पशुओं का पालन किस योजना द्वारा हो जिससे कि श्रेष्ठ किस्म उपलब्ध हो तथा वृद्धि भी बढ़े।[१] इसके अतिरिक्त श्रमिक को पारिश्रमिक देश, काल एवं अवस्था को ध्यान में रखकर बांटे। एक उत्तम वैश्य को विभिन्न देश की भाषाओं की जानकारी होनी चाहिये। क्योंकि यह वह तभी जान सकेगा, कि कौन स्थान विशेष रूप से क्रय-विक्रय के लिये उपयुक्त है या नहीं जब उसे भाषाओं का ज्ञान होगा।[२]

उनके उत्पादन का अधिकांश भाग समाज के पालन और राष्ट्र-रक्षा के लिए प्रयुक्त होता था। अत: स्मृतिकार मनु का मत इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि वैश्य को धर्मपूर्वक अर्थात् ईमानदारी से व्यापार कार्य, पशुपालन एवं खेती के द्वारा धन या उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे सब प्राणियों एवं प्रजा की परितृप्ति हेतु वह अधिक से अधिक मात्रा में अन्न दान कर सके।[३]

इस प्रकार प्रजा के अन्य वर्गों की भांति वे भी सुरक्षा के पात्र थे और त्यागपूर्वक धनोपयोग की भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से बंधे हुए थे। तथा अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन ही उनका सबसे बड़ा धर्म था। इसीलिए कृषि कर्म, वाणिज्य, गो पालन तथा व्यवसाय की वृद्धि तथा वस्तुओं का मूल्य निर्धारण आदि विज्ञान की सूझ-बूझ तथा सोना, चांदी, तांबा एवं लोहा इत्यादि सभी प्रकार की धातुओं का सम्यक् परिज्ञान वैश्य वर्ग के लिए आवश्यक कहा गया है। जिससे वह विज्ञान का प्रत्येक दृष्टि से उपयुक्त प्रयोग कर सकेगा।

---

१. मनुस्मृति—९.३३१
सारासारं च माण्डानां देशानां च गुणागुणान्।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम्॥

२. मनुस्मृति—९.३३२
भृत्यानां च भृतिं विद्याद् भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्यानां स्थान योगाश्च क्रयविक्रेयमेव च॥

३. मनु स्मृति—९.३३३
धर्मेण च द्रव्य वृद्धावातिष्ठेत् यत्नं उत्तमम्।
दद्यात् च सर्वभूतानां अन्नमेव प्रयत्नतः॥

क्षत्रियों के सदृश वैश्यों के भी दान, अध्ययन और यज्ञ समान रूप से निर्धारित कर्तव्य थे। जो वैश्य अपने नियत धर्मों का पालन करता था, वह आदर-सत्कार पाता था। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में उस वैश्य को आदरणीय कहा है जो भली भांति अपने धर्म पालन के साथ ही ब्राह्मण वर्ग का देवता के समान सम्मान करता है। वह स्वर्ग में जाकर आनन्द लाभ करता है। अर्थात् वह समाज में सम्मान पूर्वक देखा जाता है।[१]

वैश्य का वर्जनीय धर्म

वैश्य के वर्जनीय धर्म के सम्बन्ध में आचार्य माधव ने महाभारत के उद्धरण द्वारा स्पष्ट किया है कि वैश्य को अपने धर्म का त्याग कर दूसरा धर्म नहीं पालन करना चाहिये अर्थात् अन्य वर्ण की वृत्ति को आचरण में नहीं लाना चाहिए। अन्य विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह कदापि संचय-वृत्ति का आश्रय न ले अर्थात् धन संचय के द्वारा नरक का मार्ग प्रशस्त न करे। क्योंकि उसके ऐसा करने से समाज में असन्तुलन होगा, जिससे राष्ट्र की अवनति होगी।[२]

शूद्र का धर्म

शूद्र वर्ण विराट् पुरुष के चरणों के समान है।[३] इसलिए सेवा धर्म द्वारा समाज के सभी वर्गों को पैरों के समान ही गतिशील बनाने में वे समर्थ हैं। जिसको वर्ण व्यवस्था के अन्तिम वर्ण के रूप में भी जाना गया है। इस शूद्र वर्ग के साधारण धर्म को स्मृतिकार पराशर ने मुख्य रूप से द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की सेवा करने सुश्रुषा करने वाला कहा है। यही उसका परम धर्म है, अन्यथा वह इसके अतिरिक्त जो कुछ भी करता है उसका वह कर्म निष्पल हो जाता है। अतः वह केवल परिचारक है इसीलिये अपने धर्मावलम्बन करने में ही उसकी भलाई

---

१. महाभारत,(आश्वमेधिक पर्व)
वाणिक् धर्मश्च मु चन वै देव ब्राह्मण-पूजकः।
स वाणिक् स्वर्गमाप्नोति पूज्यमानो पसरोगणेः॥

२. महाभारत (शान्ति पर्व)
या करोति जनान् साधून वलिककर्मणि वञ्चनम्।
स याति नरकं घोरं धनं तस्यापि हीयते॥

३. ऋग्वेद, १०.९०.१२ पद्भ्यां शूद्रो अजायत्॥

है ।[१] महाभारत के अन्य स्थल पर यह भी कहा है ।[२] जो वेद और सदाचार का परित्याग करके सदा खाने में अनुरक्त रहता है तथा सब प्रकार के अच्छे-बुरे कार्य करता है, साथ ही अपवित्र रहता है, उसे शूद्र कहा गया है ।[३] शूद्र को सेवक कहा गया है, अत: तीनों वर्णों की परिचर्या ही उसका शास्त्र-विहित कर्म माना गया है । इस सेवा धर्म से ही उसे महत्सुख की प्राप्ति हो सकती थी ।[४] स्मृतिकार मनु ने द्विज के प्रसंग में उस ब्राह्मण को द्विज माना है, जो वेद का ज्ञाता हो, यशस्वी इत्यादि गुणों से युक्त हो ऐसे सद्‌गृहस्थों की सेवा करना शूद्र का उत्तम कर्तव्य था ।[५]

शूद्र के गुण

महाभारत के कई पर्वों में यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि त्रिवर्ग का सेवक, दानी, सत्य एवं असूया रहित, गुरु और देवपूजन का प्रेमी, परस्त्री संसर्ग से रहित, दूसरों को हानि न पहुंचाने वाला शूद्र स्वर्ग को प्राप्त करता है । अर्थात् शुभ कर्मकारी शूद्र द्विजातियों से श्रेष्ठ और वन्दनीय माना गया है । अर्थात् द्विजत्व का कारण वृत्ति को माना गया है और शुभ या पवित्र वृत्ति-सम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है । मनुस्मृतिकार का आशय भी श्रेष्ठ शूद्र के गुणों को प्रकाशित करना है । जो शूद्र शारीरिक एवं मानसिक दोषों से रहित है तथा जो सभी वर्णों की सेवा में तत्पर है, सभी से मधुर भाषण करने वाला है । अहंकार शून्य है, तथा सदैव

---

१. पराशर-स्मृति १.९४
शूद्रस्य द्विज शुश्रुषा परमोधर्म उच्यते ।
अन्यथा कुरुते किञ्चितद्‌भवेतस्य निष्फलम् ॥

२. महाभारत (कर्ण पर्व), २३.३५
ब्रह्मक्षत्रविशां शूद्रा विहिताः परिचारिका ।

३. महाभारत (शान्ति पर्व), १८२.७
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्म करो शुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥

४. वही (वही) ६०.२८
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत्सुखमवाप्नुयात् ।

५. मनुस्मृति—९.३३४
विप्राणां वेद विदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रुषेव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रयसः परः ॥

द्विजातियों के आश्रय में रहता है। उनके अनुकूल आचरण करता है, वह शूद्र शीघ्र श्रेष्ठ जाति को प्राप्त करता है।[१]

शूद्र के कर्तव्य अर्थात् उसकी आजीविका वृत्ति के सम्बन्ध में आचार्य माधव ने महर्षि देवल का मत उद्धृत किया है। शूद्र धर्म के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्योंकि अन्य किसी स्मृतिकार ने शूद्र की आजीविका के विषय में विशेष न कहकर सेवा पालन ही उसका धर्म बताया है। जबकि देवल ने तीनो वर्णों की सेवा के अतिरिक्त जिन धर्मों को बताया है वे धर्म निम्न हैं—परिवार तथा भार्या को पालन-पोषण करने के निमित्त वह कृषि करना, पशु-पालना, बोझा ढोना, नृत्य करना, गाना, बांसुरी, वीणा, मुरज-मृदंग इत्यादि वाद्यों को बजाना, व्यवसाय करना, मुनीमगीरी करना, रुपयों पैसों का लेन-देन करना तथा शिल्प कार्य, चित्रकारी इत्यादि कर्मों को करने में उसे दोष नहीं लगता अर्थात् ये सभी उसकी जीवन वृत्ति हैं। इनके द्वारा जीवनोपार्जन करने की उसे स्वतंत्रता दी गई थी।[२]

शूद्र के धर्मों के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी चर्चा की है। उनके अनुसार शूद्र के नियत धर्म निम्न हैं—शूद्र सदैव अपनी पत्नी से अनुरक्त रहे, हमेशा साफ-सुथरा रहे, स्वच्छ आचरण रखे, साथ ही दासों का भली-भांति भरण-पोषण करे, श्राद्ध क्रिया को सम्पन्न कराये तथा नमस्कार मन्त्र के द्वारा पंचयज्ञों को भी सम्पन्न कराता रहे।[३]

शूद्रों के निर्धारित कर्तव्यों में सेवा उसका प्रमुख समाजनिष्ठ कर्तव्य है। स्मृति-ग्रन्थों में प्राय: वेदाध्ययन और वैदिक यज्ञ के अतिरिक्त सभी पवित्र कर्म उसके लिए विहित थे। और यदि वह सदाचार के निमित्त नैतिक मूल्यों का

---

१. मनुस्मृति—९.३३५
शुचिः उत्कृष्ट-शुश्रषुमृदुः शान्तो नहंकृतः।
ब्राह्मणो आश्रयो नित्यं उत्कृष्टां जातिं अश्नुते ॥

२. देवल—पराशर-माधव से उद्धृत, पृ.४१९
'शूद्रधर्मास्त्रिवर्ण-शुश्रुषा
कलत्रादि—पोषण-कर्षणं-पशुपालन-भारोद्वहन-पण्यव्यवहार-चित्रकर्म-नृत्य-गीत-वेणु, वीणा-मुरज-मृदङ्ग, वादनानि' इति।

३. याज्ञवल्क्य स्मृति, १.१२१
भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ताश्राद्धक्रियारतः।
नमस्कारेण मन्त्रेण प च यज्ञान हापयेत् ॥

द्विजातियों की भांति ही पालन करता है, तो श्रेष्ठ एवं वन्दनीय बन सकता है । अतः कुछ ऐसे ही भाव महाभारत में भी मिलते हैं । शूद्रों को केवल स्वाहाकार एवं वैदिक मन्त्रोचरण करने का अधिकार था ।[१]

शूद्र को इन सब वैदिक यज्ञों में श्रोतयज्ञों को छोड़कर, पाकयज्ञों को करने का अधिकार था । उसे पाकयज्ञ सम्पन्न करने पर दक्षिणा देने का भी विधान बताया गया है । शूद्र के लिये धनसंग्रह वर्जित था, क्योंकि धनी बनकर एक ओर तो वह पाप में प्रवृत्त होता हैं तथा दूसरी ओर अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों को भी अपने अधीन रखने लगता है ।[२]

महाभारत में कहा गया है कि उसको केवल सेवा से प्राप्त धन से ही जीवन-यापन करना चाहिए । उनके लिए द्विजाति की सेवा द्वारा प्राप्त धन ही वांछनीय है । इसके अलावा धन-सम्पत्ति जोड़ने का उसको अधिकार नहीं दिया गया था, क्योंकि राजा से प्राप्त धन का वह दुरुपयोग न करे । अतः उसे यही निर्देश दिया गया था कि वह राजा द्वारा प्रदत्त धन का सदुपयोग करे, शेष धन को धार्मिक कार्यों में ही लगाये ।[३]

स्मृतिकार मनु ने शूद्र की वृत्ति के संदर्भ में द्विजातियों को निर्देश दिया है कि वे शूद्र की भलाई के लिये उसकी वृत्ति तथा वेतन को निश्चित करें, उसकी कार्य सीमा को निर्धारित करें । सेवारत शूद्र को उसकी सेवा सामर्थ्य का उचित पारिश्रमिक दें । उसके उत्साह एवं परिवार के निर्वाह को विचार कर ही उसका वेतन आदि दें ।[४]

---

१. महाभारत (शान्ति पर्व) ३६
ताभ्यां शूद्रः उक्तयानां वर्णानां यज्ञस्त्रच्चैव भारत ।
स्वाहाकारः नमस्कारः मन्त्रं शूद्रे विधीयते ॥

२. महाभारत (शान्ति पर्व) ६०.२९
ताभ्यां शूद्रः पाकयज्ञेः यजेत् ब्राह्मणान् स्वयम् ।
स याशंच न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन् ॥

३. महाभारत (शान्ति पर्व)
सेवया हि धनं लव्ध्वा वशे कुर्यात् गरीयसः ।
राज्ञा दानमनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ॥

४. मनुस्मृति—१.१२४
प्रकल्पया तस्य वे वृत्तिः स्वकुटुम्बद्यर्थाहतः ।
शक्तिजयावेक्ष्य दाक्ष्यञ्च भृत्याना च परिगृहम् ॥

मनुस्मृति में वृत्ति निर्धारण के अतिरिक्त उस शूद्र के सम्बन्ध में ब्राह्मण उसे जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, अन्नों के पुआल तथा खाट बर्तन आदि दैनिक उपयोग की वस्तुयें उसे दान कर दे, ऐसी व्यवस्था दी है ।[१]

महाभारत में भी शूद्र की हिमायत की गई है । द्विजातियों को उसकी वृत्ति सामर्थ्यानुसार देनी चाहिए । सभी धर्मात्माओं ने माना है कि यदि शूद्र किसी द्विजाती की सेवा करता है तो उसका (द्विजाति) का कर्तव्य है कि वह भी उसका समुचित ध्यान रखे उसे सभी आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराये ।[२]

पराशर स्मृति के दान विषयक संदर्भ

मनु के समान स्मृतिकार पराशर ने भी 'दान' के सम्बन्ध में चर्चा की है । कृत युग, त्रेता युग, द्वापर युग एवं कलियुगों में धार्मिक जीवन के प्रमुख रूप क्रम से तप, आध्यात्मिक ज्ञान, यज्ञ एवं दान हैं ।[३]

दान के प्रकार बताते हुए स्मृतिकार पराशर ने कहा है कि सत्ययुग में दान उस स्थान पर जाकर दिया जाता था, त्रेता में बुलाकर दान किया करते थे, द्वापर में याजना करने से या मांगने पर दान दिया जाता था और अब इस कलियुग में सेवा

---

१. मनुस्मृति—१.१२५
उष्टिन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानी जीर्णास्चेव परिच्छदाः ॥

२. महाभारत (शान्ति पर्व), ६०.३२
यश्च कश्चित द्विज़ातीनां शूद्र शुश्रुषुराव्रजेत् ।
प्रकल्पया तस्य तैः आहः वृति धर्मवित् जनाः ॥
छत्र-वेष्टन-पु जानि उपानत व्यंजनानि च ।
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ॥

३. मनुस्मृति—१८६.१
तपःपरं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलो युगे ॥
पराशर स्मृति—२३.१
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुदानमेव कलो युगे ॥

कराके दान प्राप्त होता है अर्थात् उत्तरोत्तर दान का स्वरूप बदलता गया। समय के अनुसार मानसिकता में गिराव ही आया है।[१]

दान का विभाजन करते हुए पराशर ने स्पष्ट किया है कि—

१. स्वयं जाकर के जो दान दिया जाता है, वह 'उत्तम' होता है।

२. अपने यहां बुलाकर जो दान दिया जाता है, वह 'मध्यम' होता है।

३. याजना करने पर जो दान दिया जाता है, वह साधारण होता है।

४. सेवा कराके जो दान दिया जाता है, वह 'अधम' एवं निष्फल होता है।[२]

गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों से श्रेष्ठ बतलाया गया है क्योंकि इसमें रहकर ही गृहस्थ व्यक्ति सम्यक् रूप से दान धर्म का सम्यक् पालन करने में समर्थ होता है।[३] गृहस्थी यदि गरीब भी हो, तो भी यदि वह श्रोत्रिय एवं वेदपाठी को दान करता है, वह दान विशेष रूप से शुभफलदायक होता है।[४]

इसके विपरीत यदि कोई भूमि हरण का दोषी यदि बावड़ी, कुआं, तालाब आदि बनवाकर स्वयं मुक्त होना चाहे तो वह निष्पल रहता है क्योंकि यदि वह करोड़ों गोओं का भी दान करे तब भी वह शुभफल नहीं पा सकता है।[५]

---

१. पराशर स्मृति—२८.१
अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचयामानाय सेवया दीयते कलो॥

२. पराशर स्मृति—२९.१
आभगम्योतमं दानमाहुयैव तु मध्यमम्।
अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम्॥

३. वायु-पुराण, ६५, ६६८
यतीनां तु शमो धर्मस्त्वनाहारो वनौकसाम्।
दानमेव गृहस्थानां शुश्रुषां ब्रह्मचारिणाम्॥

४. पराशर-स्मृति, ४८.१२
कुटुम्बिने दरिद्राय श्रोत्रियाय विशेषतः।
यद्यानं दीयते तस्मै शुभकारकम्॥

५. पराशर-स्मृति—४९.२
वापीकूपतडागाद्यैर्वाजपेयशतमखः।
गवां कोटिप्रदानेन भूमिहत्तान शुध्यति॥

स्मृतिकार के अनुसार जिन विशेष परिस्थितियों में 'रात्रि' दान विधान मिलता है वे निम्न प्रकार कही गई है—

४९ मरुत, आठ वसु, ११ रुद्र, १२ सूर्य इनके अतिरिक्त और भी देवता सब चन्द्रमा में ग्रहण में समय लीन हो जाते हैं। अतएव ग्रहण में दान करना चाहिये।[१]

एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि खलयज्ञ में (खेती होने पर) संक्रान्ति और ग्रहण में रात्रि में दान का विधान है ऐसे ही पुत्र के जन्म के समय, यज्ञ में और मृतक सूतक में तथा राहु के दर्शन में 'दान' की प्रशंसा की गई 'ये सब दान करने के शुभ अवसर हैं' और समय में रात्रि को दान नहीं होता।[२]

---

१. पराशर-स्मृति २१.१२
मरुतो वसवो रुद्रा आदित्याश्चाथ देवताः।
सर्वे सोमे प्रलीयन्ते तस्माद्यानस्तु संग्रहे॥

२. वही—२२,२३.१२
खलयज्ञे विवाहे च सङ्क्रान्तो ग्रहणे तथा।
शर्वर्या दानमस्त्येव ना न्यत्र तु विधीयते॥
पुत्र जन्मनि यज्ञे च तथा चा त्ययकर्मणि।
राहोश्च दर्शने दानं प्रणस्तं नान्यदा निशि॥

चतुर्थ अध्याय

पराशर एवम् देवल स्मृति में विहित कर्म विधान तथा शुद्धि वर्णन

नित्य कर्म

सामान्य रूप से स्मृति ग्रन्थों में आह्निक (प्रतिदिन के कर्म) एवं आचार पर पर्याप्त महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है । उनमें भी ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों तथा यातियों की अपेक्षा गृहस्थों के दैनिक कर्तव्य महत्वपूर्ण हैं । जिनके विषय में सभी स्मृतियों में विशेष रूप से विवेचन किया गया है । सर्वप्रथम धर्मशास्त्र साहित्य में गौतम एवं बौधायन धर्मसूत्रकारों ने इस गृहस्थाश्रम अर्थात् गृहस्थी व्यक्ति को प्रमुखता दी है । क्योंकि गृहस्थ एवं गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आधार है ।[१] क्योंकि अन्य तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास सन्तान नहीं उत्पन्न करते हैं ।

स्मृतिकार मनु ने कहा है—जिस प्रकार बड़ी या छोटी नदियां अन्त में समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमों के लोग गृहस्थ से ही आश्रय पाते हैं ।[२]

अत: वेद एवं स्मृतियों के आधार पर अन्य तीन आश्रमों का आश्रय स्वरूप होने के कारण गृहस्थाश्रम सर्वोच्च आश्रम माना जाता है । यही मनोभाव गृहस्थ की महत्ता को प्रकाशित करता है ।

---

१. गोतम, धर्मसूत्र ३.३.
तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम् ।

२. मनुस्मृति—६.८९,९०
सर्वेषामपि चेतेषां वेद स्मृतिविधानत ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्तिहि ॥
यदा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

महाभारत में आया है—जिस प्रकार सभी प्राणी माता के आश्रित होते हैं उसी प्रकार अन्य आश्रम भी गृहस्थों के आश्रय पर स्थित हैं। अनयथा इसके अभाव में अन्य आश्रमों की कल्पना भी व्यर्थ है।[१]

पराशर स्मृति में व्यास जी ने सामान्य रूप से गृहस्थों के कलियुग में करने योग्य धर्मों को पूछा तथा उन कर्मों को करने की विधि क्या होनी चाहिये ? क्योंकि गृहस्थ व्यक्ति ही यज्ञ किया करता है, गृहस्थ ही तपस्या करता है; सुख की इच्छा करके जो कुछ चेष्टा की जाती है वह सब गृहस्थ द्वारा ही सम्भव हो सकती है, गृहस्थ्य ही उसका मूल है।[२]

धर्मशास्त्रों में गृहस्थों को कई श्रेणियों में बांटा गया है। धर्मसूत्रकार बोधायन एवं स्मृतिकार देवल तथा अन्य ग्रन्थों ने गृहस्थों को दो प्रकार का बताया है यथा—१. शालीन एवं २. 'यायावर', जिनमें (दूसरे को) पहले से अपेक्षाकृत अच्छा माना है। 'शालीन' जो शाला या गृह में रहता है, उसके पास नौकर-चाकर, पशु आदि भी होते हैं, वह स्थिर रूप से किसी ग्राम में रहता है, उसके पास अन्न एवं सम्पत्ति होती है, वह सांसारिक जीवन व्यतीत करता है।[३]

यायावर अत्युतम जीविका वाला होता है, वह खेत से ले जाते समय जो अन्न पृथ्वी पर गिर जाता है उसे ही चुनता है और सम्पत्ति नहीं जोड़ता है, वह पुरोहिती करके जीविका चलाता है, वह न तो अध्यापन करके और न लेकर जीविका चलाता है।

स्मृतिकार मनु ने भी गृहस्थों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है। यथा—

---

१. महाभारत (शान्ति पर्व) २६१.६
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थयमाश्रित्य वर्तन्त इतरे श्रमाः॥

२. वही (शान्ती पर्व), २६१.७
गृहस्थ एवं यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थयमस्य धमस्य मूलं यत्किंचिदेजते॥

३. बौधायन धर्मसूत्र (३.१.१, ३-५)
अथ शालीन-यायावर-चक्रचर-धर्मकांक्षिणां नवभिवृत्तिभिर्वर्तमानानाम्। शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्यावरया यातीति यायावरत्वम्। अनुक्रमेण चरणाच्चक्रचरत्वम्॥

१. वह जिसके पास पर्याप्त अन्न है ।

२. वह जो केवल घड़ा भर अन्न रखता है ।

३. वह जो अधिक से अधिक तीन दिनों के लिए भोजन इकट्ठा कर पाता है ।

४. वह जो आने वाले कल की चिन्ता नहीं करता ।[१]

मिताक्षराकार ने 'शालीन गृहस्थ' को चार प्रकार का माना है—

१. जो पोरोहित्य करके, वेदाध्यापन करके, दान लेकर, कृषि, व्यवसाय एवं पशु-पालन करके अपना भरण-पोषण करता है ।

२. जो उपरोक्त छः वृत्तियों में केवल प्रतम तीन के द्वारा जीवन निर्वाह करता है जैसे—पौराहित्य, वेदाध्ययन एवं दान इत्यादि ।

३. जो केवल पौरोहित्य एवं अध्यापन करके जीवन यापन करता है ।

४. जो केवल अध्यापन कार्य करके जीविका चलाता है ।[२]

स्मृतिकार पराशर ने उस गृहस्थ को षट्कर्मों में लगा रहने वाला माना है । ऐसा वह ब्राह्मण प्रतिदिन देवता का पूजन करने वाला एवं अतिथि—(जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो) का आदर-सम्मान करने वाला होता है तथा जो हवन करने के बाद अवशिष्ट भोजन करने वाला गृहस्थ ही आदर्श गृहस्थ कहलाता है ।[३]

प्रत्येक सद्गृहस्थ के मुख्य छः नित्य कर्म हैं जो निम्न प्रकार के हैं—सन्ध्या, स्नान, जप, होम और देवताओं की विधिवत् पूजा तथा बलिवेश्वसहित आतिथ्य-सत्कार करना ही सद्गृहस्थ के धर्म हैं । इन सभी कर्मों को या प्रतिदिन की चर्याओं

---

१. मनुस्मृति—४.९
षटकर्मैको भवत्वेषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मस्तरेण जीवतिः ॥

२. देवल, याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका से उद्धृत, पृ. ४३
शालीनो पि चतुर्विधः—याजनाध्यापनप्रतिग्रह कृषिवाणिज्य पाशुपाल्ये । षड्भिर्जीवत्येकः, याजनादिभिस्त्रिभिरन्यः याजनाध्ययनाभ्यामपरः, चतुर्थस्त्वध्यापनेनैव ।

३. पराशर-स्मृति, १.३८
संध्या स्नान जपो होमो देवतातिथिपूजनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट् कर्माणि दिने दिने ॥

को 'आंहनक' के नाम से सम्बोधित किया गया है । पराशर स्मृति ने आह्निक के प्रमुख विषयों—शय्या से उठना, शौच से निवृत होना, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पंचमहायज्ञ, अग्नि सेवा, भोजन, धन प्राप्ति, पढ़ना-पढ़ाना, सायं की संध्या, दान, सोने जाना, निर्धारित समय पर यज्ञ करना इत्यादि में से छः—संध्या, प्रार्थना, जप, होम, देव पूजन, आतिथि-सत्कार एवं वैश्वदेव इत्यादि को विशेष रूप से स्वीकार किया है ।

मानव-धर्म

मानव धर्म से तात्पर्य है कि वे धर्म जिन्हें मानव मात्र धारण करता है जबकि एक साधारण गृहस्थ का मानव से अतिरिक्त अस्तित्व ग्रहण नहीं हो सकता, तब उस परिस्थिति में उसे भी मानव धर्मों का पालन करना होता है । महाभारत के अनुशासन पर्व में आया है—अहिंसा, सत्य वचन, सभी जीवों पर दया, शम (क्षमा करना) तथा यथाशक्ति दान—गृहस्थ का यह सर्वश्रेष्ठ धर्म है । ये पांच धर्म हैं जिनके पालन करने से मानव मात्र को सुख की प्राप्ति होती है ।[१]

स्मृतिकार पराशर ने भी गृहस्थों के मानव धर्मों को महत्वपूर्ण माना है, जैसे आदर्श गृहस्थ को दयायुक्त होकर धर्म का ही अनुचिन्तन एवं अनुष्ठान करना चाहिए और ऐसे बुद्धिमान गृहस्थ को पोष्यवर्ग की अर्थ सिद्धि के लिये न्यायपूर्वक व्यवहार करना चाहिए तथा न्याय द्वारा पैदा किये हुए धन से अपनी रक्षा करनी चाहिए और इसके अतिरिक्त जो मनुष्य अन्याय से अपना जीवन निर्वाह करता है, वह सम्पूर्ण कर्मों से बहिष्कृत हो जाता है ।[२]

मानवधर्म के संदर्भ में आचार्य माधव भी स्मृतिकार मनु का समर्थन करते हैं क्योंकि एक सद्गृहस्थी को अपने वृद्ध माता-पिता, धर्मपत्नी तथा पुत्र इत्यादि कुटुम्बी जनों के पालन-पोषण के निमिति भी याजन, अध्यापन एवं प्रतिगृह इत्यादि

---

१. महाभारत (अनुशासन पर्व), २५.१२८
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ॥

२. पराशर स्मृति—१२.४३
न्यायोपार्जितवित्तेन कर्तव्यं ह्यात्मरक्षणम् ।
अन्यायेन तु यो जीवेत्सर्वकर्मबहिष्कृत ॥

के द्वारा ही धन संग्रह करना चाहिए। इसके विपरीत अन्य वर्ण की वृत्ति के द्वारा जीविका नहीं चलानी चाहिए।[१]

मानव धर्म के विषय में महर्षि देवल का मत है कि सुख एवं दु:ख हरेक को समान रूप से प्रभावित करते हैं। इसलिये अपने लिए जो प्रतिकूल हो, उसे दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए। अत: स्मृतिग्रन्थों ने नैतिकता के लिए अर्थात् सदनीतियों के लिए मानव धर्म को सुदृढ़ किया है।[२]

सामान्य कर्म

यहां पर सामान्य कर्मों से तात्पर्य है जिन्हें हम प्रतिदिन नियम-पूर्वक अपने जीवन में आचरण करते हैं। मनुस्मृति में उन साधारण कर्मों को 'मलमूत्र त्याग, दन्तधावन, प्रसाधन, स्नान, अंजन लगाना एवं देवपूजन करना इत्यादि कहा है।'[३]

साधारणत: शुद्धि शब्द का अर्थ देह की स्वच्छता एवं शारीरिक शुद्धता ही ग्रहण किया जाता है। जबकि शरीर की स्वच्छता तो सामान्य शौच का एक अंग है। गौतम स्मृति में शौच को आत्मगुण कहा है।[४] शुद्धि के विषय में महर्षि देवल के अनुसार स्वच्छता के लिए मिट्टी की मात्रा से पवित्रता या शौच में कोई बाधा नहीं होती है। अत: उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि कितनी मिट्टी से स्वच्छता प्राप्त होगी क्योंकि भद्र लोग मिट्टी के भाग की संख्या को महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं।[५]

---

१. मनुस्मृति—११.१०
वृद्धो च माता-पितरो साध्वी भार्य्या सुतः शिशुः।
अप्पकार्य्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥

२. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ.१०४. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां च समाचरेत्।

३. मनुस्मृति ४.१५२
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनम् जनम्। पूर्वाह्न एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्॥

४. स्मृति-चन्द्रिका, १.९३
यावत्साध्विति मन्येत तावच्छौचं विधीयते।
प्रमाणं शौचसंख्यायां च शिष्टैरूपदिश्यते॥

५. हारीत स्मृति
शौचं नाम धर्मदिपथो ब्रह्मायतनं श्रियोधिवासो मनसः
प्रसादनं देवानां प्रियं शरीरे क्षेत्रदर्सनं बुद्धि प्रबोधनम्।

हारीत स्मृति में शौच को धर्म की ओर प्रथम मार्ग बताया है। जहां ब्रह्म वेद का निवास स्थान है, श्री भी वहीं रहती है, इससे मन भी स्वच्छ रहता है, स्वच्छता में ही देवों का निवास है तथा इस स्वच्छता के द्वारा आत्मबोध होता है साथ ही इससे बुद्धि का जागरण भी होता है।

धर्मग्रन्थों अर्थात् स्मृतियों में प्रमुख रूप से बोधायन धर्मसूत्र, हारीत, दक्ष एवं व्याघ्रपाद इत्यादि के अनुसार शौच के दो प्रकार हैं यथा—बाह्य शौच एवं आन्तर शौच या आभ्यान्तर शौच, जिनमें प्रथम पानी एवं गीली या भुरभुरी मिट्टी से होता है, दूसरा मनोभावों की पवित्रता एवं शुद्धता से प्राप्य हैं।[१]

स्मृतिकार हारीत ने पुनः बाह्य शौच को तीन भागों में विभाजित किया है—

१. कुल अर्थात् कुल में जन्म एवं भरण के समय उत्पन्न अशौच से पवित्र होना।

२. अर्थ—सभी प्रकार के पात्रों एवं पदार्थों को स्वच्छ रखना।

३. शरीर—अपने शरीर को स्वच्छ या शुद्ध रखना तथा आभ्यन्तर शौच को पांच भागों में बांटा है—

१. मानस—अर्थात् मानसिक शुद्धि एवं मन की सरलता,

२. चाक्षुष—न देखने योग्य पदार्थों को न देखना,

३. घ्राण्य—न सूंघने योग्य वस्तुओं को न सूंघना,

४. वाच्य—वाणी की पवित्रता,

५. स्वाद्य—जिह्वा का स्वाद इत्यादि।

धर्मशास्त्र के अध्ययन के आधार पर काणे महोदय ने कर्मों को तीन प्रकार माना है—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म तथा जन्म-मरण संबंधी कर्म।

प्राचीन सूत्रों एवं स्मृतियों में प्रातःकाल उठने के उपरान्त मलमूत्र त्यागने का कृत्य है। जिसके संबंध में स्वच्छता संबंधी नियमों का विधान किया गया है। किन्तु प्राचीन धर्मग्रन्थों में धर्म, व्यवहार-नियम, नैतिक नियम, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता

१. दक्ष स्मृति, ५.३
शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥

के नियम मिले-जुले रूप में मिलते हैं। उनका व्यवस्थित एवं क्रमपूर्वक पृथक-पृथक वर्णन उपलब्ध नहीं है।

मनु स्मृति में भी सर्वप्रथम त्याग, दंतधावन, प्रसाधन, स्नान, अंजन लगाना तथा देवपूजन करना इत्यादि गृहस्थ के कर्मों को नित्य कर्म माना है।[१]

स्मृतिकार देवल ने स्वच्छता को महत्वपूर्ण माना है और निर्देश दिया है कि शौचाचार से निबट कर अंगों को पानी से एवं मिट्टी से इतना स्वच्छ कर देना चाहिये, जिससे सभी प्रकार की गन्ध एवं गन्दगी दूर हो जाये तथा गुदा-भाग एवं हाथों को मिट्टी एवं पानी से बारम्बार धोना चाहिए।[२]

प्रातः उठने के समय भी मनु, याज्ञवल्क्य, दक्ष इत्यादि स्मृतिकारों ने नियम-निर्धारित कर रखे थे। स्मृतियों के अनुसार बाह्य मुहूर्त में उठना चाहिए, धर्म एवं अर्थ के विषय में, जिसे वह उस दिन प्राप्त करना चाहता है, उसे सोचना चाहिये। कुल्लुक भट्ट एवं अन्य टीकाकारों के मत से 'मुहूर्त' शब्द सामान्यतया समय का ही द्योतक है।

पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव के अनुसार सूर्योदय के पूर्व प्रथम प्रहर में दो मुहूर्त होते हैं, जिनमें प्रथम को बाह्य और दूसरे को रौद्र कहते हैं।[३]

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य के अनुसार भी बाह्य मुहूर्त उठना चाहिए तत्पश्चात् उसे दिन के सभी प्रकार के कार्यों का स्मरण करना चाहिए तथा दिन के शारीरिक एवं वैदिक नियमों का भी वास्तविक अर्थ के विषय में चिन्तन कर लेना चाहिए।[४]

---

१. मनुस्मृति, ४.१५२
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावन जनम्।

२. देवल, पराशर-माधव से उद्धृत पृ. सं. २१३
आ शौचन्नोत्सृजच्छिन्नं प्रस्रवोच्यारयो पि।
गुदं हस्तं च निमृज्यान्मृदम्भोमि मुर्हर्मुहः॥

३. पराशर—माधव से उद्धृत पृ. २०७
सूर्ययोदयात् प्रागद्धप्रहरे दो मुहूर्तो, तत्राद्यो बाह्ययोद्वितीयो रौद्र।

४. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.११५
ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय चिन्तयेदात्मनोहितम्।
धर्म्मार्थकामान् एवे काले यथाशक्ति न हापयेत्॥

कुछ स्मृति ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि प्रातःकाल उठने पर यदि वेदज्ञ ब्राह्मण, सौभाग्यवती स्त्री, गाय, वेदी (जहां अग्नि जलायी जाती हो) इत्यादि दिखलाई पड़े तो व्यक्ति विपत्तियों से छुटकारा पाता है, किन्तु यदि वह पापी, विधवा, अछूत, नंगा, नकटा इत्यादि दिखायी पड़ जायें, तो किसी विपत्ति या झगड़े की सूचना देते हैं। इसी परसंग में स्मृतिकार पराशर के मत से वैदिक यज्ञ करने वाले, कृष्ण पिंगल वर्ण गाय, सत्र करने वाले, राजा, संन्यासी तथा समुद्र को देखने से पवित्रता आती है, ये सभी सौभाग्यदायक हैं। इन्हें सदैव देखना चाहिए।[१]

दिन के प्रथम भाग में सम्पादित होने वाले शौच कृत्य के विषय में देवल का मत है कि मूत्र, पुरीष इत्यादि के उत्सर्ग के विषय में सदैव यह ध्यान रखना चाहिये कि ये विष्ठा एवं मूत्र त्याग कभी भी सन्ध्या एवं उपासना के मध्य नहीं किये जायें, अर्थात् उपरोक्त शौच कृत्यों से सन्ध्या उपासना से पूर्व निवृत्त होना आवश्यक है।[२]

महर्षि मनु एवं विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार मिट्टी का एक भाग मूत्रेन्द्रिय पर तीन भाग मलस्थान पर दस भाग बायें हाथ में, सात दोनों हाथों में तथा तीन दोनों पैरों में लगाने चाहिए।[३]

शौच की इतनी सीमा तो गृहस्थों के लिए बताई गई है। किन्तु ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों एवं संन्यासियों को दुगने, तिगुने, चौगुने, जितने की आवश्यकता हो उतने भागों से स्वच्छता करनी चाहिए।[४]

---

१. पराशर-स्मृति—१२.४६
अग्निचित् कपिला स्त्री राजा भिक्षुमहोदधि।
दृष्टामात्राः पुनन्त्येते तस्मात् पश्येतु नित्यशः।

२. पराशर माधव से उद्धृत—पृ. २१०
'विणमूत्रामाचरेत् नित्यं संध्यासु परिवर्जयेत्। इति तन्निरुद्धेत्तर-विषयम्। न वेगं धारयेत् नोपरुद्धः क्रियां कुर्यात्' इति।

३. मनुस्मृति—५.१३६
एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥

४. मनुस्मृति—५.१३७
एतच्छोचं गृहस्थानां बिगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्धनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्॥

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य का मत है कि मिट्टी के इतने भागों की व्यवस्था केवल इसलिए कही गई है कि अंग ठीक से स्वच्छ हो जायें, इस बात को गौतम, वसिष्ठ एवं मनु इत्यादि स्मृतिकारों ने एकमत से स्वीकार किया है ।

देवल स्मृति में भी शुद्धि एवं स्वच्छता के संबंध में यही भाव मिलता है । शिष्ट लोग मिट्टी के भाग की चिन्ता न करके, उतनी ही मिट्टी के प्रयोग को महत्व देते हैं जितने भाग से स्वच्छता या शौच प्राप्त हो जाये ।[१]

शौच से स्वच्छता प्राप्त करने के लिए, किस प्रकार की मिट्टी प्रयोग में लेनी चाहिये । उस विषय में देवल ने बताया है—कोयले अर्थात् शमशान की राख, गार, कृमियों द्वारा निकाली गई मिट्टी, लाल मिट्टी, बजरी, दीमक लगी हुई मिट्टी तथा गांव रास्ते की मिट्टी इसके अतिरिक्त घोड़े के खुरों से उड़ाई गई धूलि इत्यादि का निषेध बताया है । इनको स्वच्छता के लिये प्रयोग में नहीं लाना चाहिए ।[२]

आचमन

आचमन कृत्य भी नित्य कर्म माना गया है । स्वच्छता की दृष्टि से शौच कृत्य समाप्त करने के उपरान्त मुख को १२ बार कुल्लों से स्वच्छ करना चाहिये । इसके उपरान्त आचमन करना चाहिए । शिखा बांधकर एवं पीछे से परिधान को मोड़कर यह कृत्य करना चाहिए, पानी को करतल या हथेली में इतनी मात्रा में डालना चाहिए कि माष (ऊंद) का बीज डूब सके; अंगूठे एवं कानी अंगुली को छोड़कर अन्य तीनों अंगुलियों को मिलाकर (ब्राह्मतीर्थ हथेली के ऊपरी भाग) से जल पीना चाहिये ।

---

१. पराशर माधव से उद्धृत—पृ. ३६१
यावत्साध्विति मन्येत् तावच्छोचं विधीयते ।
प्रमाणं शौचं संख्यायां न शिष्टेरूपादिश्यते ॥

२. पराशर माधव से उद्धृत पृ.२१४
अङ्गार-तुष कीटास्थि-शर्करा-बालुकान्विताम् ।
बल्मीकोपरि तोयान्तः कुड्या-फाल-श्मशानजाम् ॥
ग्रामवाह्यान्तरालस्थां बालुकां पाशुंरुपिणीम् ।
आहृतामन्यशौचार्थमाददीत न मृत्तिकाम् ॥

आचार्य माधव ने अभिप्रेत मत को उद्धृत किया है कि शौच से निवृत्त होकर, पानी एवं मिट्टी से हाथ-पैरों को धोना चाहिए, एवं शिखा बांधकर ही द्विज को आचमन सम्पादित करना चाहिए।[१]

याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण को प्रतिदिन दोनों घुटनों के बीच हाथ रखकर, पवित्र स्थल पर उतर या पूर्वाभिमुख बैठ करके ब्रह्मतीर्थ द्वारा आचमन करना चाहिए।[२]

तीर्थ शब्द का अर्थ है दाहिने हाथ का वह भाग जिसके द्वारा धार्मिक कृत्यों में जल ग्रहण किया एवं गिराया जाता है। शरीर के ऐसे भागों को देवताओं के नाम से सम्बोधित किया जाता है। बहुत-सी स्मृतियों में चार तीर्थों के नाम आये हैं। इनको क्रमशः प्राजापत्य, पित्रय, ब्राह्म एवं दैव तीर्थ माना जाता है।

१. दैव तीर्थ—जब ब्राह्मण अपने दाहिने हाथ के अगले भाग को पूर्वाभिमुख करता है।

२. पित्रय तीर्थ—में दाहिने हाथ के दाहिने भाग से आचमन किया जाता है।

३. ब्राह्म तीर्थ में अंगुलियों के सामने के भाग द्वारा आचमन कृत्य सम्पन्न होता है।

४. प्राजापत्य तीर्थ में कानी अंगुली के पास वाला भाग माना जाता है।

जल के अभाव में यदि आचमन कृत्य अनिवार्य हो, तो दाहिना कान छू लेना ही पर्याप्त माना गया है।[३]

---

१. पराशर माधव से उद्धृत, पृ० २२०
कृत्वा अथ शौचं प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ न मृज्जलै।
निबद्ध शिख-कच्छस्तु द्विज आचमनं चरेत्॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.१८
अन्तर्जनु शुचौ देश उपविष्ट उद्ङमुखः।
प्राग्वा ब्राह्मेन तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत॥

३. याज्ञवल्क्य १.१९
कनिष्ठादेशिन्य अंगुष्ठमुलान्यग्रं करस्य च।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्युक्रमात्॥

मनु-स्मृति में आचमन विधि चार प्रकार की कही गई है— जैसे—पौराणिक, स्मार्त, आगम, श्रौत आदि ।

१. पौराणिक विधि में आचमन के समय केशव, माधव एवं नारायण आदि के स्मरण किये जाते हैं ।

२. स्मार्त विधि में जैसा नियम स्मृति ग्रन्थों में वर्णित है वैसा आचरण करना ।

३. आगम विधि के अनुसार जैसा शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों की पुस्तकों में वर्णन किया गया है ।

४. श्रौत विधि जैसाकि वैदिक यज्ञों के लिए श्रौत सूत्रों में बताया गया है, अपितु आधुनिक काल में पौराणिक विधि ही बहुधा प्रयोग में लायी जाती है । अन्य विधियों की अपेक्षा यह सरल एवं व्यावहारिक भी है ।[१]

याज्ञवल्क्य स्मृति में स्मार्त विधि को प्रतिपादित किया गया है । तीन बार जल पीकर (अंगूठे और उसके मूल भाग से) दो बार मुख धोकर, नाक, कान, आंख और मुंह का जल से स्पर्श करे । वह स्वच्छ जल होना चाहिये, उसमें झाग या बुलबुले न हों ।[२]

दन्त धावन

दन्त धावन भी दैनिक कृत्य है । इसे भी नित्य कर्मों की श्रेणी में रखा गया है । आचमन कृत्यों के उपरान्त तथा स्थान कर्म से पूर्व इसका पालन किया जाता है । भारत में प्राचीन काल से ही दन्तधावन की व्यवस्था चली आ रही है । दन्तधावन एक स्वतंत्र कृत्य है । यह स्नान एवं प्रातःकाल की संध्या का कोई अंग नहीं है ।

---

१. मनुस्मृति ६०.२
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूले ग्रे देवं पित्र्यं तयोरधः ॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२०
त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य खान्यदिभः समुपस्पृशेत् ।
उद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुदबुदैः ॥

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य के अनुसार द्विज को प्रातः मलमूत्रोत्सर्ग से निवृत्त होकर दातुन या दन्तधावन कृत्य करना चाहिए, उसके पश्चात् ही उसे प्रातकालीन संध्या की उपासना करनी चाहिए ।[१]

इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब धर्म सूत्र में रजस्वला स्त्री के लिये दन्तधावन का निषेध बतलाया गया है । रजस्वला स्त्री को दन्तधावन नहीं करना चाहिये, अन्यथा उत्पन्न सन्तान के दांत काले हो जायेंगे ।[२]

टीकाकार अपरार्क ने देवल के उद्धरण से स्पष्ट किया है कि दन्तधावन उस क्रिया को कहते हैं जिसके करने से दांतों के बीच के अन्नांश तथा गन्दगी दूर हो जाये तथा मुख स्वच्छ हो जाये ।[३]

गोतम स्मृति में कहा गया है कि जो ब्रह्मचारी गुरुकुल से अध्ययन समाप्त कर लौट आया है उसे बाद में यदि गुरु का सम्पर्क हो जाये तो दन्तधावन, शरीर मर्दन, केशविन्यास इत्यादि कृत्य नहीं करने चाहिये अर्थात् उस ब्रह्मचारी को बहुत देर तक दन्तधावन करने का आनन्द नहीं लेना चाहिए ।[४]

स्मृतियों के समय में दातुन से ही दन्तधावन क्रिया की जाती है । वह दातुन भी नीम, शहतूत या कीकर की होती थी । इसी संबंध में विभिन्न स्मृतिकारों यथा नारद, अंगिरा एवं विष्णु इत्यादि ने दातुनों के प्रकार भी गिनाये हैं तथा किस वृक्ष की कितनी बड़ी टहनी प्रयोग में लेनी चाहिए । दातुन के निम्न नियम बताये हैं—ऐसे वृक्ष की टहनी हो, जिसके तने में कंटक न हों और टहनी तोड़ने पर जिससे दूध या रस न निकले ।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.९५
शरीरचिन्ता निर्वत्य कृतशौचविधिद्विजः ।
प्रातः संध्यामुपासीत् दन्तधावन पूर्वकम् ॥

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१ ।२ ।८.।५)

३. याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरार्क टीका से उद्धृत—
द्विस्तथा ङ्गुष्ठमूलेन परिमृज्यात्ततो मुखम् ।
नाग्राङ्गल्या न पृष्ठैवा परिमृज्यात्कथंचनः ।

४. गोतम स्मृति २.९
गुरुदशने चोतिष्ठेत् गच्छन्त मनुव्रजेत् कर्म विज्ञाप्यख्यायाहूताध्यायीः युक्त पिर्यहितयोस्तद्भायापुत्रेषु नैवम् । नोच्छिष्टाशनस्तपनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्मर्दनोपसंग्रहानि ।

उक्त प्रकार की टहनी प्रयोग में लानी चाहिए। ये टहनियां स्वाद में काषाय, तिक्त एवं कटु होनी चाहिए, वृक्षों में वट, असन, अर्क, खदिर, करंज, बदर, निम्ब, अरिभेद, मालती, बिल्व, आम, पुन्नाग एवं शिषीष इत्यादि की टहनियां प्रयोग में लानी चाहिए।[१]

दन्तधावन क्रिया में निम्नलिखित वृक्ष की दातुन प्रयोग में नहीं लानी चाहिए। वे सब—पलाश, श्लेष्मातक, अरिष्ट, विभीतक, धव, बन्धुक, शिगु, तिल्व, इगदु, गुग्गलु, शमी, पीलु, पिप्पल, कोविदार इत्यादि हैं।

ये टहनियां शुष्क या अशुष्क दोनों हो सकती हैं, किन्तु पेड़ की सूखी टहनियां प्रयोग के लिये ठीक नहीं होती हैं। यह क्रिया उतर या पूर्वाभिमुख होकर करनी चाहिए, न कि पश्चिम या दक्षिण दिशा की ओर मुख करके। दातुन की टहनी बारह अंगुल लम्बी एवं कानी अंगुली की पोर जितनी मोटी होनी चाहिए।

दन्तधावन का निषेध (दन्तधावन)

दन्तधावन कृत्य का किसी तिथि एवं स्थिति विशेष में निषेध भी मिलता है। लघु हारीत के मत से प्रतिपदा, पर्व की तिथियों, जिस दिन चन्द्र दिखाई पड़े; पूर्णमासी, अमावस, अष्टमी, चतुर्दशी तथा उस दिन जब सूर्य नयी राशि में जाये, इन सभी तिथियों में दन्तधावन का वर्जन किया गया है।[२]

विष्णु-पुराण के अनुसार (१३.११.११८) षष्ठी, नवमी या जिस दिन दातुन न मिले, दन्तधावन का त्याग होना चाहिये तथा केवल १२ कुल्लों से मुंह स्वच्छ कर लेना चाहिए। दन्तविहीन लोग कुल्लों से या मुंह में पानी से मुख स्वच्छ कर

१. विष्णु धर्मसूत्र—६१.१४,१५
वटासनार्कखदिरक जबदरसर्ज निम्ब अरिभेद अपामार्गमालतीककुभ बिल्बनाम् अन्यतम्। काषायं तिक्तं कटुकं च।
आम्रपलाशबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः। खादिस्य कर जस्य कदम्बस्य तथैव च॥
अर्कस्य करवीरस्य कुटजस्य विशेषतः।वाग्यतः प्रातरुत्थाय भक्षयेत दन्तधावनम्॥

२. लघु हारीत स्मृति—४.१०,११
प्रतिपत्पर्वषष्ठीषु नवम्या चैवसप्तमा।
दन्तानां काष्ठसंयोगाछहत्यासप्तमं कुलम॥
अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धनेषु च।
अपां द्वादशगण्डूषेः मुखशुद्धिं समाचरेत्॥

सकते हैं । जिस दिन का निषेध विधान न हो, उस दिन जिह्वा को भी स्वच्छ कर लेना चाहिए । विशेषकर श्राद्ध के दिन, यज्ञ के दिन, नियम पालते समय, पति के विदेश रहने पर, अजीर्ण होने पर, विवाह के दिन, उपवास या व्रत में दन्तधावन का निषेध मिलता है ।

विष्णुधर्मसूत्र में न केवल प्रातःकाल, प्रत्युत प्रत्येक भोजन के उपरान्त दन्तधावन करने की व्यवस्था की है ।[१]

स्मृतिकार देवल के अनुसार दन्तधावन दांतों के बीच के अन्नांश को निकालने के लिए किया जाता है । इस प्रकार का मत केवल देवल का अपना मत है । अन्य किसी स्मृतिकार ने दन्तधावन क्रिया को परिभाषित नहीं किया है ।[२]

स्नान कर्म

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों एवं स्मृतियों में स्नान कर्म को भी नित्य कर्म माना है । दन्तधावन के उपरान्त स्नान कृत्य ही सम्पादित किया जाता है । शौच से सम्बन्धित आचमन, स्नान, जप, होम एवं अन्य सभी कृत्यों में कुश को दाहिने हाथ में रखना होता है । अतः दन्तधावन कृत्य के पश्चात् क्रमशः स्नान कर्म भी नित्य कर्मों में महत्वपूर्ण कर्म माना गया है । क्योंकि स्नान के अभाव में कोई भी धार्मिक कर्म सम्पन्न नहीं किया जा सकता ।

उपरोक्त सभी कर्म आचमन, स्नान, जप, होम इत्यादि कृत्य कुशयुक्त होकर सम्पन्न किये जाते हैं । यहां 'कुश' से तात्पर्य विशेष प्रकार के दर्भ से है । कूर्मपुराण के अनुसार बिना दर्भ एवं यज्ञोपवीत के जो कृत्य किया जाता है, उससे इहलोक एवं परलोक में कोई फल नहीं मिलता । वह कर्म निष्फल रहता है ।[३]

---

१. विष्णुधर्मसूत्र—६१.१६

२. देवल पराशर माधव से उद्धृत, पृ. २२६
भोजने दन्त लग्नानि निहृत्याचमनं चरेत् ।
दन्त-लग्नमसंहार्य्यलेपं मन्येत् दन्तवत् ॥

३. कूर्मपुराण, २.१२.१३-१४
मौं जी त्रिवृत समा श्लक्षणा कार्या विप्रस्य मेखला ।
मु जाभावे कुशनोहुग्रन्थिनैकेन वा त्रिभिः ॥

शातातप के मतानुसार जप, होम, दान, स्वाध्याय (वेदाध्ययन) या पितृ तर्पण के समय दाहिने हाथ में सोना चांदी एवं कुश रखने चाहिए।[१]

सामान्य रूप से आचमन आदि करते समय दाहिने हाथ या दोनों हाथों में दर्भ का पवित्र (अंगूठी के समान गोल छल्ला) रखना चाहिए, जो अनामिका अंगुली में पहना जाता है, या उस समय दाहिने हाथ में कुश रखना चाहिए।[२]

कुश कई प्रकार से धारण किया जाता है। कुश धारण के प्रकार हैं, यथा भाद्रपद मास की अमावस को कुश एकत्रित करने चाहिये क्योंकि उस दिन एकत्र किये गये कुश कभी पुराने नहीं पड़ते और पुनः प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

पवित्रता की दृष्टि से चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) को क्रमशः चार, तीन, दो एवं एक दर्भ के प्रयोग द्वारा पवित्र होना चाहिये। दर्भ एवं कुश में भेद बताया है। जिसमें आगे कोई अंकुर नहीं फूटते वह दर्भ माना गया है, और जिसमें पुनः अंकुर निकलते हैं वह कुश कहलाता है, किन्तु जड़ के साथ दर्भ को कुतप तथा जिसके ऊपरी पोर काट डाले गये हैं वह तृण कहलाता है।[३]

कुश एवं दर्भों का वर्ण भेद बताते हुये कात्यायन ने कहा है कि यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले दर्भों का रंग हरा, तथा पाक यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले का रंग पीला होना चाहिए, पितरों के श्राद्ध वाले दर्भ जड़ सहित होने चाहिये तथा वैश्वदेव के लिये प्रयुक्त होने वाले विभिन्न रंग के होने चाहिये।[४]

---

१. शातातप स्मृति—
जपे होम तथा दाने स्वाध्याये पितृतर्पणे।
अशून्यं तु करं कुर्यात्सुवर्णरजतैः कुशैः॥

२. स्मृति चन्द्रिका, आशौच काण्ड—१, पृ. १०८
हस्तद्वये दर्भधारणं हस्तद्वये पवित्रधारणं दक्षिणे वामे कुशा दक्षिण एवोभयमिति।

३. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ३६५

४. कात्यायन स्मृति—२.२
हरिता यज्ञिया दर्भा : पीतकाः पाकयज्ञियाः।
समूलाः पितृदैवत्याः कल्माषाः वैश्वदेविकाः॥

स्मृतिकार शंख का मत है कि दर्भ या कुश के अभाव में कास या दूर्वा का प्रयोग कर लेना चाहिये। तथा पितृ तर्पण के समय प्रयुक्त दर्भ फैंक देने चाहिये।[1]

स्नान कर्म

विभिन्न सूत्रों, स्मृतियों एवं निबन्धों में स्नान विधि को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया है। स्नान भी नित्य कर्म है। स्नान का अर्थ कई दृष्टियों से ग्रहण किया गया है; जैसे मुख्य रूप से स्नान चार प्रकार का है। जैसे—

१. मुख्य स्नान (जल के साथ)

२. गौण स्नान (बिना जल के स्पर्श मात्र से माना जाने वाला)

३. नैमित्तिक स्नान (किन्हीं विशेष अवसरों पर किया जाने वाला)

४. काम्य स्नान (इच्छित या फल प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला)

सभी वर्णों को प्रतिदिन जल में या जल से पूरे शरीर के साथ (सशिर) स्नान करना चाहिए। अपितु द्विजातियों को यह स्नान कृत्य वैदिक मन्त्रों के साथ संपादित करना चाहिए। इसे ही नित्य स्नान कहते हैं।[2]

नित्य स्नान के बिना होम, जप एवं अन्य कृत्य सम्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि स्नान के अभाव में शरीर गन्दा रहता है। इस गन्दे शरीर से दिन रात गन्दगी निकला करती है, अत: प्रतिदिन स्नान द्वारा शरीर को स्वच्छ रखने की व्यवस्था की गई है। शरीर को स्वच्छ रखने से दृश्य एवं अदृश्य फलों की प्राप्ति हुआ करती है। स्मृतियों में प्रतिपादित नियमानुसार दन्तधावन के उपरान्त सूर्योदय के पूर्व ही स्नान कर्म समाप्त कर लेना चाहिये।[3]

---

१. शंख स्मृति—पराशर माधव से उद्धृत—पृ. २३६
कुशाभावे द्विजश्रेष्ठः काशैः कुर्वीत् यत्नतः।
तर्पणादिनि कर्म्माणि काशाः कुश-समाः स्मृताः॥

२. मनुस्मृति—१७६.२
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद देवर्षि पितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

३. शंख-स्मृति—२८
अस्तातः पुनरानहां जर्प्याग्रहवनादिषु।
प्रात स्नानं तदर्थं च नित्यं स्नानं प्रकीर्तितम्॥

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों को दिन में दो बार, प्रथम प्रात: स्नान, दूसरा मध्याह्न में स्नान का निर्देश दिया है। तथा यतियों एवं वानप्रस्थों के लिए दिन में तीन बार स्नान की व्यवस्था बतायी है। परन्तु ब्रह्मचारियों को दिन में एक बार तथा वानप्रस्थों को दो बार स्नान करना चाहिये।[१] इसके अतिरिक्त रोगी व्यक्ति को अपराह्न में स्नान वर्जित है।

स्मृतिकार पराशर ने विशेष रूप से रात्रि स्नान की निमित या विशिष्ट अवसर पर व्यवस्ता की है। वैसे सामान्यत: रात्रि स्नान वर्जित है, अपितु ग्रहण में, विवाह के समय, किसी के जन्म या मरण पर या किसी व्रत के समय यह वर्जित नहीं है।[२]

नित्य स्नान शीतल जल से होना चाहिये। साधारणत: गर्म जल वर्जित है। शंख एवं दक्ष के अनुसार गर्म जल या फिर दूसरे व्यक्ति के लिये रखे हुए जल से स्नान करने पर अदृश्य आध्यात्मिक फल प्राप्त नहीं होता।[३]

नैमित्तिक एवं नित्य स्नान तो प्रत्येक दशा में शीतल जल से ही सम्पन्न होते हैं, केवल नित्य स्नान में ही कभी-कभी अपवाद पाया जाता है।

मनु, याज्ञवल्क्य, दक्ष, व्यास एवं शंख इत्यादि स्मृतिकारों का मतैक्य है कि नित्य प्रतिदिन स्वाभाविक जल में अर्थात् नदियों, वापियों, झीलों, गहरे कुण्डों एवं जल-प्रपातों में स्नान करना चाहिए। यदि इस प्रकार का जल न मिले तो घर के आंगन के कूपजल से इस प्रकार स्नान करे कि वस्त्र भींग जाये।[४]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—४८.३
दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात्। स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वत्वहिते रतः॥

२. पराशर-स्मृति—१२.२५
पुत्र-जन्मनि यज्ञे च तथा चाव्ययकर्मणि। राहोश्च दर्शन स्नानं प्रशस्तंनान्यदा निशिः॥

३. शंख स्मृति—८.९,१०
तीर्थाभावे तु कर्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः।
स्नानं तु वह्नितप्तेन तथैव परवारिणाः॥
शरीर शुद्धिविज्ञेया न तु स्नान फलं लभेत्।
अद्भिगात्राणि शुंध्यन्ति तीर्थस्नानत्फलं लभेत्॥

४. व्यस स्मृति—३.७,८
तीर्थाभावे च्यशक्त्यां वा स्नायात्तोयः समाहतेः।
गृहाङ्गणगणस्तत्र यावदम्बरपीडनम्॥
स्नान शब्दैवतैः कुर्यात् पावनैश्चापि भार्जनम्॥

नैमित्तिक स्नान के सम्बन्ध में स्मृतिकार पराशर का मत है कि सूर्यग्रहण के समय जब राहु सूर्य को ग्रसता है, तब सब प्रकार का जल गंगा जल के समान हो जाता है तथा इसी प्रकार चन्द्रग्रहण के समय भी स्नान कृत्य किया जा सकता है ।[१] नैमित्तिक स्नान के विषय में महर्षि देवल का भी यही मत है । किसी विशेष तिथि, नक्षत्र या जन्म-मरण के समय तथा किसी तीर्थ स्नान में रात्रि स्नान करने में कोई दोष नहीं होता है ।[२] काम्य स्नान के अन्तर्गत वे स्नान गिने जाते हैं जो किसी तीर्थ को जाते समय पुष्य नक्षत्र में चन्द्रोदय के समय तथा इच्छा की पूर्ति के लिये किये जाते हैं । उन्हें ही काम्य स्नान की संज्ञा प्रदान की है ।

स्नान विधि के नियम

विभिन्न स्मृतिग्रन्थों में स्नान विधि के विविध नियम निर्धारित किये गये हैं । जिस प्रकार श्रौत यज्ञ करने वालों के लिये प्रातः का स्नान संक्षिप्त होता है । शरीर से धूल झाड़कर तथा जल में भुरभुरी मिट्टी से गन्दगी साफ या स्वच्छ करके ही जल में उतरने का विधान मिलता है । उसके पश्चात् ऋग्वेद् की तीन ऋचाओं के साथ जल का अभिमन्त्रण करना चाहिए, जैसे—१. आपोहिष्ठा, २. हिरण्यवर्णाः तथा इदमापः प्रवहतः इत्यादि को उच्चारित किया जाना चाहिए । ऋग्वेद में कहा गया है कि पानी में खड़े होकर तीन बार 'अधमर्षण सूक्त', 'ऋतं च सत्यम्' या 'तद् विष्णोः परमं पदम्', 'दुपदा' या 'यु जते मनः' के साथ 'पुरुष-सूक्त' स्मरण करना चाहिए, स्नानान्तर भीगे कपड़ों सहित जल में ही देवताओं और पितरों का तर्पण करना चाहिए । बिना वस्त्र बदले, जल के बाहर आ जाने पर भी तर्पण किया

---

१. पराशर स्मृति—१२.२६
सर्व गङ्गासर्म तौयं राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
सोमग्रहे तथैवोक्त स्नानदानादिकर्मसु ॥

२. व्यास-स्मृति १४ ।४
'गङ्गा द्वारे प्रयागे च अविमुक्ते च पुष्करे ।
मकरे चाट्टहासे च गङ्गा सागर-सङ्गमे ॥
कुरुक्षेत्रे गया-तीर्थे तथाचामर-कणटके ।
एवमादिषु तीर्थेषु दत्तमक्षयताभियात् ॥

जा सकता है । ऐसा विधान आज भी विद्यमान है, बहुत से ब्राह्मण ऐसे ही पुरुष सूक्त का पाठ करते हैं ।[१]

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार अपरार्क के अनुसार यदि कोई व्यक्ति विस्तार पूर्वक स्नान करना चाहे तो संक्षेप में उसे जल का अभिमन्त्रण, आचमन, मार्जन (कुश द्वारा शरीर पर जल का छिड़कना) स्नान तथा अधर्मषण ही किया जाये, यह सब क्रिया स्नान के लिए पर्याप्त है । स्नान की यह विधि सभी वर्णों के लिए समान है, केवल शूद्रों के लिए वैदिक मन्त्रपाठ वर्जित बताया है ।[२]

स्नान के आवश्यक नियम

स्नान करते समय कुछ नियमों का पालन आवश्यक है जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए । गौतम स्मृति के अनुसार वस्त्र-रहित होकर स्नान नहीं करना चाहिये और सारे कपड़ों में, केवल नीचे का वस्त्र धारण करके स्नानयुक्त होना चाहिए ।[३]

स्मृतिकार मनु का मत है कि स्नान भोजन से पूर्व करना चाहिए, भोजन के उपरान्त नहीं । जल के भीतर मूत्र त्याग एवं शरीर का मार्जन नहीं करना चाहिये, ये सब कृत्य किनारे पर आकर ही करने चाहिये ।[४]

जल स्नान को भी छह भागों में बांटा गया है, जैसे—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियांग, मलापर्कषण (अभ्यंग) एवं क्रियांग स्नान इत्यादि ।

१. नित्य—प्रतिदिन का स्नान होता है ।

२. नैमित्तिक—किन्हीं विशेष अवसरों, विशिष्ट व्यक्तियों एवं विशिष्ट पदार्थों से स्पर्श हो जाने पर ही सम्पादित किया जाता है ।

---

१. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ३६६

२. याज्ञवल्क्य स्मृति

३. गोतम स्मृति—९०.९
कदाचिद्रात्रौ नग्नः स्वपेत् स्नायाद्वायच्चात्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभमोहवियुक्ता वेदविदआचक्षते तत्समाचरेत ।

४. शंख-स्मृति—१८
नित्यं नैमित्तिकं कामं क्रियाङ्गं मलापर्कणम् ।
क्रियास्नानं तथा षष्ठं षोढा स्नान प्रकीर्तितम् ॥

३. काम्य—किसी तीर्थ को जाने पर या पुष्य नक्षत्र में चन्द्रोदय के समय किया जाने वाला स्नान है ।

४. क्रियांग—किसी कूप, वाटिका, मन्दिर तथा अन्य जन कल्याणार्थ के समय किया जाने वाला क्रियांग स्नान है ।

५. अभ्यंग अथवा मलापर्कषक—यह शरीर में तेल एवं आंवला या लेप लगाकर शरीर को स्वच्छ करने की इच्छा से किया जाने वाला स्नान है ।

६. क्रियाङ्ग—क्रियाङ्ग वह स्नान होता है, जब कोई व्यक्ति किसी तीर्थ स्थान पर यात्रा के प्राप्त्यर्थ स्नान कृत्य को करता है, उस क्रिया को ही क्रियाङ्ग स्नान कहा जाता है ।[१]

स्नान के फलस्वरूप गुणों की प्राप्ति

महाभारत एवं अन्य स्मृतिकारों के अनुसार ज्ञात होता है कि स्नान द्वारा दस गुणों की प्राप्ति होती है । वे दस गुण—बल, रूप, स्वर एवं वर्ण की शुद्धि, शरीर मधुर एवं गन्धयुक्त होता है, स्पर्श से विशुद्धता श्री, सौकुमार्य एवं सुन्दर स्त्री प्राप्ति होती है ।

गौण स्नान

गौण स्नान से तात्पर्य है जब साधारण मुख्य स्नान करने में कोई कठिनाई हो या समयाभाव के लिये गौण स्नान की व्यवस्था की गई है । ये स्नान रोगियों के लिये भी वर्जित हैं । गौण स्नान छः हैं—मन्त्र स्नान, भोम स्नान, आग्नेय स्नान, वायव्य स्नान, दिव्य स्नान तथा मानस स्नान ।

स्मृतिकार पराशर ने भौम एवं मानस प्रकारों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के गौण स्नानों की चर्चा की है । इन पांच स्नानों का ही पुण्य बताया है । आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य एवं दिव्य स्नान इत्यादि हैं ।[२]

---

१. महाभारत (उद्योग पर्व) ३७.३३
गुणा दश स्नान शीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्ण शुद्धिः ।
स्पर्शश्न गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्य प्रवराश्चनार्यः ॥

२. पराशर स्मृति—१२.९
स्नानानि पंच पुण्यानि कीर्तिमानानि मनीषिभिः
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च ॥

१. जो भस्म से मार्जन किया जाता है, वह आग्नेय स्नान कहलाता है।

२. जिसमें जल से स्नान हो, वह वारुण स्नान कहलाता है।

३. 'आपो हिष्ठा' नामक तीन वैदिक मंत्रों से जो स्नान किया जाता है, वह वायव्य स्नान कहा जाता है।

४. धूप के निकलने पर यदि बादलों में वृष्टि होती है, तो उन बूंदों में स्नान करना दिव्य स्नान कहा जाता है।

५. इस दिव्य स्नान से मनुष्य को गंगा स्नान का फल मिलता है, उसको ही ब्राह्म स्नान कहा गया है।

शुद्धिः

शुद्धि के अंतर्गत जन्म-मरण के समय की अशुद्धि तथा अशौच; किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से तथा कुछ घटनाओं के कारण उत्पन्न अपवित्रता यथा—पात्रों (बरतनों), कूप एवं भोजन आदि पदार्थों की शुद्धि का विवेचन किया गया है। शुद्धि के अन्तर्गत 'अशौच' का सबसे अधिक महत्व है। शुद्धि-कौमुदी के अनुसार शुद्धि की परिभाषा है, कि वेद से बोधित कृत्यों के सम्पादन की दशा या उन्हें करने की योग्यता की स्थिति ही शुद्धि है।[१] जबकि स्मृतियां शुद्धि शब्द अशोच के उपरान्त ही शुद्धि के अर्थ में लेती हैं।

इस प्रसंग में स्मृतिकार मनु ने प्रेत शुद्धि एवं द्रव्य शुद्धि को शुद्धि ही माना है।[२]

पराशर स्मृति के तृतीय अध्याय में भी जन्म-मरण की शुद्धि को अशौच के अन्तर्गत ही माना है। अत: जन्म-मरण से प्राप्त अशौच के सम्बन्ध में चारों वर्णों

---

१. शुद्धि कौमुदी—१, पृ. १ 'वेदबोधित-कर्माहता शुद्धिः'।

२. मनुस्मृति—५७.५
प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः॥

को क्रमशः ब्राह्मण को तीन दिन में, क्षत्रिय को बारह दिन में, वैश्य को पंद्रह दिन में तथा शूद्र एक महीने में शुद्ध होते हैं ।[१]

कुछ स्मृतियों में 'अशोच' शब्द को 'आशुच्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । यथा देवल स्मृति में 'आशुच्य' को ही अशोच कहा गया है ।[२]

देवल स्मृति के अनुसार मृतक-सूतक के चारों वर्णों की शुद्धि के सम्बन्ध में कहा है कि ब्राह्मणों को दस दिन में, क्षत्रियों को आठ दिन में, वैश्यों को बीस दिन में तथा शूद्र एक महीने में शुद्ध होते हैं ।[३] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि स्मृतिकार पराशर एवं देवल का मृतक-सूतक के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टिकोण है ।

देवल के अनुसार शौच का लक्षण है, कि मिट्टी, पानी एवं गोबर से प्राप्त स्वच्छता एवं पवित्रता । अर्थात् क्रमशः मिट्टी, पानी एवं गोबर के प्रयोग से जो' स्वच्छता प्राप्त होती है, वह अशौच माना गया है ।[४]

स्मृतियों के सामान्य नियम के अन्तर्गत माना गया है कि द्रव्यों एवं गन्दी वस्तु से लिप्त शरीर को शुद्ध करने के लिए जल एवं मिट्टी का प्रयोग तब तक करते रहना चाहिए, जब तक दुर्गन्ध एवं गन्दी वस्तु दूर न हो जाये । पूर्वोक्त नियम को देवल ने कुछ भिन्न रूप में बताया है ।

---

१. पराशर स्मृति—१,२.३
अतः शुद्धि प्रवक्ष्यामि जनने मरणे तथा ।
दिनत्रयेण शुद्धयन्ति ब्राह्मणाः प्रेत्सूतके ॥
क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहकैः ।
शूद्र शुद्धयति मासेन पराशर वचो यथा ॥

२. देवल, हारलता, पृ. २
जनने मरणे नित्यमाशुच्यमनुधावति ।
आशुच्यं दशरात्रं तु सर्वत्राप्यपरे विदुः ॥

३. देवल पराशर माधव से उद्धृत पृ. ५७०
दशाहं ब्रह्णान्तु क्षत्रियाणां त्रिप चकम् ।
विशंद्रात्रं तु वैश्यानां शूद्राणां मासमेव हि ॥

४. देवल—कृत्यकल्पतरु, शुद्धि काण्ड, पृ. १२०
शोचलक्षणमित्याहुर्मदभ्योगोमयादिभिः ।
लेपे स्नेहे च गन्धे च व्यपकृष्टे सुदुरतः ॥

अशौच के अतिरिक्त शुद्धि के अन्य स्वरूपों के अन्तर्गत द्रव्य शुद्धि को भी महत्वपूर्ण माना गया है। द्रव्य-शुद्धि का तात्पर्य है किसी वस्तु से लगे हुए दोष का दूरीकरण है। यह दूरीकरण शरीर शुद्धि एवं बाह्य शुद्धि दोनों प्रकार का होता है।[१]

देवल ने भी यही मत प्रतिपादित किया है कि धूल से युक्त पदार्थ, तेल, चिकनाई एवं अशुद्ध करने वाली गन्ध के मिट्टी, जल, गोबर आदि से दूरीकरण को शौच माना है।

मिताक्षराकार ने अशौच को पुरुषगत अशौच कहा है, जो काल, स्नान आदि से अलग या दूर होता है। जो मृत को पिण्ड, जल आदि देने का प्रमुख कारण है और जो वैदिक अध्यापन तथा अन्य कृत्यों को छोड़ने का कारण बनता है।[२] अर्थात् अभिप्राय: है कि अशौच धार्मिक कर्म करने के अधिकार एवं योग्यता का द्योतक मात्र नहीं है, क्योंकि उन लोगों को, जो जन्म या मरण पर अशुद्ध हो गये हैं, जल-तर्पण आदि कृत्य करने ही पड़ते हैं। अत: गौतम स्मृति में अशोच को धार्मिक कृत्यों के सम्पादन की हीनता, अयोज्यान्ता, अस्पृश्यता एवं दानादि देने की अनधिकारिता के अर्थ में लिया है।[३]

अशौच की दो विशेषतायें बताई गई हैं, जैसे—

१. यह धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का अधिकार छीन लेता है।

२. यह व्यक्ति को कुछ समय विशेष में अस्पृश्य भी बना देता है।

अशौच के प्रकार

अशौच के दो प्रकार हैं—जननाशौच एवं मरण शौच।

---

१. देवल अपरार्क से उद्धृत, पृ. २५२
द्रव्यस्य दोषापगमः शुद्धिः। तत्र द्विविधा शुद्धि शरीर शुद्धिः बाह्यद्रव्यशुद्धिश्च।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.३
'आशौच' शब्देन च कालस्नानद्यपनोद्यः पिण्डोदकदानादिविधैः अध्ययनादिपर्युदासस्य च निमित्तभूतः पुरुषगतः कश्चनातिशयः कथ्यते, न पुनः कर्मानधिकारमात्रम्।

३. गोतम स्मृति—१४.१
पूर्वोवावरं तत्र शावोक्तमाशौचं पतित चाण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टित-स्पृष्टस्युस्पर्शने सचेलोदकोस्पर्शनाच्छु द्वयेच्छवानुगमे च शुनश्च यदुपहन्चयादित्येके उदकदानं सपिण्डैः कृतचूडस्थ तत्स्त्रीना चानतिभोग...।

१. प्रथम, जन्म से उत्पन्न अशौच, जिसे जननाशौच या 'जन्म सूतक' भी कहा जाता है ।

२. द्वितीय, मृत्यु से उत्पन्न अशौच, जिसे मृतकासौच या 'शवाशौच' भी कहा जाता है ।[१]

जिस प्रकार शाव शब्द से शव बना है, उसी प्रकार से जातक शब्द का पर्यायवाची 'सूतक' शब्द से माना गया है । क्योंकि 'जात' शब्द से पैदा होना अर्थ ग्रहण किया जाता है, तो 'सूतक' शब्द से भी सम्भवत: जन्म एवं मरण से उत्पन्न अशुद्धि का द्योतक है ।

'सूतक' शब्द स्मृतियों में तीन अर्थों में ग्रहण किया गया है—जैसे—

१. जन्म के समय की अशुद्धि ।

२. जन्म एवं मरण की अशुद्धि ।

३. केवल मरण के समय की अशुद्धि ।[२]

परिवार-सूतक

जन्म एवं मरण सम्बन्धी अशुद्धि कुल या कुटुम्ब के सदस्यों एवं सम्बन्धियों की भी मानी जाती है । क्योंकि हारीत स्मृति का मत है कि कुल को मरणशौच होता हैं किसी की मृत्यु से पूरा कुटुम्ब अभिभूत या निराश पाया जाता है और जब कोई नया जीव जन्म लेता है या उत्पन्न होता है तब कुलवृद्धि के साथ-साथ सन्तुष्टि तथा आनन्द प्राप्त होता है ।

स्मृतिकार देवल के अनुसार भी जन्म एवं मरण शौच में कुटुम्बीजन तथा बन्धुबान्धव सभी प्रभावित होते हैं । सभी को जन्ममरणाशौच प्राप्त होता है ।[३]

---

१. स्मृति मुक्ताफल—पृ.४७७
'आशौचं द्विविधं कर्मानधिकारलक्षणं स्पृश्यत्वलक्षणं च ।

२. दक्ष-स्मृति—१.६
सूतकं तु प्रवक्ष्यामि जन्ममृत्युनिमित्तकम् ।
यावज्जीवं तृतीयं तु यथावदनुपूर्वशः ॥

३. देवल, कृत्यकल्पतरु (आशौच काण्ड)
जनने मरणे नित्यमाशौचमनुधावति ।
सपिण्डान् मातृबन्धुश्च इत्यादि ॥

चारों वर्णों के लिए आशौच से सम्बन्धित अवधियों के विषय में स्मृतिग्रन्थों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। और वे नियम मध्यकाल की परम्पराओं से इतने भिन्न हैं कि मिताक्षराकार ने अशौच की अवधियों का क्रम बैठाने में असमर्थता प्रकट की है।[१] इसी प्रकार शुद्धि के संबंध में, क्षत्रिय के अशौच को बारह दिन का न मानकर, आठ ही दिन का माना है, क्योंकि 'द्वादशाहेन' कथन स्मृति विरुद्ध है। अत: वसिष्ठ एवं देवल दोनों ने 'क्षत्रिय' के लिए पंद्रह का अशौच माना है।[२]

जातिशुद्धि

जाति शुद्धि के सम्बन्ध में पराशर एवं देवल स्मृति में सभी वर्णों की शुद्धि का क्रमपूर्वक वर्णन मिलता है। अपितु दोनों की अशौच अवधियों में पर्याप्त भिन्नता है। विभिन्न स्मृतियों ने एक ही समस्या को अलग-अलग ढंग से लिया है। स्मृतिकार पराशर ने वैदिक अग्निहोत्री ब्राह्मण एवं वह ब्राह्मण जिसने वेद पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह जन्म-मरण के अशौच से एक दिन में मुक्त हो जाता है। अपितु श्रोताग्नियां नहीं स्थापित की हैं, वह तीन दिनों में तथा जिसने दोनों नहीं किये हैं, वह दस दिनों में मुक्त होता है।[३]

स्मृतिकार देवल को भी अभिप्रेत है कि वह विप्र जिसने चारों वेदों का सम्यक् अध्ययन कर लिया हो, उसको महान् अशौच होता है। वेदाग्नि युक्त विप्र को तीन दिन का अशौच होता है। इनमें से वेदज्ञ ब्राह्मण एक दिन में मुक्त हो जाता है तथा कर्मयुक्त या अग्निहोत्री विप्र की 'सद्य' शुद्धि हो जाती है। इन सब गुणों से युक्त

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—२२.३
इत्येवमनेकोच्चावचाशौचकल्पा दर्शिता। तेषां लोके समाचाराभावान्नातीन व्यवस्थाप्रदर्शमुपयोगीति नात्र व्यवस्था प्रदश्यते।

२. देवल, परा. मा. से उद्धृत, पृ. ५७१
ननु क्षत्रियो द्वादशाहेन-इत्येतदप्यनेकस्मृतिविरुद्ध। तत्र वसिष्ठ-देवलाभ्यां क्षत्रियस्य प चदशाहाशौचमुक्तं, तद्वचनं चोदाहृतम्।

३. पराशर-स्मृति, ५.३
एकाहात् शुद्धयते विप्रो यो ग्निवेदसमन्वितः।
त्रयहात् केवलवेदस्तु द्विहीनो दर्शार्भदिनेः॥

क्षत्रिय (राजा) की ग्यारह या बारह दिन में और वैश्य की क्रम से पंद्रह या बारह दिन में तथा सेवा करने वाले शूद्र की आधे मास में शुद्धि व्यवस्था की है।[१]

सद्यःशौच

सद्यः शौच एवं एकाह। 'एकाह' का अर्थ है दिन एवं रात दोनों। सद्यःशौच का सामान्य अर्थ है कि तत्क्षण या उसी समय प्राप्त शौच से है।[२] याज्ञवल्क्य, पराशर एवं अत्रि इत्यादि स्मृतियों में सद्यःशौच शब्द का प्रयोग किया गया है।

अशौच के विषय में स्मृतिकारों में कुछ अपवाद भी मिलते हैं, वे अपवाद ऐसे विषयों से सम्बन्धित हैं जिनमें व्यक्ति अशौच में रहने पर भी कुछ ऐसे कर्म कर सकते हैं जिनसे उनको अशौच नहीं लग सकता, जिनके साथ वे व्यवहार या सम्पर्क में आते हैं। जैसे—शिल्पी या चित्रकार, कारुक या नौकर तथा रसोइया, वैद्य, नाई, राजा एवं श्रोत्रिय इत्यादि सद्यःशौच को प्राप्त करते हैं।[३] इसके अतिरिक्त वह ब्राह्मण जो आहिताग्नि को प्रतिष्ठित करने वाला है, तथा राजा को भी सद्यःशौच होता है, क्योंकि ये व्यक्ति जो कार्य करते हैं उन्हें अन्य कोई नहीं कर सकता, कम से कम उतना अच्छा एवं शीघ्रता से नहीं कर सकता। अतः इन्हें शौचाभाव तभी होता है जब वे अपने व्यवसाय आदि में संलग्न रहते हैं।

---

१. देवल, परा. मा. से उद्धृत, पृ. ५७२
नत्वार्थ धीतवेदानामहान्य शौचंभष्यते।
वेदाग्नि-युक्त-विप्रस्य त्र्यहमाशौचमिष्यते।
एताभ्यां श्रुत-युक्तस्य दिनमेकं विधीयते।
एतै साकं कर्मयुक्तः सद्यः शुचिरसंशय॥
एतेयुक्तस्य राज्ञस्तु द्वादशैकादशादरा।
वैश्यस्तु प चदशद्वादशैकादशक्रमात्॥
अर्द्धमासन्तु शुश्रुषोः शूदस्याशौचभिष्यते।

२. पराशर, कृत्यकल्पतरु पृ. 'नाशौचं तात्पर्यम् सद्यश्शौचे'

३. पराशर-स्मृति २०.३
शिल्पिनः कारुका वैद्या दासीदासाश्च नापिताः।
राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः॥

मनु का कथन है कि सामान्यत: दांत निकलने एवं चूड़ाकरण के पूर्व शिशुओं देशान्तरगत लोगों, संन्यासियों, असपिण्डों की मृत्यु पर सम्बन्धी स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं ।[१]

पराशर स्मृति में भी यही आशय व्यक्त किया गया है । जन्म से लेकर दांत निकलने से पूर्व यदि बालक की मृत्यु हो तो रात्रि तक अशुद्धि रहती है । चूड़ा कर्म के अनन्तर उपनयन संस्कार से पूर्व बालक की मृत्यु होने पर तीन रात्रि कें बाद होती है ।[२]

स्मृतिकार पराशर ने अग्निहोत्री ब्राह्मणों के संबंध में व्यवस्था की है कि पूजा अर्चना के समय ब्राह्मणों की अंग शुद्धि हो जाती है । तथा जन्म-सूतक के समय शरीर के स्पर्श मात्र या छू जाने से शुद्धि हो जाती है । उपासना शब्द से तात्पर्य संध्यावंदन, अग्निहोत्र इत्यादि अनुष्ठानों से है ।[३] इन सबका विधिवत् अनुकरण उपासना कहलाना है । उपरोक्त सभी गुणों से युक्त विप्र के शरीर स्पर्श से जन्म का अशौच स्माप्त हो जाता है । स्मृतियों में निर्देश किया है कि विप्र को संध्या, इष्टदेव पूजन तथा होम इत्यादि कर्मों को आजीवन अनुष्ठित करते रहना चाहिये क्योंकि इन कर्मों से युक्त विप्र को जन्म-मरण किसी भी स्थिति में सूतक में अशौच नहीं होता तथा साथ उसे वैदिक मन्त्रों का प्राणायाम सहित मन्त्रोच्चारण करते रहना चाहिये ।[४]

---

१. मनुस्मृति—८८.५
बालदेशान्तरितप्रव्रजिता सपिण्डानां सद्यःशौचम् ।

२. पराशर स्मृति—१९.३
आदन्ता जन्मतः सद्य अचूडान्नैशिकी स्मृता ।
त्रिरात्रमाव्रदेशात् दशरात्रमतः परम् ॥

३. पराशर स्मृति २.३
उपासने तु विप्राणामङ्गशुद्धिश्च जायते ।
ब्राह्मणानां प्रसूतो तु देहस्पर्शोविधीयते ॥

४. कूर्मपुराण—२.१२.२०
सूतके तु सपिण्डानांसंस्पर्शोनेव दुष्यति ।

अशुद्धि के दिन जाति पर भी आधारित थे। इस विषय में कहा गया है, मृतक सूतक में ब्राह्ण दस दिन में, राजा बारह दिन में, वैस्य पंद्रह दिन में तथा शूद्र एक महीने में शुद्ध होता था।[१]

मुख्य रूप से द्विज को निर्देश किया है कि अशौच की स्थिति में उसका १. कर्मों में अनधिकार का शुचित्व, २. स्पृशत्व का शुचित्व। स्पर्श शुचित्व में अंग शुद्धि को अनेक रूपों से कहा है, जैसे—अशौच में तात्कालिक शुद्धि होती है, वह भी जन्म शुचित्व एवं वरण शुचित्व इन दो प्रकार की अशौच अवस्थाओं में सें केवल सूतक में सपिण्डों अर्थात् परिजनों के अंग स्पर्श से ही सार्वकालिक शौच हो जाता है। वैसे ही मरण शौच में शुचित्व नहीं होता है। क्योंकि जन्म-सूतक में परिवार वालों को आपस में स्पर्श से दोष नहीं होता है।

स्त्री सूतक

स्त्री के विषय में भी सूतिका, रजस्वला, मरण शुद्धि एवं जन्मशुद्धि सभी स्थितियों में अशौच की व्यवस्था बतायी है। पराशर स्मृति में सूतिका स्त्री को गर्भ के उपरान्त चार महीनों का गर्भ गिराने को स्राव कहा गया है, पांचवें या छटे महीने के गर्भ गिराने को पात तथा सातवें या इसके पश्चात् के महीनों के गर्भ गिराने को प्रसूति या प्रसव कहा गया है। इस प्रकार से स्राव में माता को तीन दिनों का सूतक लगता है, पात में उतने ही दिनों का सूतक लगता है जितने महीनों पश्चात् वह होता है अपितु पात में पिता के साथ सपिण्डों को भी तीन दिनों का सूतक लगता है। ये नियम सभी वर्णों में समान है।[२]

१. पराशर-स्मृति ३.३
जातौ विप्रोदशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः प चदशाहेन श्रुद्रो मासेन शुद्धयति ॥

२. पराशर-स्मृति १६.३
यदिगर्भो विपद्येते स्रवेते वापि योषितः।
यावन्यासं स्थितो गर्भो दिनं तावत्तु सूतकम् ॥
आचतुर्याद भवेत्स्रावः पातः प चमष्ठयोः।
उतः ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद् दशाह सूतक भवेत् ॥

स्मृतिकार देवल के अनुसार स्त्री को प्रसव से प्राप्त अशौच बीते हुए दिनों में माना जाता है ।[१]

इसके अतिरिक्त जिस मनुष्य के घर में ब्रह्मचारी रहता हो तथा अग्निहोत्र-त्यादि कर्मों को करता हो तथा प्रसूता स्त्री से सम्पर्क न रखता हो, तो उसे अशौच नहीं होता है । अर्थात् इस ब्रह्मचारियों को सूतक दोष नहीं होता है ।[२]

मिताक्षराकार का मत है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास के आश्रमों के विषय में किसी भी समय या किसी भी सूतक में अशोच नहीं लगता, क्योंकि संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों को कभी सूतक नहीं होता है अत: माता-पिता की मृत्यु पर वस्त्र सहित स्नान मात्र कर लेना चाहिए ।[३]

स्मृतिकार पराशर का मत है कि जो लोग लगातार दान कर्म में संलग्न रहते हैं या व्रत, उपवास आदि करते रहते हैं, केवल तभी अशौच नहीं लगता, किन्तु यदि वे अन्य कर्मों में व्यस्त रहते हैं या अन्य लोगों के साथ दैनिक कर्म में संयुत रहते हैं तब अशौच से मुक्ति नहीं मिलती है ।[४]

वैदिक काल में भी जन्म पर सूतक माना जाता था और वह दस दिनों तक रहता था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है—'जब पशु दस दिन का हो जाता है तो

---

१. देवल पराशर माधव से उद्धृत, पृ. ६०१
'नाशुद्धिः प्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि'

२. पराशर स्मृति– २०.३
ब्रह्मचारी गृहे येषआं हूयते च हुताशनः ।
सम्पर्क न च कुर्वन्ति न तेषा सूतकं भवेत् ॥

३. याज्ञवल्क्य स्मृति—२८.३
नैष्ठिकानां वनप्रस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
नाशौचं सूतके प्रोक्तं शावे वापि ततेव च ॥

४. पराशर स्मृति—२१,२३.३
संपर्काद्दूष्यते विप्रो जनने मरणे तथा ।
संपार्काच्च निवृत्तस्य न प्रेतं नैव सूतकम् ॥
सर्वतो मन्त्रपूतश्च अहिताग्निश्च यो द्विज ।
राजज्ञश्य सूतकं नास्ति यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥

वह शुद्ध माना जाता है ।[१] (अर्थात् यज्ञ में बलि के योग्य हो जाता है) इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—गाय को बछड़ा उत्पन्न हो जाने पर लोग गाय का दूध दस दिनों तक नहीं ग्रहण करते थे । दस के उपरान्त ही गाय का दूध पीने योग्य माना जाता था ।[२]

आपस्तम्ब स्मृति में भी स्त्री का अशौच बताया है । जन्म सूतक के समय सूतिका (उत्पन्न शिशु की माता) को हो शौच होता है, अतः सूतिका का वर्जन करना चाहिए । उसके स्नान का स्नान के पूर्व निषेध किया है, अपितु स्नान के उपरान्त सूतिका का स्पर्श वर्जनीय नहीं है ।[३]

स्मृतिकार समवर्त ने प्रतिपादित किया है, पुत्र जन्म के समय माता-पिता दोनों में सूतिका (माता) को ही सूतक होता है पिता को नहीं, वह सुचित्व सम्पन्न रहता है । तदुपरान्त माता को भी स्नानोपरान्त हवन पूर्वक दस दिन पर शुद्धि की प्राप्ति होती है ।[४]

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार स्त्री सूतक के विषय में यदि सातवें मास के उपरान्त कभी भी गर्भपात हुआ हो, तो सभी वर्णों में अशुद्धि पिता तथा सपिण्डों के लिए दस दिनों की या फिर क्रम से १०, १२, १५ एवं ३० दिनों की होती है किन्तु समानोदक लोग तीन दिनों का तथा सगोत्र लोग एक दिन का अशौच मानते

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.२
अजनि वे ते पुत्रो यजस्व मा नेनेति ।
स होवाच यदा वे पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति ।

२. तैत्तिरीय ब्राह्मण—२.१.१.३
तस्मात् वत्सं जातं दशं रात्रीनं दुहन्ति ।

३. आपस्तम्ब स्मृति—
सूतके सूतिकां वर्ज्य संस्पर्शोन निषिध्यते ।
संस्पर्शे सूतिकायास्तु स्नानमेव विधीयते ॥
जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचेलन्तु विधीयते ।
माता शुद्धये दशाहेन स्नानातु स्पर्शनं पितु ॥

४. सम्वर्त-स्मृति—४२
जाते पुत्रे पितुः स्नान सचैलं तु बिधीयते ॥
माता शुद्धयेद्दशाहेन स्नानुनातु स्पर्शनं पितु ॥

हैं ।[१] प्रायः उपरोक्त नियम कुछ भेदों के साथ गौतम, बौधायन, मनु एवं पराशर को भी मान्य हैं । क्योंकि जन्म, मृतोत्पत्ति, या सातवें, आठवें या नवें मास के गर्भ में माता दस दिनों तक स्पृश्य रहती है, किन्तु पिता तथा सपिण्ड लोग प्रसव में स्नान के उपरान्त अस्पृश्य नहीं रहते हैं ।[२]

प्राचीन काल में जननाशौच के विषय में जो मत प्रचलित थे, उनमें यद्यपि जनन के १० दिन के उपरान्त स्त्री स्पृश्य हो जाती है, किन्तु उसके उपरान्त यदि पुत्र पैदा किया हो तो २० दिन की अवधि तक वह धार्मिक कृत्य करने योग्य नहीं रहती । यदि उस सूतिका ने पुत्री को पैदा किया है, तो ३० दिन तक जननोपरान्त धार्मिक कृत्य के योग्य नहीं रहती ।

स्मृतिकार देवल ने जननाशौच की अवधि को १० या १२ तक निश्चित किया है । अर्थात् १० या १२ दिन की अवधि के उपरान्त जननशौच नहीं रहता । अर्थात् देवल ने जन्मसूतक की अवधि का संक्षेप कर दिया है ।[३]

आशौच विधियां कई प्रकार की परिस्थितियों पर आधारित थीं । जन्म एवं मरण की अशुद्धि में भिन्नता मानी गयी थी । इसी प्रकार मृत की अवस्था, अर्थात् वह शिशु है या पुरुष है या स्त्री है, इत्यादि आशौच विधि के लिए परिगणित होती थी । इतना ही आशौचावधि मृत के उपनयन-संस्कार से युक्त होने या न होने पर भी निर्भर करती थी । यह जाति पर भी आधारित थी और यह भी देखा जाता था कि मृत्यु सम्बन्धी के पास हुई या कहीं दूर । यह सम्बन्धी की दूरी पर भी निर्भर थी, और यह जानना आवश्यक था कि कितने दिनों के पश्चात् जन्म या मृत्यु का समाचार सम्बन्धी के कानों तक पहुंचा इत्यादि सभी विषयों के अनुसार शुद्धि की अवधि निर्भर थी ।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—२२.३
क्षत्रस्य द्वादशाहीनि विशः प चदशैव तु ।
त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य तदर्ध न्यायवर्तिन ॥

२. पराशर स्मृति—२४.३
प्रसवे गृहमेधी तु न कुर्यात् सेकरं यदि ।
दशाहात् शुद्धयते माता त्ववगाह्य पिता शुचिः ॥

३. देवल, शुद्धि प्रकरण से उद्धृत, पृ. ४१
आशुच्यं दशरात्रं तु सर्वत्राप्यपरे विदुः ।

आशौच की विधियों में मरणान्त आशौच का भी उल्लेख मिलता है। (वह अशौच जो जलकर भस्म हो जाने तक चले) इस विषय में पराशर का मत है कि नामधारी ब्राह्मण को मरणान्त आशौच रहता है। अर्थात् वे मृत्युपर्यन्त अशौच में रहते हैं क्योंकि वे अग्निहोत्र, संध्यावंदन एवं स्वाध्यादि क्रियाओं रहित होते हैं।[१]

स्मृतिकार दक्ष ने इसी मन्तव्य को स्पष्ट किया है कि जो लोग बिना स्नान किये भोजन करते हैं या बिना देवाहूति दिये या बिना दान दिये रहते हैं, वे जीवन भर आशौच में रहते हैं तथा जो व्याधिक या सदा के लिए रोगी हैं, लोभी हैं अर्थात् धन के लोभ से अपने लिए, पत्नी, पुत्र एवं धार्मिक कृत्यों के लिए व्यय नहीं करता है। ऋणी, जिसने देवों, ऋषियों एवं पितरों का ऋण नहीं चुकाया है, क्रियाहीन, जो नित्य, नैमित्तिक कृत्यों से च्युत है, मूर्ख जो अपनी पत्नी की मुट्ठी में है, व्यसनासक्त चित्त जो जुआरी या वेश्यागामी है, नित्य पराधीन राजा का सेवक है तथा श्रद्धा त्याग विहीन, जो अविश्वासी या अधार्मिक एवं दया दाक्षिण्य से हीन है वह व्यक्ति या ब्राह्मण मरणान्त तक अशुद्ध रहता है।[२]

उपरोक्त शब्दों को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए। अपितु इस प्रकार के लोगों का संसर्ग नहीं करना चाहिए। ये सब वर्जनीय माने गये हैं।

कूर्मपुराण में भी मरणान्त अशौच का विधान किया गया है—क्रियाहीन, महान रोगी तथा यथेष्ट आचरण न करने वाले व्यक्ति मरणान्त अशौच वाले कहलाते हैं।[३]

---

१. पराशर स्मृति—६.३
जन्मकर्म-परिभ्रष्टः सन्ध्योपासनवर्जितः।
नामधारकविप्रस्तु दशाहं सूत की भवेत्॥

२. दक्ष-स्मृति—८-१०.६
अस्तात्वा चाप्यहुत्वा च भुङ्क्त्वे दत्वा च यः।
एवं विधस्य सर्वस्य सूतकं समुदाहृतम्॥
व्याधितस्य कदय्यस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा।
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्री जितस्य विशेषतः॥
व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः।
श्रद्धात्यागविहीनस्य भस्मान्तं सूतकं भवेत्॥

३. कूर्म-पुराण (उत्तर २३.९)
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य महारोगिण एव च। यथेष्टाचरणस्येह मरणान्तमशौचकम्॥

पंचम अध्याय

पराशर स्मृति में राजधर्म

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र साहित्य में राजधर्म नामक विषय पर व्यापक चर्चा मिलती है । धर्मसूत्रों में बोधायन धर्मसूत्र एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने राजधर्म को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है तदन्तर मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एवं पराशर इत्यादि ने भी इसे स्पष्ट रूप से समझाया है ।

धर्म शब्द के अर्थ अनेक तथा व्यापक हैं । एक ही निश्चित एवं सीमित अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग नहीं होता । धर्म शब्द भाषा और विचार की दृष्टि से अनेक अर्थों का वाचक माना गया है । धर्म शब्द का व्यापक अर्थ घृ धातु पर आश्रित है । घृ का अर्थ धारण करना है । अर्थात् जो धारण करता है वह धर्म है ।

राजधर्म का अर्थ है राजा का धर्म । महाभारत के अनुसार धर्म राजा पर आश्रित है ।[१] महर्षि व्यास का मत है कि धर्म से युक्त राजा धार्मिक कहलाता है । यदि राजा धार्मिक होगा तो प्रजा भी धार्मिक होगी, क्योंकि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है ।[२]

राजा के धर्म (साधारण)

प्रजा की रक्षा और प्रजा का पालन राजा का मुख्य धर्म है । राजा के द्वारा राजधर्म के पालन पर ही प्रजा के सभी वर्णों का धर्म पालन निर्भर करता है ।[३] राजधर्म समाज के धर्म-प्रसाद की नींव है । प्रजातन्त्र शासन में भी राजधर्म का महत्व अक्षुण्ण रहता है, क्योंकि वहां प्रजापालन का उत्तरदायित्व उनके प्रतिनिधियों

---

१. महाभारत (शा. पर्व) ३२०.६
राज्यै सति कुतो धर्मो ।

२. महाभारत (शा. पर्व) ७५.४
यदाचरते राजा तत्प्रजानां स्म रोचते ।

३. पराशर स्मृति—६१.१
'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् क्षितिं धर्मेण पालयन्

को दिया गया है। प्रजा-पालन, धर्माचलन आदि राजनीति के आवश्यक गुण हैं। शासन का आधार राजधर्म को माना गया है।[१]

राजा का महत्व (असाधारण)

राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिए राजा का होना अनिवार्य है। राजा ही पृथ्वी पर शान्ति स्थापित कर सकता है। देश में अराजक स्थिति उत्पन्न होने पर कोई भी मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। पृथ्वी का धर्मपूर्वक पालन में दुष्टों का निग्रह पूर्वक शिष्टों को सभी प्रकार के उपद्रवों से बचाना है। क्योंकि इसीलिये जगदीश्वर ने राम-कृष्ण आदि अवतार लिये थे। यही तात्पर्य गीता को अभीष्ट है—जब-जब भी भारत में (या देश) धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है तब-तब मैं पुनः धर्म स्थापना के लिये हर युग में अवतार लेता हूं।[२]

आचार्य माधव ने इस संबंध में कहा है—जैसे रावणादि दुष्टों को सीख देने के लिए रामादि अवतार हुये हैं वैसे ही नीच पुरुषों तथा चौरादि को शिक्षा देने के लिए राजा आदि हुये हैं। राजा के महत्व का वर्णन करते हुए मनु ने कहा है कि—'यह मनुष्य ही है' ऐसा समझकर बालक राजा का भी अपमान न करें, क्योंकि मनुष्य के रूप में वह कोई बड़ा देवता होता है।[३]

महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को दूर कर देता है, उसी प्रकार राजा भी अधर्म का नाश कर देता है। रामायण में इस विषय पर कहा गया है कि 'राजा' से विहीन मनुष्य का भाग्य उसी प्रकार होता है जैसे चरवाहे के बिना गाय।[४]

---

१. गीता—७.४
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनाय सम्भवामि युगे युगे॥

२. गीता—७.४ यदा...युगे॥

३. मनुस्मृति—७८
बालो पि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता हयेषा नररूपेण तिष्ठति॥

४. रामायण (अयोध्या काण्ड) ६७.२९ अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्॥

डा. बेनीप्रसाद का मत है कि 'यदि राजा अपना कर्तव्य निर्वाह नहीं करेगा तो शक्तिशाली मनुष्य दुर्बलों को लूट लेंगे और मार देंगे। सदाचारी मनुष्य सबके पूजक होंगे। कोई भी मनुष्य अपनी वस्तु को अपना नहीं कह सकेगा और इस प्रकार अपनत्व की भावना अदृश्य हो जाएगी। यहां तक कि कोई भी अपनी पत्नी तथा पुत्र को अपना नहीं कह सकेगा।[१]

राजा के गुण

प्राचीन भारतीय विद्वानों का मत है कि राजा चरित्रवान, साहसी तथा ईमानदार होना चाहिए। क्योंकि प्रसिद्ध है कि जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।—'यथा राजा तथा प्रजा' महाकवि कालिदास का भी इस विषय में मत है कि राजा को पुष्टांग होना चाहिये, क्योंकि पूर्ण रूप से स्वस्थ होने पर ही प्रजा की रक्षा की जा सकती है, जोकि राजा का प्रमुख धर्म है।[२] राजा को धर्मशास्त्रों एवं अनेक विधाओं का ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह उनकी सहायता से उचित न्याय कर सके। राजा के कुछ कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें उसे करना चाहिए। और कुछ ऐसे जिन्हें नहीं करना चाहिए। राजा को घृति, क्षमा, दम आदि मनु कथित दस धर्मों को अवश्य ग्रहण करना चाहिये।[३]

---

१. Beni Prasad—Theory of Government in Ancient India, p.30. If the king did not perform his function, the strong would rob or kill the weak. The reighteous people would be adopted by all. None could say of any article of dict or any other property that it was his. The very sense of property, of 'mineness' would disappear. None would be able to claim his wife or son as his own.

२. कालिदास—रघुवंश १.१३
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाप्रभुः।
आत्म कर्म क्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥

३. मनुस्मृति—६.९२
घृतिः क्षमा दमो स्तेयं शोचं इन्द्रियनिग्रहः।
घीः विद्या सत्यं क्रोधो दशकं घर्मलक्षणम्॥

इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम के अनुसार स्वधर्म के नियमों का उल्लंघन करने वाले तथा दूसरे के कर्तव्यों में बाधा डालने वाले को उसके दोषों के अनुसार दण्ड देकर उसे धर्म मार्ग पर प्रशस्त रखने के लिए राजसत्ता का निर्माण किया गया है। इस राजसत्ता पर अधिष्ठित व्यक्ति ही दण्ड का प्रतीक है, वही राज्य की कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का सर्वोच्च अधिकारी है।[१]

वीरता एवं आर्थिक सम्पन्नता को राजत्व का लक्षण स्वीकार करते हुये आचार्य माधव ने बृहस्पति एवं मनु को सम्यक् रूप से उद्धृत किया। यहां पर वे मुख्य रूप से वीर एवं धनी पुरुष को राजत्व का अधिकारी मानते हैं।

राजा के दोष

राजा को सर्वप्रथम सभी कामज दोषों एवं क्रोध आदि व्यसनों एवं दुर्गुणों से बचना चाहिए। अर्थात् उन सबका संयमपूर्वक परित्याग करना चाहिये।[२]

बौधायन धर्मसूत्र का मत है कि राजा को युद्ध से डरकर नहीं भागना चाहिए तथा बर्छीदार अस्त्रों से या विषादि से बुझाए गए अस्त्रों से प्रहार नहीं करना चाहिए।[३] इस प्रकार के निर्देश मनुस्मृति में भी मिलते हैं।[४]

युद्ध में अबध्व अर्थात् भयभीत, सुरापान से मत, पागल, चेतनाहीन, कवचादि बन्धनों से हीन, स्त्री, बालक, वृद्ध और ब्राह्मण के साथ युद्ध ने करे। तथा राजा को ऐसे व्यक्तियों का वध नहीं करना चाहिए जिन्होंने अस्त्र डाल दिये हों, जो अस्त-व्यस्त केशों के साथ दोनों हाथ जोड़कर दया की भीख मांगते हों अथवा जो

---

१. मनुस्मृति—७.३५
स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोभिरक्षिताः॥

२. मनुस्मृति—४६.७
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
विजुज्यते थं धर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनेव तु॥

३. बोधायन धर्मसूत्र—१.१०.१८१
सङ्ग्रामे न निवर्तेत। न कर्णिभिर्नधिन्येः प्रहरेत्।

४. मनुस्मृति—९०.७
न कूटेरायुर्धेर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
कन कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनेः॥

युद्ध क्षेत्र से डर कर भागे हों इस प्रकार के निर्देश गोतम धर्म सूत्र तथा मनुस्मृति में भी मिलते हैं ।[१]

दण्ड का स्वरूप एवं प्रयोग

भारतीय धर्मशास्त्र के अंदर्गत दण्ड की व्यवस्था इसलिए की गई है जिससे समस्त जीव अपने-अपने कर्मों को नियत रूप से करते रहें । राजदण्ड के न होने पर बलवान् व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति को पीड़ित करेगा जिससे दुर्बल व्यक्ति अपने अधिकार को नहीं भोग सकेगा और वह बलवान व्यक्ति भी दूसरे किसी व्यक्ति से पीड़ित होकर अपने भोग को नहीं भोग सकेगा। जिसके कारण सर्वत्र अस्त-व्यस्तता का साम्राज्य छा जायेगा ।[२]

वेदिक काल में बाग्दण्ड तथा धिकदण्ड का प्रयोग होता था। क्योंकि अधिकतर अपराध कबिध प्रायश्चित के द्वारा दूर कर दिए जाते थे । बाद में समय में मृत्यु दण्ड का भी उल्लेख मिलता है । इस काल में शारीरिक तथा आर्थिक दण्डों की स्थिति स्पष्ट हो गई थी । वैदिक काल में वाग् तथा धिक् के साथ अर्थ दंड तथा शारीरिक दण्ड का प्रयोग होता था अपितु इनका विकास मुख्य रूप से स्मृतियों के समय में हुआ है । आर्थिक दण्ड से राजा को आय प्राप्त होती थी ।[३]

१. शारीरिक दण्ड

शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत अंगच्छेद, देश-निकाला, मारना तथा मृत्यु दण्ड आता है । यदि अपराधी ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्ण का हो तो, राजा कर्म के अनुसार पुरोहित द्वारा बताया हुआ दण्ड स्वयं ही देवे और मृत्यु का दण्ड भी वह

---

१. गोतम धर्मसूत्र—१७,१८.१०
न दोषो हिंसायामाहवे ॥ अन्यत्र व्यश्वसारययनायुधकृता जलिप्रकीणकेशपराङ्गमुखो-पविष्टस्थूलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवाक्षियः ॥

२. पराशर स्मृति—१.९१
क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जिव्य पर-सन्यानि क्षितिं धर्म्मेणपालयेत् ॥

३. नारद स्मृति—पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. ३९१ भाग-१
दण्डश्च द्विविधः शारीरो र्थ-दण्डश्च द्विविधः स्मृतः ।
शारीरः ता नादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ।
काकिन्यादिस्त्वर्थ-दण्डः सर्वः स्वान्तः तथैव च ॥

दे सकता है। नैतिक नियमों की रक्षा तथा धर्म के उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना राजा का धर्म है। नैतिकता की रक्षा के लिए उसे स्त्रियों के प्रति किए गए दुर्व्यवहार करने वालों को दण्ड देना चाहिए।[१]

२. आर्थिक दण्ड

आर्थिक दण्ड में धन सम्पत्ति का दण्ड से लेकर सर्वस्वहरण तक दण्ड दिया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से खेत लेकर उस पर खेती नहीं करता, यदि वह व्यक्ति धनी है तो वह उस फसल का मूल्य खेत के स्वामी को दे। इसी प्रकार यदि पशुओं का रखवाला पशुओं की निगरानी करने के लिए ले गया हो और उस समय रखवाला पशुओं को मर जाने दे या चोरी हो जाने दे, तो वह पशुओं का मूल्य उनके मालिक को दे ऐसा मनु स्मृति में कहा गया है।[२]

यदि राजा किसी दण्ड के योग व्यक्ति को दण्ड नहीं देता तो वह पाप राजा को लगता है। मनु के मतानुसार दण्ड ही सब प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, दण्ड ही सबके सोते रहने पर जागता है, इसलिए विद्वान लोग दण्ड को धर्म समझते हैं।[३]

कर-ग्रहण

कर-ग्रहण, राजा का कोश भरने का प्रमुख साधन है। कौटिल्य का मत है कि जिस राजा का कोश रिक्त हो जाता है वह नगर वासियों एवं ग्रामवासियों को चूसने लगता है। क्योंकि राज्य के सारे व्यापार उसके कोश पर निर्भर रहते हैं। अतः राजा का सर्वप्रथम कोश पर ध्यान देना उचित है।[४]

---

१. मनुस्मृति—८.१२९
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥

२. मनुस्मृति—८.२३२
नष्टं विनष्टं कृषिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदयात्काल एव तु॥

३. मनुस्मृति—७.१८
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागति दण्डं धर्म विर्दुबुधाः॥

४. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, २.१८

महाभारत के शान्तिपर्व में भी कोश की महत्ता बतलायी है। यह सर्वविदित प्रसिद्ध है कि राजा कोश पर आधारित है। अन्यथा राजा एवं राज्य दोनों ही पराश्रित हो जाएंगे।[१] विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कोश को राज्य के वृक्ष की जड़ माना है। प्राचीन भारत में कर-ग्रहण को राजस्व भी कहा गया है। तथा भारतीय राज्यों के दो स्तम्भों में से एक राजस्व तथा दूसरा सैन्य बल था।

स्मृतियों द्वारा निर्धारित कर-ग्रहण के सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य कर राजा नहीं लगा सकता था, अर्थात् वह अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। कर की मात्रा वस्तुओं के मूल्य एवं समय पर निर्भर थी, क्योंकि दुर्भिक्ष, आक्रमण आदि विपत्तियों के समय इस कोष से सहायता मिलती थी।[२]

राजा शान्तिकाल अर्थात् साधारणतया उपज का छठा भाग ही कर के रूप में प्रजा से धन ग्रहण करना चाहिये। अपितु आपत्तियों के समय राजा को भारी कर लगाने के लिये प्रजा से स्नेहपूर्ण याचना करनी चाहिए तथा अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नहीं चाहिए। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि आपात्तकाल में एक से अधिक बार कर नहीं लगाना चाहिए।[३]

कर-ग्रहण के विषय में राजा को सरलभाव से कोषागार को समृद्ध बनाना चाहिए, कि सांप भी मर जाये, और लाठी भी न टूटे वाली उक्ति चरितार्थ हो।

स्मृतिकारों ने इस सिद्धान्त को बड़े ही कवित्वपूर्ण एवं आलंकारिक रूप में समझाया है, जिसका तात्पर्य यह है कि करदाता को कर हलका लगे, जिसे वह बिना

कोशमूलाः कोश पूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्व कोशमवेक्षेत। कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नभास्थाय राजभिः। कोशमूलाहि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत्॥

१. महाभारत (शान्ति पर्व) ११९.१६
कोशमूलो हि राजेति प्रवादः सार्वलौकिकः।

२. मनुस्मृति—७.१३०
पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥

३. कौटिल्य-अर्थशास्त्र, ५.२
कौशमकोशः प्रत्युत्पनार्थकृच्छ्रः संगृहीयात्। जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत्। इति कर्षकेषु प्रणयः। इति व्यवहारिषु प्रणयः। सकृदेव न हि प्रयोज्यः।

किसी कठिनाई के दे सके। जिस प्रकार मधुमक्खी मधु को निकाल लेती है, किन्तु फूलों को पूर्णतया नष्ट नहीं करती, उसी प्रकार राजा को सभी प्रजा एवं मनुष्यों से बिना कष्ट दिये धन लेना चाहिए।[१]

स्मृतिकार पराशर का मत भी इसी में समाविष्ट है कि मधुमक्खी मधु के लिए प्रत्येक फूल के पास जा सकती है, किन्तु उसे फूल की जड़ नहीं काट देनी चाहिए, उसे माली के समान व्यवहार करना चाहिए, न कि अंगारकारक (कोयला फूंकने वाले) के समान, जोकि कोयला बनाने के लिए सम्पूर्ण वन, उपवन के पेड़ को जड़सहित काट डालता है।[२]

मनुस्मृतिकार के अनुसार राजा को मधुमक्खी, जोंक एवं बछड़े को उदाहरण मानकर ही वार्षिक कर लेना चाहिये। जैसे ये सभी जीव थोड़ा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए जीवन रक्षणार्थ मधु, रक्त एवं दूध लेते हैं उसी प्रकार राजा को भी राज्य शासन के लिये थोड़ा-थोड़ा शस्यांश लेना चाहिए।[३]

राजा का व्यक्तित्व

राजपद पर अधिष्ठित व्यक्ति के लिये मनु ने कतिपय योग्यताएं निर्धारित की हैं जिन्हें हम अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों रूपों में पाते हैं। राजा के व्यक्तित्व में इन दोनों प्रकार के गुणों का सामंजस्य होना आवश्यक माना गया है।

१. अन्तरंग गुणों का तात्पर्य राजा की आन्तरिक प्रवृत्तियों की शुचिता से है। जो एक राजा का आवश्यक गुण है। स्मृतिकार मनु का मत है कि दण्ड प्रयोक्ता राजा सत्यवादी, विचार कर कार्य करने वाला, बुद्धिमान एवं धर्म तथा अर्थ का ज्ञाता

---

१. महाभारत,(उद्योग पर्व) ३४.१७,१८
यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षटपदः।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

२. पराशर-स्मृति, १.६२
पुष्पं-पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकारं इवारामे न यथाङ्गारकारकः॥

३. मनुस्मृति,७.१२९
यथात्पाल्पमदन्त्याद्यं वायोकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥

होना चाहिए। साथ ही राजा को सब प्रकार से पवित्र, सत्य-प्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाला, अच्छे सहायकों वाला एवं बुद्धिमान होना चाहिए।[१]

इसके अन्तर्गत ही याज्ञवल्क्य ने राजा के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है—राजा शक्तिमान, दयालु, दूसरों के अतीत कर्मों का जानकार, तप, ज्ञान एवं अनुभव वालों पर आश्रित, अनुशासित इन्द्रिय वाला, अच्छे एवं बुरे भाग्य में समान स्वभाव वाला, अच्छे मातृ एवं पितृ कुल वाला, सत्यवादी, कार्यपटु, स्मृतिवान्, वचन व कर्म में मृदु वर्णाश्रम नियम के पालक, दुष्कर्मों से दूर रहने वाला, मेधावी, साहसी, रहस्य को गोपनीय रखने में चतुर एवं राज्य की रक्षा करने वाला होना चाहिए।[२]

राजा के आन्तरिक गुणों के विषय में आचार्य माधव दोनों स्मृतिकारों से सहमत हैं। विशेष रूप से राजा को अपने राज्य के प्रवेश द्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी (आत्म-विधा) एवं दण्डनीति (योग क्षेमोपयोगी) विद्या एवं वार्ता (कृषि-वाणिज्य) तीनों में प्रवीण होना चाहिए। ये सब राजा के व्यक्तित्व की विशेषतायें मानी गई हैं।[३]

२. बहिरंग गुण—इन सब आन्तरिक गुणों के अतिरिक्त राजा में कुछ ऐसी योग्यताएं भी अपेक्षित हैं जिनका सम्बन्ध राज्य संचालन आदि बाह्य गतिविधियों से है। मानव धर्मशास्त्र में राजपदधारी व्यक्ति में परीक्षण की, राजपुरोहित के वरण की, ऋत्विजों के चयन की,[४] यज्ञ करने की,[५] एवं सन्धिविग्रहादि के

---

१. मनुस्मृति,७.२६
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.३०८,३०९.
महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्ध-सेवकः।
विनीतः सत्वसम्पन्नः कुलीन सत्यवाक् शुचिः॥
अदीधसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रो पुरुषस्तथा।
धार्मिको व्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरोः रहस्यवित्॥

३. मनुस्मृति—७.५८ सचिवान्सप्त चाष्टो वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।

४. मनुस्मृति—७.७८
पुरोहितं न कुर्वीत वृणुयादेव चत्विजः।
ते स्य गृहाणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च॥

५. मनुस्मृति—७.७९ जयेत राजा क्रतुर्भिवि विधैराप्त दक्षिणैः॥

चिन्तन[१] की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त आचार्य माधव याज्ञवल्क्य का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। वह ज्ञानी राजा वंशपरम्परा से चले आने वाले, धैर्यवान एवं पवित्र पुरुषों को मन्त्री बनाये, उनके साथ राज्य के सन्धि विग्रह आदि कार्यों के संबंध में विचार करे, फिर ब्राह्मण अथवा पुरोहित से परामर्श ले और अन्त में तब स्वयं अपने कर्तव्य का चिन्तन करे।[२]

कौटिल्य के अनुसार, राजत्व व धर्म निकट रूप से सम्बन्धित हैं—जैसे राजा न्याय का उद्गम होता है (धर्म प्रवर्तक:) तथा धर्म का परिपालन तथा न्याय से अपनी प्रजा का रक्षण राजा का दायित्व होता है, क्योंकि उसका अनुष्ठान करना स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करना होता है। 'स्वधर्मस्वंर्गाय प्रजाधर्मे न रक्षित:' इत्यादि तथ्यों को राजा के व्यक्तित्व में सम्मिलित किया गया है।

कौटिल्य ने राजा को सदा एक उच्चतम आदर्श को अपने सम्मुख रखने का निर्देश दिया है। राजा के व्यक्तित्व की विशेषता यही है कि राजा को अपना सुख प्रजा के सुख व कल्याण में ढूंढना था। उसका हित वह नहीं था, जो केवल उसे अच्छा लगता था, पर जो प्रजा को अच्छा लगता था।[३] कार्य में सदा तत्परता ही उसका धार्मिक व्रत है, सबके प्रति समान रूप से ध्यान देना ही संस्कार में शुद्धि व दक्षिणा देना है। कौटिल्य ने राजा को राज्य का प्रथम नागरिक माना है। वह अपनी प्रजा के साथ राज्य का भोग करता है।[४]

---

१. वही—७.५६
ते साधं चिन्त्येन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानिच॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.३१२
स मन्त्रिण: प्रकुर्वीतं प्रज्ञान्मोलन्स्थिरा शुचीन।
तै: सार्ध चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ तत: स्वयम्॥

३. कौटिल्य अर्थशास्त्र—१.१६
प्रजा सुखे सुखं राज्ञ: प्रजानांच हिते हितम्।
नात्म प्रियं हितं राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

४. वही—'तुल्यवेतनोस्मि भवदिभम्म: योग्य मिदं गज्यम्।'

इस प्रकार राजा का व्यक्तित्व सर्वगुण सम्पन्न है। राजपद पर अधिष्ठित नरेश अपने उन्नत व्यक्तित्व और कोशल के आधार पर अपने पद के गौरव को स्वभावत: गौरवान्वित कर देता है।

राजा की दिनचर्या

स्मृतिग्रन्थों ने राजा की दिनचर्या से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार कार्य बताये हैं जो राजा की दैनिक क्रियाओं से जुड़े हैं। मनुस्मृतिकार ने राजा के कार्यों व उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे दैनिक कृत्यों एवं सावधानियों का प्रतिपादन किया है जिनको चरितार्थ करना राजा की दिनचर्या का आवश्यक अंग है। मनु ने राजा को निर्देश किया है कि वह प्रतिदिन प्रात:काल उठकर वेदत्रयी के ज्ञाता और विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करे तथा उनके अनुशासन में रहे।[१]

आचार्य माधव ने भी राजा की दिनचर्या से सम्बन्धित मनु के मत का समर्थन किया है। राजा को रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर प्रात: ही शौच कृत्य के उपरान्त अग्निहोत्र सन्ध्यावंदन, होम इत्यादि से निवृत्त होने पर प्रतिदिन ब्राह्मणों की आज्ञानुसार शुभ होकर या पवित्र होकर सभा में प्रवेश करना चाहिए।[२] कभी भी निर्जन वन या एकान्त स्थान में मन्त्रणा न करे।[३]

याज्ञवल्क्य के मतानुसार राजा को संध्या उपासना के उपरान्त ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य से आशीर्वाद ग्रहण करना चाहिये। तथा ज्योतिषी एवं वैद्य से मिले, उनसे क्रमश: गृहस्थिति और शारीरिक स्वास्थ्य की जानकारी प्राप्त करे,

---

१. मनुस्मृति—३७.७
ब्राह्मणान्यपर्युयासीत् प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेतेषां च शासने॥

२. वही—१४५.७
उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्नि ब्राह्मणांश्चार्य प्रविशेत्स शुभां समाम्॥

३. वही—१४६.७
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः॥

इसके बाद श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मणों को दुधारू गाय, सोना, भूमि, विवाह योग्य अलंकारादि उपकरण और वासभवन का दान करना चाहिए ।[१]

व्याख्याकार आचार्य माधव ने मनुस्मृति का उद्धरण देकर स्पष्ट किया है कि राजा सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने, अर्थात् उस सभा में उपस्थित होकर, बैठकर या खड़े होकर, वहां पर आई हुई सब प्रजाओं की समस्याओं एवं कष्टों का संतुष्टिकारक समाधान कर उन्हें प्रसन्न करके भेज दे और फिर प्रजाओं को विसर्जित करने के बाद मन्त्रियों के साथ राज्य-व्यवस्था पर विचार-विमर्श करे ।[२]

राज्य-सम्बन्धी मन्त्रणाओं के स्थान के विषय में कहा गया है कि राज्य-व्यवस्था का विचार करने के लिए राजा को पर्वत के शिखर या घर का एकान्त स्थान, जंगल में भी ऐसी जगह हो, जिसमें एक शलाका भी न हो, वैसे एकान्त स्थान में बैठकर विरुद्ध भावना को छोड़कर मन्त्री के साथ विचार-विमर्श करना चाहिये ।[३] यहां पर 'निःश्लाके' शब्द का अर्थ है ऐसा स्थान जहां तिनके के सदृश छोटे से छोटे प्राणी की उपस्थिति न हो ।

मंत्रणा के पश्चात् राजा को दोपहर के समय विश्राम करके आलस्य रहित होकर स्वस्थ व प्रसन्न शरीर और मन से अर्धरात्रि या रात के किसी समय धर्म, काम और अर्थ सम्बन्धी बातों को उन मन्त्रियों के साथ मिलकर अथवा परिस्थिति विशेष में अकेले ही विचार करना चाहिये ।[४]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—३३२.१
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीभिरभिनन्दितः ।
वही—३३३.१
दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वेद्यान् दद्याद् गां काञ्चनं महीम् ।
नैवेशिकानि च ततः श्रोत्रिमेभ्यो गृहाणि च ॥

२. मनुस्मृति—१४६.७
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य प्रजाः सर्वाः मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥

३. वही—१४७.७
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःश्लाके वा मन्त्रयेताविभावितः ॥

४. मनुस्मृति—१५१.७
मध्यंदिने र्घरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः
चिन्तयैद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥

कौटिल्य ने भी कहा है कि राजा द्वारा धर्म-काम-अर्थ पर चिन्तन किया जाना चाहिये अर्थात् राजा को प्रसन्न मन से धर्म-काम-अर्थ सम्बन्धी बातों पर देश-काल-कार्य को देखकर अकेले ही अथवा अन्य मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन विचार करना आवश्यक है ।[१]

राजा को शासन कार्य में योग्य है कि राज्य की सब कन्या एवं लड़कों को निश्चित समय से निर्धारित समय तक ब्रह्मचर्य में रखके शिक्षा सुलभ कराये और जो कोई इस आज्ञा को न माने उस या उसके माता-पिता को दण्ड दे अर्थात् राजा की आज्ञा के अनुसार आठ वर्ष के उपरान्त कोई भी लड़का या लड़की किसी के घर में न रहने पाये या शिक्षा से रहित न हों अपितु गुरुकुल में रहें तथा जब तक उनके समावर्तन संस्कार का समय न आये तब तक विवाह न होने पावे। राज्य-व्यवस्था के अंतर्गत कन्याओं और कुमारों का गुरुकुलों में भेजना और उनकी सुरक्षा तथा विवाह व्यवस्था का विचार करना भी राजा की दिनचर्या का विशेष महत्वपूर्ण अंग है ।[२]

दूतसंप्रेषण और गुप्तचरों के आचरण पर दृष्टि रखना ही यहां आचार्य माधव को अभिप्रेत है । यह कार्य भी राजा की दिनचर्या में शामिल है । क्योंकि दूतों को इधर-उधर भेजना तथा उसी प्रकार शेष बचे कार्यों को पूर्ण करना तथा महल के आन्तरिक आचरणों, क्रियाकलापों एवं गतिविधियों, स्थितियों का निरीक्षण करना और उन नियुक्त गुप्तचरों के आचरणों एवं गतिविधियों पर दृष्टि रखना भी राजा का धर्म है ।[३]

राजा के अष्टविध कर्म यथा—आदान, विसर्ग, प्रैष, निषेध, अर्थवचन, व्यवहार का देखना, दण्ड एवं शुद्धि इत्यादि तथा पंचवर्ग की व्यवस्था के अंतर्गत मनु के

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ. १०, अ. १४
'देशकाल-कार्यवशेन त्वेकेन सह,
द्वाभ्याम्, एको वा यथासामर्थ्य मन्त्रयेत् ॥'

२. मनुस्मृति—१५२.७
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।

३. वही—१५३.७
दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुर प्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥

अनुसार १. कार्यों का प्रारम्भ करने का उपाय, २. पुरुष और द्रव्य सम्पत्ति, ३. देश काल का विभाग, ४. विघ्नों का प्रतीकार करना, ५. कार्यसिद्धि इत्यादि वर्ग के अतिरिक्त अपनी एवं शत्रु राजा की प्रजाओं में लगाव तथा अन्य राजा में अपने प्रति द्वेष का चिन्तन तथा मण्डल की गतिविधि के आचरण का निरीक्षण करे।[1]

अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रणा के प्रसंग में 'पञ्चाङ्गमन्त्र' के नाम से पांच विचारणीय बातों का उल्लेख किया है। यह परम्परा से प्रचलित पञ्चवर्ग सभी धर्मशास्त्रकारों को अभीष्ट है।[2]

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लुकभट्ट ने पांच प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था को पञ्चवर्ग कहा है। जैसे—

१. कापटिक—छल या कपट के व्यवहार से भेदों को जानने वाला।

२. उदास्थित—संन्यासी या साधु के वेश में महान् व्यक्ति के रूप में गुप्त भेदों की जानकारी देने वाला।

३. कृषक—नकली किसान बनकर गुप्तचरी करने वाला।

४. वाणिजक—नकली व्यापारी के रूप वाला।

५. तापस—तपस्वी या नकली व्यंजक के रूप वाला।

उपरोक्त सभी कर्म राजा की दिनचर्या में प्रतिदिन आचरणीय हैं।[3]

राजा को अपने शत्रु, मित्र और उदासीन राजा के विषय में भी जानकारी रखनी चाहिये। कौन-कौन राजा क्रमशः शत्रु, मित्र एवं उदासीन है वह योग्य एवं अयोग्य कौन राजा हो सकता है, इस प्रसंग में राजा को प्रतिदिन सावधानी बरतनी चाहिये अर्थात् अपने राज्य के समीपवर्ती राजा को और शत्रु राजा की सेवा सहायता करने

---

१. मनुस्मृति—१५४।७
कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च॥

२. कौटिल्य, अर्थसास्त्र, पृ. १० अ. १४
'कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यं संपत्, देशकालविभागः विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिः - इति पञ्चाङ्गे मंत्रः'

३. मनुस्मृति की टीका से उद्धृत, पृ. २६१ पराशर-माधव पर भी उद्धृत है। पृ. सं. ४११
पञ्चवर्गस्तु, कापटिक - दाम्भिक - गृहपति - वैदेहक - तापस - व्यञ्जनाश्चराः।

वाले राजा को 'शत्रु' ही समझे, अरि से भिन्न अर्थात् शत्रु से भिन्न आचरण करने वाले तथा सेवा सहायता करने वाले राजा को 'मित्र' और इन दोनों से भिन्न परवर्ती राजा को, जो न सहायता करे न विरोध ही करे, उसे 'उदासीन' राजा समझना चाहिए ।[१]

उपरोक्त सब प्रकार के राजाओं को साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से, एक उपाय से या सब उपायों का एक साथ प्रयोग करके, वीरतापूर्वक तथा नीति से प्रतिपादित उपायों द्वारा वश में रखे ।[२]

राज्य शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिये राजा को सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संजय आदि षड्गुणों का यथासमय सम्यक् उपयोग करना चाहिए । इन सभी छः गुणों का भी राजा सदा ही विचार मनन करे, कभी भी इनका त्याग न करे ।[३]

आचार्य माधव ने राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में षड्गुणों में 'आसन' मुख्य रूप दृढ़ किया है कि राजा को सुखपूर्वक रहने के लिए इन छः गुणों को आचरण में लाना अनिवार्य है, जिनमें से 'आसन' से तात्पर्य है शत्रु को घेरकर पड़े रहना या अपनी शक्ति की क्षीणता के कारण शत्रु राजाओं से छेड़छाड़ किये बिना चुपचाप भावी आक्रमण की ताक में पड़े रहना है । राजा को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये, जो स्थिरता, शत्रु से लड़ने के लिए जाना, उनसे मेल करना, दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना तथा निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना इत्यादि छः प्रकार के कर्म यथायोग्य कार्य को विचार कर, उनमें युक्त होना चाहिये अर्थात् उनका अनुपालन करना चाहिये ।[४]

---

१. मनुस्मृति—१५८.७
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ।

२. मनुस्मृति—१५९.७
तान् सवानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमेः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥

३. मनुस्मृति—१६०.७
संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत् सदा ॥

४. मनुस्मृति—१६१.७
आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च । कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥

राजा को सभी उपायों का प्रयोग तभी करना चाहिये—जब प्राप्त करने वाला अर्थात् स्वयं, प्राप्त करने योग्य अर्थात् शत्रु और सब विजय प्राप्त करने के साधन अर्थात् साम, दाम आदि उपाय इन तीन बातों को सम्पूर्ण रूप से आश्रय करके अथवा विचार करके और अपनी क्षमता एवं सामर्थ्य देखकर ही अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे, इन्हें विचारे बिना उद्योग न करे, यहां राज्य व्यवस्था आचार्य माधव को अभीष्ट है ।[१]

राजपद के कार्य एवं उत्तरदायित्व

प्रजापालन

प्राचीन काल में धर्म की प्रधानता थी । राजा वैदिक काल से ही धर्म का पालक समझा जाता था । वह स्वयं भी पालन करता था और प्रजाओं से भी इसका पालन कराता था ।[२] आचार्य माधव ने मनु को उद्धृत कर इसी भाव को पुष्ट किया है । मनुस्मृति में राजा राष्ट्र संगठन का महान् शुभचिन्तक और प्रजा का सर्वश्रेष्ठ हितैषी है ।[३] अतः इसीलिये राजा के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह चातुवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) को उसके धर्म में निरत रखे । तथा कृषि एवं आर्थिक व्यवस्था की उन्नति के लिए वह सिंचाई, कृषि के उत्तम साधन तथा कृषि सुरक्षा की व्यवस्था भी करता था ।[४] स्मृतिकार मनु के अनुसार प्रजा रक्षण का तात्पर्य है—चोरों डाकुओं आदि के भीतरी आक्रमणों तथा बाह्य शत्रुओं से प्रजा के परिवार, प्राण एवं सम्पत्ति की रक्षा करना, ताकि प्रजा शान्तिपूर्ण, सुव्यवस्थित जीवनयापन कर सके ।[५] राजा

---

१. वही—२१५.७
उपैतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः। एतत्रयं समाश्रित्यं प्रयतेतार्थोसिद्धये ॥

२. पराशर स्मृति—६१.१ क्षितिं धर्मेण पालयेत् ।

३. मनुस्मृति—१४४.७
क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्ट फलभोक्ताहि राजा धर्मेण पुज्यते ॥

४. महाभारत (शान्ति पर्व)
वर्णनामात्रमाणाज्य राजा भवति पालकः ।
स्वे स्वे धर्मे नियु जानः प्रजा स्वाः पालयेत् सदा ॥

५. मनुस्मृति—१४३.७
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्रादधियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः स भृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥

को निर्देश है कि वह सभी वर्णों को अपने-अपने धर्म में स्थित करे तथा इसके विरुद्ध आचरण करने वाले को दण्ड देकर निज धर्म में प्रवृत्त करे।

सैनिक कार्य

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि युद्ध के लिए देवताओं को भी एक राजा की आवश्यकता पड़ी थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राप्त होता है (२.२.१०.१-२) कि प्रजापति ने देवताओं में सबसे युवा इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया था। अर्थात्—ईश्वर ने इस समस्त संसार की रक्षा के निमित्त इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर जैसे देवों के शाश्वत सारभूत अंशों से राजा का सृजन किया है।[१] आपस्तम्ब एवं नारद स्मृति में भी इस देवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[२]

जो राजा चुना जाता था या नियुक्त होता था वह युद्ध क्षेत्र में पुरोहित, ग्रामणी तथा सेनापति के साथ जाता था। स्मृतिकार मनु ने राजा का युद्ध के प्रति गमन एवं युद्ध सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख किया है। प्रजा का पालन करने वाले राजा को संग्राम से न टलना चाहिए और प्रजाओं का पालन करना चाहिए तथा ब्राह्मणों की सेवा करनी चाहिये, ये सभी बातें राजा के लिये परम कल्याणकारी हैं तथा उसके व्यक्तित्व की परिचायक भी हैं।[३]

राजा को सदा उपलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करनी चाहिये तथा रक्षित को बढ़ाये और बढ़े हुये धन एवं राज्य को क्रमशः वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथालयों के पालन में लगावे।[४]

---

१. मनुस्मृति—४.७
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निवृत्य शाश्वतो॥

२. नारद स्मृति, प्रकीर्णक, २०, २२, २६, ५२

३. मनुस्मृति, ८८.७
संग्रामेष्वनिवर्तितवं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥

४. मनुस्मृति—९९.७
अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥

कदापि किसी के साथ छलपूर्वक बर्ताव न करे अपितु निष्कपट होकर सबसे व्यवहार रखे और नित्यप्रति अपनी रक्षा करके शत्रु के किये हुये छल को जान के निवृत्त करे। अर्थात् कोई भी शत्रु अपने छिद्र व निर्बलता को न जान सके और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को सदा गुप्त रखे।[१]

सेना का नेतृत्व एवं उसका संचालन राजा के रक्षात्मक कर्तव्यों में है। समस्त सैनिक अधिकारी भी राजा की अधीनता में कार्य करते हैं।[२] राजा ही अन्तिम रूप से यह निश्चित करता है कि सैनिक पड़ाव और छावनियां कहां बनाई जायें। क्षत्रिय होने के नाते राजा का यह कर्तव्य है कि वह युद्ध करे और युद्ध के मैदान से पीठ दिखाकर कभी न भागे। स्मृतिकार पराशर ने पूर्वोक्त मत का समर्थन किया है तथा राजा के उत्तरदायित्व में प्रमुख रूप से शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध से विमुख न होना तथा दान देना एवं ईश्वर भाव का कृपालु होना ये सब महत्वपूर्ण धर्म स्वीकार किये हैं। अर्थात्—राजा के व्यक्तित्व में इन सभी गुणों का समावेश आवश्यक है। इनके अभाव में उसका अस्तित्व शून्य है।[३]

राजा राज्य के सर्वोच्च सेनापति के रूप में प्रतिदिन सेना के प्रत्येक अंग का निरीक्षण करता है।[४] युद्ध में प्राप्त लूट के (धन) का वितरण भी वही करता है।[५]

---

१. मनुस्मृति—७९.७
अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्व संवृत्तः॥

२. वही—१८९.७
सेनापतिबलाध्यक्षो सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥

३. पराशर स्मृति—७०.१
शौर्य तेजो घृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनंम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रे कर्म स्वभावजम्॥

४. मनुस्मृति—२२२.७
अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राव्याभरणानि च॥

५. वही—२०१.७
जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च॥

आक्रमण के समय राजा सैन्य शक्ति को दण्ड के समान चलावे अर्थात् गाड़ी के समान या जैसे सूअर के पीछे दौड़ते जाते हैं कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे—जैसे मगरमच्छ पानी में चलते हैं वैसे ही सेना को प्रवृत्त करे । जैसे सुई का अग्रभाव सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे मूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को व्यवस्थित करे, गरुड़ ऊपर नीचे झपटा मारता है उस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे ।[१]

धर्म कार्य

वही राजा पुरोहितों की नियुक्ति करता था तथा उसे ही विभिन्न प्रकार के यज्ञ तथा अनुष्ठान करने पड़ते थे ।[२]

राजा का सर्वोपरि धर्म यही है कि वह स्वयं भी धर्म की अधीनता में स्वधर्म का सम्पादन करे । मनु ने धर्म विरुद्ध के अर्थ को त्याज्य माना है ।[३]

स्मृति ग्रन्थों के समय में राजा निरंकुश कभी नहीं रहा । उस पर सबसे प्रथम एवं प्रधान नियन्त्रण धर्म रूपी दण्ड का था। मनु के अनुसार धर्म दंड बड़ा सामर्थ्यशाली है । मूर्खों के अधिकार में रहने के अयोग्य होने से अधर्मी राजा का बन्धु-बान्धवों सहित नाश कर देता है ।[४]

---

१. वही—१८७.७
दण्डव्यूहने तन्मार्ग यायातु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥

२. मनुस्मृति—७८,७९.७
पुरोहितं च कुर्वीत वणुयादेव चात्वजः ।
ते स्य गुह्याणि कर्माणि कुर्युवेतानिकानि च ।
यजेत् राजा क्रतुभिवि विधेराप्त दक्षिणेः ।

३. वही—१७६.४
परित्यजेदर्थ कामो यो स्यातां धर्म वर्जितो ।

४. वही—११.७
दण्डो हि समुहतेजो दुर्धर स्वाकृतात्मभिः ।
धर्माद्धि चलित हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥

विधि-सम्बन्धी कर्तव्य

राजा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित विधियों का प्रतिस्थापक मात्र माना जाता था। उसके आधार पर राजा राज्य करता था। मनुस्मृति के अनुसार राजा को सर्वोच्च न्यायधिपति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। जिनमें न्याय की स्थापना करना और अपराधियों को दण्ड देना, राष्ट्रीय सुरक्षा के विभिन्न पहलू अंतर्हित हैं तथा उसे देश, काल, दण्ड शक्ति और विद्या (जिस अपराध के लिये जो दण्ड उचित हो उसका ज्ञान) का ठीक-ठीक विचार कर अन्यायवर्ती व्यक्तियों में शास्त्रानुसार राजा उस दण्ड को प्रयुक्त करे अर्थात् अपराधियों को उचित दंड दे।[१]

राजा प्रजा पर शासन के लिए नीति निर्धारित करता है। वह अधिकारियों की नियुक्ति करता है तथा प्रशासनिक समस्याओं का निर्णय भी राजा का ही धर्म होता था। इसीलिए राजा का अधिकांश समय राज्याधिकारियों से मिलने में व्यतीत होता था। अतः राजा मुकदमों को देखने का इच्छुक न्यायालय में जाकर, कार्यार्थियों के कार्यों को देखे।[२]

राजा राज्य का प्रधान न्यायाधीश होता था। अतः जब कभी झगड़ों का निबटारा न्यायाधीश नहीं कर पाते थे, तो वही उनका निबटारा करता था। इसके लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति उसे करनी पड़ती थी।[३]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि न्यायालय में राजा ही उपस्थित रहने पर मुख्य न्यायाधिपति का आसन ग्रहण करता है।

जनता को निष्पक्ष न्याय प्रदान करना राजा का आवश्यक कर्तव्य है। निष्पक्ष न्याय के लिए राजा को निर्देश दिया गया है कि यदि वह शास्त्र विरुद्ध, बिना

---

१. मनुस्मृति—१६.७
तं देश कालो शक्ति च विंद्यां चावेक्ष्य तत्वतः।
यतार्हतः संप्रणयेन्तरेष्वन्याय वर्तिषु ॥

२. वही—१८
व्यवहारादिन्दवृक्षस्तु ब्रह्णोः सहपार्थिवः।
मन्त्रज्ञेर्ममन्त्रिमिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥

३. मनुस्मृति—८८
यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्य दर्शनम्।
तदा नियु जानद्विद्वासं बाह्मणं कार्यदर्शने ॥

यथोचित्त विचार के, धन के लोभ या आलस्यवश न्याय करता है तो वह सब तरफ से जन-धन का नाश करता है ।[१]

इसीलिये दण्ड देने के अधिकारी राजा को बड़े ही सोच विचार कर औचित्य के अनुरूप दण्ड का विधान करना चाहिये । क्योंकि जो राजा अधर्म दण्ड का विधान करता है वह स्वयं पाप का भागी बनता है तथा अपयश को प्राप्त करता है ।[२]

अत: इस प्रकार स्पष्ट होता है कि न्याय-व्यवस्था के सम्यक् संचालन का पूर्ण उत्तरदायित्व राजा का है, वही न्यायपालिका का प्रथम संगठनकर्ता है । अपने अधीन प्रजा के गुण-दोष की गुरु एवं लघुता के ज्ञान हेतु राजा तुलादण्ड के समान होता है । सदैव निष्पक्ष एवं समुचित न्याय की आशा की जाती है ।[३]

कोष की अभिवृद्धि करना

महाभारत के अनुसार कोष ही राजाओं का मूल है अत: राजा को अत्यन्त परिश्रम एवं कौशल से इसका संचय करना चाहिए ।[४] मनु का मत है कि राजा अपने राजकीय कृत्यों के सम्पादन के लिए जनता से कर प्राप्त करे । क्योंकि इन प्राप्त करों का प्रयोग राजा अपने स्वार्थ के लिये नहीं करता है अपितु प्राप्त धन को वह जनता के भलाई के लिये प्रयोग करता है । जिस प्रकार इन्द्रदेव ज़लवृष्टि करके संसार को तृप्त करते हैं वैसे ही राजा द्वारा समस्त प्राणियों की कामना पूर्ण करके उन्हें तृप्त किया जाना चाहिये । इस कर-संग्रह के विषय में राजा को सूर्यदेव से

१. वही—१९.७
समीक्ष्य सघृतः सम्यक्सर्वा रंजयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥

२. मनुस्मृति—१२८८
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्नांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशोमहदाप्नोति नरक चैव गच्छति ॥

३. नीतिवाक्यामृतम्—२८ समु., वात्ता १. गुणदोषयोस्तुला दण्ड समोराजा, स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषुगौरव लाघवे ।

४. महाभारत (शान्ति पर्व) १६.११९
कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः काशमूलकरो भव ॥

प्रेरणा लेनी चाहिये, जिस प्रकार सूर्य वर्ष के आठ महीनों में अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी से धीरे-धीरे जल ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा से धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कर ग्रहण करे और उसे वर्षारूप में जन कल्याणार्थ व्यय करे ।[१]

स्मृतिकार पराशर ने भी कोष-वृद्धि के संबंध में मालाकार की उपमा देकर राजा को निर्देश दिया गया है कि वह धर्मपूर्वक प्रजा से कर ग्रहण करे अपना षष्ठांश ही ले, अंगारकारक की भांति उसका सम्पूर्ण धन न हड़प ले । अर्थात् जिस प्रकार माली एक-एक फूल को चुनकर ही माला बनाता है अर्थात् कोयला बनाने वाले अंगारकारक की तरह से समूल वन उपवन नष्ट नहीं करता है, वैसे राजा को भी प्रजा से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कर लेना श्रेयस्कर है ।[२]

महाभारत में भीष्म के अनुसार कोष ही राजाओं की वृद्धि का कारण है । अत: उन्हें सचेष्ट होकर कोष की रक्षा करनी चाहिये ।[३]

राजाओं का मूल कोष ओर सेना है । सेना कोष पर आधारित होती है । सेना धर्म का मूल है और धर्म राज्य का मूंल है । अत: कोष इन सबका मूल हुआ इसलिये कोष की वृद्धि करनी आवश्यक है क्योंकि कोष की अभिवृद्धि के लिए राजा के पास मुख्य साधन 'कर' होता है ।[४]

राज्य-संचालन के लिए मनु ने कोष को आवश्यक माना है और उसे राज्य के सप्तांगों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।[५]

---

१. मनुस्मृति—३०५८
अष्टोमासान् यथा दिव्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथ्रा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमकं व्रतं हितत् ॥

२. पराशर स्मृति—६२.१
पुष्पमात्रं विचिनुयान्मूलच्छेदं न कारयत् ।
मालाकार इवरामे न यथा ड्गार-कारकः ।

३. महाभारत (शान्ति पर्व) १६.११०
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥

४. वही—८.१३०
यदेवं प्रकृतं शास्त्रमविशेषेण विन्दति । तदेव मध्याः सेवन्ते मेधावी चाप्यथोत्तरम् ॥

५. मनुस्मृति—२९४८
स्वाभ्यामात्यो पुरं राष्ट्रं कोश दण्डो सुहृतथा । सप्तप्रकृतयो ह्येता सप्तांग राज्यमुच्यते ॥

कौटिल्य ने भी राज्य कार्य संचालन में कोष की आवश्यकता एवं उपयोगिता को सर्वोपरि माना है ।[१] राजा को कोष वृद्धि का चिन्तन सर्वप्रथम करना चाहिये ।[२]

किन्तु कोष वृद्धि में तत्पर राजा प्रजा से उसी प्रकार कर वृद्धि करे जिस प्रकार माली गण बगीचे के पके-पके फल को ही तोड़ते हैं और कच्चे फलों को छोड़ देते हैं । राजा अपने विनाश की आशंका वश कोई ऐसा धन संग्रह न करे, जिससे प्रजा के क्रुद्ध होने का भय हो ।[३]

समुचित दण्ड की व्यवस्था करना

न्यायिक प्रक्रिया द्वारा केवल अपराध निर्णय करना मात्र राजा का कर्त्तव्य नहीं है । अपितु अपराधियों को उचित दण्ड देना भी राजा का ही कार्य है । राजा ही प्रमुख दण्डाधिकारी है ।[४] स्मृतिकार पराशर ने भी ऐसे ग्राम को दण्ड देने का आदेश राजा को दिया है । जिस ग्राम में स्वाध्याय रहित, व्रत हीन ब्राह्मण भिक्षा मांगकर समाज के वातावरण को दूषित बनाते हैं ।

समाज के वातावरण को दूषित बनाते हैं । ऐसे विवेकशून्य और ब्राह्मणों को आश्रय देने वाले ग्राम को राजा दण्ड दे ।[५] मनु का मत है कि दण्ड राजा है, राज्य का रक्षक एवं नियामक भी है । बुद्धिमान लोग सामाजिक संगठन के लिये दण्ड को धर्म मानते हैं ।[६]

---

१. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्—७.१

२. वही.८.२—कोषपूर्वा सर्वारम्भाः । तस्मात्पूर्वं कोषंमवैक्षेत् ।

३. अर्थशास्त्र—२.५ (प्रकरण ।)
पक्वं पक्वंमिवारामात्फलं राज्यादवाप्नुयात् ।
आत्मच्छेद भयादाम वर्जयेत्कोपकारकम् ॥

४. हिन्दू राज्य तंत्र (द्वितीय भाग), पृ० १७

५. पराशर स्मृति, ६०.१
अव्रता ह्यनधीयानाः यत्र भैक्ष्यचरा द्विजाः ।
तं ग्रामं दण्ड्येद्राजा चौर-भक्त प्रदो हि सः ॥

६. मनुस्मृति—१८.७
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धम विदुः बुधाः ॥

दण्ड न्याय की स्थापना का एकमात्र साधन है। दण्ड शक्ति के अभाव में राजा का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह सोच समझ कर सम्यक् रूप से दण्ड प्रयोग में लाये जो शास्त्र के बताये अनुसार कार्यों को न करके अन्य पाप युक्त कार्यों में लगे हुये हैं, उन्हें राजा दण्डित करे।[१]

आचार्य माधव ने याज्ञवल्क्य को उद्धृत कर उन सभी ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धावसिक्त जातियों, ताम्बुलिक आदि श्रेणियों, गणों एवं जानपदों के सम्बन्ध में दंड देने का निर्देश किया है जो अपने धर्म से भ्रष्ट हो गये हैं राजा पुनः उन सबको धर्मसंमत मार्ग में प्रवृत्त करे।[२] अतः वह प्रवृत्तियां, उद्देश्य, समय, स्थान एवं आर्थिक दशा आदि को ध्यान में रखकर अपराधी को दण्डित करे।[३] इसी मन्तव्य को स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने कुछ भिन्न रूप में प्रतिपादित किया है कि राजा को अपराध, देश, समय शक्ति, आयु कार्य और धन इत्यादि का पता लगाकर ही दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिये।[४]

राजा को पक्षपात रहित होकर दण्ड देना चाहिये। आचार्य माधव ने इस संबंध में मनु के मत समर्थन किया है। राजा को माता-पिता, आचार्य आदि सभी सम्बन्धों की अपेक्षा न्याय का पालन कर दोषी या अपराधी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिये अर्थात् राजा द्वारा अपराधी होने पर माता-पिता एवं आचार्य सभी दण्डनीय है। क्योंकि जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता, वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता जव

---

१. पराशर माधव से उद्धृत, पृ. २९०
अशास्त्रोक्तेषु चान्येषु पापयुक्तेषु कर्मसु।
प्रसमीक्ष्यात्मना राजा दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—३६१.१
कुलानि जातीः गणा जानपदानपि।
स्वधर्मान् चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्॥

३. मनुस्मृति—१६.७
तं देश कालो शक्तिं न विद्या चावेक्ष्य तत्वतः।
यथार्हतः संप्रणमेन्नरेष्वन्याय वर्तिषु॥

४. याज्ञवल्क्य स्मृति—३६८.१
ज्ञात्वा अपराधं देशं च कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥

राजा न्यायासन पर बैठ, न्याय को तब किसी का भी पक्षपात न करे अपितु यथोचित्त दण्ड देवे ।[१]

यदि राजा ऐसा नहीं करता है तब अधर्म युक्त न्याय करता है तो उसे सबके अधर्म का भी छठा भाग मिलता है । जैसे रक्षा करने वाला राजा को सबके धर्म का छठा भाग मिलता है । अभिप्राय यह है कि प्रजा के पाप कर्मों में तथा सद्कर्मों के फलों का भागीदार राजा भी बनता है क्योंकि वह स्वयं प्रजा को अच्छे एवं बुरे की पहचान करने वाला होता है तो उस स्थिति में कारण बनता है ।[२] क्योंकि प्रजा का व्यक्ति जो कर्म करता है राजा उस सबके छठे भाग का भागी होता है । यदि प्रजा का व्यक्ति पढ़ता है तो उसका भी, यज्ञ करता है या दान करता है, उपासन करता है । उन सबकी भली प्रकार रक्षा करने के कारण उस सबके छठे भाग को बांट लेता है ।[३]

इसके अतिरिक्त जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग करता है अर्थात् दण्डनीय या वध के योग्य लोगों को दण्ड या वध करता हुआ शासन करता है वह प्रतिदिन हजारों सेंकड़ों दक्षिणाओं से युक्तों यज्ञों से प्राप्त फलों के तुल्य पुण्य फल की प्राप्ति करता है ।[४]

जो राजा प्रजा की रक्षा किये बिना कर लेता है, वह पाप का भागी होता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । क्योंकि प्रजाओं का ध्यान न रखने के कारण उनके

---

१. मनुस्मृति—३३५८
पिता आचार्यः सहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्डयो नाम राज्ञो स्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥

२. वही—३०४८
सर्वतो धर्मषडभागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ।

३. मनुस्मृति—३०५८
यदधीते, यद्यजते यद्यदाति यदर्नति ।
तस्य षड्भागमाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥

४. मनुस्मृति—३०६८
रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजते हरहर्यज्ञः सहस्रशतदक्षिणेः ॥

असहयोग से किसी न किसी कष्ट से आक्रान्त होता है ।[१] अर्थात् प्रजा से विभिन्न प्रकार बलि, कर, प्रतिभाग जुर्माना आदि लेता है तथा प्रजा को सुरक्षा प्रदान नहीं करता वह शासनच्युत हो जाता है । अन्न के छटे भाग को 'बलि' कहते हैं, प्रतिमास या छठे मास या वार्षिक रूप में लिया जाने वाला टैक्स 'कर' है, व्यापारियों से लिया जाने वाला महसूल 'शुल्क' है, फल, सब्जी आदि पर लिया जाने वाला शुल्क 'प्रतिभाग' तथा अपराध के फलस्वरूप किया जाने वाला जुर्माना 'दण्ड' कहलाता है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राजा एवं राज्य की आय के प्रमुख तीन साधन थे, यथा—उपज पर राजा का भाग, चुंगी एवं दण्ड से प्राप्त धन (अपराधियों एवं मुकदमें बाजों द्वारा प्राप्त धन) मनु के अनुसार प्रमुख करदाता—कृषक, व्यापारी, श्रमिक एवं शिल्पकार थे ।[२]

राजा का मन्त्रिमंडल या राजा का अंकुश

राजा के कार्यों को हम धार्मिक एवं लौकिक दोनों रूपों में देखते हैं । प्रथम रूप में राजा देवताओं एवं अदृश्य शक्तियों को प्रसन्न रखने एवं भयों से दूर रहने के लिए पुरोहित एवं यज्ञिय पुरोहितों की सहायता से कार्यशील होता था ।[३] और उसे धर्म की रक्षा करनी पड़ती थी। उसके लौकिक या व्यावहारिक कार्य थे—संपत्ति बढ़ाना, अकाल एवं अन्य प्रकार की विपत्तियों के समय में प्रजा की रक्षा करना, न्याय की दृष्टि में सबको समान जानना, चोरों के आक्रमणों आदि से जन एवं धन की रक्षा करना । यदि वह ऐसा नहीं करता था, तो उसकी स्वच्छन्दता पर मन्त्रिमंडल के पुरोहित आमात्य एवं अन्य अधिकारियों द्वारा निरोध लगाये जाते थे । ये निरोध या अंकुश दो प्रकार के थे—१. निरोधात्मक और २. प्रतिफलात्मक ।

---

१. वही—३०७८
यो रक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
यदि भागं च दण्डं च सः सद्यो नरकं व्रजेत् ॥

२. मनुस्मृति—१२०.१०
धान्ये ष्टमं विशां शुल्कं विंश काषापणावरम् ।
कमोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥

३. याज्ञवल्क्य स्मृति, ३०८.१
ग्रहाधीना नरेन्द्राणामुच्छ्रायाः पतनानि च ।
भावाभावो च जगतस्तस्मात्पूजयत मा ग्रहाः ।

१. निरोधात्मक के द्वारा उसे स्वेच्छाचारी होने से रोका गया है ।

२. प्रतिफलात्मक के द्वारा उसे स्वेच्छाचारी होने पर दण्ड का विधान किया गया है ।[१]

पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव ने इस संबंध में मनु की विचारधारा को स्वीकार किया है ।

पुरोहित

यद्यपि मनु ने राजा के लिये पुरोहित के वरण की बात की है अपितु मानव धर्मशास्त्र में राजपुरोहित का कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता है तथापि परम्पराग्त रूप से प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के साथ-साथ राज पुरोहित का पद बड़े गौरव, सम्मान, आदर एवं परमधिकार का पद माना जाता रहा है । क्योंकि पुरोहित राजा पर सबसे बड़ा अंकुश है । जो उसको निरंकुश एवं प्रमादी होने से रोकता है । जैसे राजपुरोहित वशिष्ठ की आज्ञा से बालक राम का राजा दशरथ द्वारा महर्षि विश्वामित्र को दिया जाना ।[२]

अत: मनु की व्यवस्था के अनुसार प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में राजगुरु या राजपुरोहित का वरण राजा के लिये आवश्यक हैं । पुरोहित शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये आचार्य यास्क ने लिखा है कि राजा अभीष्ट संपादन में अग्रणी व्यक्ति को पुरोहित कहते हैं ।[३] पुरोहित राजा का शिक्षक एवं मार्गदर्शक होता था । मनु ने इस संबंध में कहा है कि उसे राजा के हित सम्वर्धन में सदैव कार्यरत् रहना चाहिये, इसीलिये उन्होंने राजा को परामर्श दिया है कि वह अपने कल्याण के लिए आर्थवण विधि से पुरोहित एवं यज्ञकर्म करने के लिए ऋत्विक को वरण करे ।[४] इस प्रकार मनुस्मृति में पुरोहित का पद विशेष आदरणीय है ।

---

१. शुक्रनीतिसार, ९९.२ यत्कोपभपीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् ।

२. रामायण (बालकाण्ड) १.२२
तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः स्वयम् ।
प्रहृष्ट वदनोराममाजुहाव स लक्षणम् ॥

३. निरुक्त—आचार्य यास्क—अ.७.पा.४ खं.१५
यथाः राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति ।

४. मनुस्मृति—७८.७
पुरोहितं चकुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः । तेऽस्य गृह्यानि कर्माणि कुर्युर्वतानिकानि च ॥

आचार्य माधव ने याज्ञवल्क्य के उद्धरण द्वारा यह स्पष्ट किया है कि वह पुरोहित विशेष रूप से देवज्ञ (अर्थात् ग्रहों के उत्पात एवं शमन का ज्ञान रखने वाले) सभी शास्त्रों के ज्ञाता एवं अनुष्ठान के समृद्ध, दण्ड और नीति में कुशल तथा अथर्वाङ्गिरस या शान्त एवं घोर कर्म में प्रवीण ब्राह्मण को ही पुरोहित नियुक्त करे ।[१] यहां पर 'आर्थवण' शब्द का अर्थ है, श्रोत तथा गृहयसूत्र संबंधी धार्मिक कृत्य करना ।

आचार्य शुक्र के अनुसार पुरोहित सबसे श्रेष्ठ और सर्वप्रथम राज्य तथा राष्ट्र का पालक होता है ।[२] उसकी योग्यता के प्रति कहा है कि पुरोहित को अस्त्र-शस्त्र का ज्ञाता और आचार्य होना चाहिए । उसमें शाप देने तथा वरदान देने की क्षमता होनी चाहिए ।[३] इसी प्रकार पितामह भीष्म ने शान्तिपर्व में पुरोहित को असाधारण गरिमा प्रदान की है और उसकी सम्मति को अन्तिम व्यवस्था का रूप प्रदान किया है ।[४]

राजा को श्रोत (अग्निहोत्रादि) एवं स्मार्त (उपासना) आदि कर्मों का अनुष्ठान कराने के लिए ऋत्विजों का वरण करना चाहिये । तथा विधिपूर्वक प्रचुर दक्षिणा के साथ राजसूय आदि यज्ञ कराये ।[५] तथा ब्राह्मण या पुरोहित को भोग और सुख के साधन उपलब्ध कराये और अनेक प्रकार का धन प्रदान करे; क्योंकि राजा जो

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—३१३.१
पुरोहितं प्रकुर्वीतं दैवज्ञमुदितोदितम् ।
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरस रखे तथा ॥

२. शुक्रनीतिसार—७४.२ पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वभ्योराजराष्ट्र भृत ।

३. वही—७८.२
नीतिशास्त्रास्त्र व्यूहादि कुशलस्तु पुरोहितः ।
सैवाचायः पुरोधायशापानग्रहयोः क्षमः ॥

४. महाभारत (शान्ति पर्व) —५० ८५
तेषां त्रयाणां विविधं विमर्श विवुद्धय चित्तं विनिवेश्यतत्र स्वनिश्चयततं पर निश्चयं च निवेदयेत् उत्तर मन्त्रकाले ॥

५. याज्ञवल्क्य स्मृति—३१४.१
श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणयादेव चर्त्विजः ।
यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत विधिवद्भूरिदक्षिणान् ॥

कुछ भी दान ब्राह्मणों को देते हैं, वह उनकी या राजा की अक्षय सम्पत्ति हो जाता है।[१]

सभा

सभा एक संगठन था। यह धर्मशास्त्रों में स्पष्ट या प्रतिपादित नहीं किया गया कि इसका संगठन किस प्रकार का था। इतना अवश्य स्पष्ट है कि वैदिक काल में यह एक राजनीतिक संगठन के रूप में विद्यमान था।[२] ऋग्वेद की वाजसनेयी संहिता के अनुसार (३०.६) सभाचर का अर्थ सभासद है अर्थत् न्याय-सम्बन्धी सभा का सदस्य। अर्थात् सभा या समिति का अर्थ सभा या सभा मण्डल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसमें राजकीय समस्याओं पर विस्तार से विवाद होता है। राजा नियमित रूप से सभा की बैठक में जाता था तथा सभा के व्यक्तियों के अनुसार समूह का हित सम्पादन करता था।[३]

इसके साथ-साथ समूह के कार्य के लिये आये हुये व्यक्तियों का कार्य करके राजा उन्हें दान, मान और सत्कार द्वारा सन्तुष्ट करके विदा करे।[४]

कौटिल्य ने मंत्रियों की इस सभा को मंत्रिपरिषद् कहा है। उनके अनुसार जब कोई विशेष विषय या विकट अवसर उपस्थित हो उस समय समस्त मंत्रियों और मंत्रि परिषद् को एकत्रित होकर विचार करना चाहिए।[५]

स्मृतिकार मनु की दृढ़ मान्यता है कि अकेला मनुष्य सुगम कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता, फिर भला राजा महान फल को देने वाला राज्य-सम्बन्धी

---

१. वही—३१५.१
भोगाश्च दद्यादविप्रभ्यो वसूनि विविधानि च।
अक्षया यं निधी राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम्॥

२. ऋग्वेद १०.११.३

३. याज्ञवल्क्य स्मृति—१८८.३ कर्तव्यं वचनं सर्वे: समूह हित वादिनाम्॥

४. वही—१८९.३
समूह कार्य आयातान्कृत कार्यान्विसर्जयेत्।
स दान मान सत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः॥

५. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१.१५, वार्ता ११
आत्ययिके काय मन्त्रिणो मंत्रिपरिषदं चाह्यब्रुयात्।

कार्य कैसे बिना किसी की सहायता के चला सकता है ? क्योंकि राज्य संचालन स्वयं एक दुष्कर कार्य है । अत: इस कार्य में राजा की सहायता में मंत्रिमंडल नितान्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।[१]

इसके अतिरिक्त राजा को राज्य के शासन संबंधी समस्याओं पर मंत्रणा लेने के लिये विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ कई व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है । अत: आचार्य शुक्र ने निर्देश दिया है कि राजा अनेक विषयों के विशेषज्ञ कतिपय व्यक्तियों को स्थायी रूप से अपने समीप रखे, जिससे जब राजा को मंत्रणा की आवश्यकता हो, वह उनसे प्राप्त कर सके ।[२]

---

१. मनुस्मृति—५५.३०, ३१.७
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतो सहायेन किं नु राज्यं महोदयम् ॥
सो सहायेन मूढ़न लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो ने तुं सक्तेन विषयेषु च ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥
पुरुषे-पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिर्वैभवम् ।
आप्त वाक्येश्नु भवै रागमैखुमानतः ॥

२. शुक्रनीतिसार, ५.२
पुरुषे-पुरुषे भिन्न दृश्यते बुद्धिर्वैभवम् ।
आप्त वाक्यैश्च भवै रागभैरवुमानतः ॥

षष्ठ अध्याय

आचार्य माधव तथा उनकी व्यवहार-मीमांसा

प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था को व्यवहार तथा इसकी स्थापना को व्यवहार-स्थापना संज्ञा दी जाती थी। मनुस्मृतिकार ने भी इसे व्यवहार नाम से संबोधित किया है।[1]

कात्यायन ने इस 'व्यवहार' पद की दो परिभाषायें दी हैं—जिनमें एक शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर है जो प्रमुख रूप से विधि की ओर संकेत करती है और दूसरी प्रमुख रूप से परम्परा के आधार पर है, जो झगड़े या मुकदमे या विवाद से सम्बन्धित है। व्यवहार शब्द की व्युत्पत्ति वि + अव + हार से हुई है। उपसर्ग 'वि' का प्रयोग बहुत के अर्थ में, 'अव' का सन्देह के अर्थ में तथा 'हार' का हटाने या हरण करने के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार व्यवहार से अभिप्राय उस कार्य से जिसके द्वारा नाना प्रकार के सन्देह दूर किए जा सकें।[2]

यद्यपि ऋणादान आदि अट्ठारह व्यवहार पदों में से स्मृतिकार पराशर ने किसी को भी प्रतिपादित नहीं किया है तथापि आचारकाण्ड के चारों वर्णों के धर्मों के वर्णन में इसका अन्तर्भाव किया है।[3]

---

१. मनुस्मृति—१८
व्यवहारादि दृक्षुस्तु ब्राह्मणेः सहः पार्थिवः।

२. मनुस्मृति—१८ पर कुल्लुक की टीका से उद्धृत

३. पराशर-स्मृति, ६६.१
'क्षत्रियस्तु प्रजाश्चैव क्षितिं धर्मेण पालयेत्।'

अतः पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव ने इस एक वाक्य 'क्षितिं धर्मेण पालयेत्' के आधार पर ही सम्पूर्ण व्यवहार अध्याय को स्वयं प्रतिपादित किया है ।[१] यह स्वयं माधवाचार्य के व्यक्तित्व की विशेषता है ।[२]

आचार्य माधव

आचार्य माधव 'पराशर-स्मृति' के प्रमुख टीकाकार हैं। पराशर स्मृति में केवल आचार एवं प्रायश्चित विषय पर चर्चायें हुई हैं। अपितु इसके टीकाकार आचार्य माधव ने व्यवहार-सम्बन्धी विवेचन अपनी ओर से जोड़ दिया है ।[३]

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों पर टीका लिखने वाले दाक्षिणात्य टीकाकारों में श्रीमाधवाचार्य सर्वश्रेष्ठ हैं। ख्याति में शंकराचार्य के बाद उन्हीं का नाम लिया जाता है। आपने अपने भाई सायण तथा अन्य लोगों को संस्कृत साहित्य में बृहद्-ग्रन्थों के प्रणयन के लिए उद्वेलित किया है ।[४]

आचार्य माधव प्रकाण्ड विद्वान, दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ तथा विजयनगर राज्य के आरम्भिक दिनों के स्तम्भ माने जाते थे। वृद्धावस्था में एक सत्कर्मों में लीन संन्यासी तथा दिन-रात उत्तम कार्य में संलग्न रहने वाले माधवाचार्य जी एक विलक्षण व्यक्तित्व के स्वामी कहे गये हैं ।[५]

पराशर माधवीय के आरम्भ में आपका परिचय दिया गया है जिसकी माता का नाम श्रीमती तथा पिता का नाम श्रीमायण था तथा वेद भाष्यकार सायण और

---

१. पराशर स्मृति ६६.१
क्षत्रियो हि प्रजा रक्ष छत्रपाणि प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षिति धर्मेण पालयेत् ॥

२. पराशर-माधव (व्यवहार-काण्ड) पृ.९
अतएव आचारकाण्डे व्यवहाराणामन्तभविमभिप्रेत्य पराशरः पृथग्व्यवहारकाण्ड-मकृत्वा, 'क्षितिं धर्मेण पालयेत्' इति सूचनमात्रं व्यवहाराणां कृतवान्। तानेवात्र सूचितान् व्यवहारान् वयं स्मृत्यन्तराणि तन्निबन्धनानि चानुसृत्य यथाशक्तिनिरूपयामः।

३. पराशर माधव से उद्धृत, पृ.

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, काणे, पी.वी. पृ.८६

५. वही, पृ.८६

भोगना दो भाई थे, बोधायन धर्मसूत्र, जो यदुर्वेदीय ब्राह्मण थे, इनका गौत्र भारद्वाज है। वह माधव ज्ञान में सर्वज्ञ हैं।[१]

माधवाचार्य की उत्तरावस्था का नाम 'श्रीविद्यारण्य' मुनि था। आपने सन् १३३५ ई. में विजय नगर के राज्य की नींव डाली और स्वयं राज्य का मन्त्रिपद ग्रहण कर उसका विस्तार किया था। आपके ही सत्प्रयत्न और बुद्धि बल से दक्षिण में यवन-साम्राज्य शिथिल हुआ था। चिरकाल तक विजय नगर राज्य के मन्त्रि पद पर रहकर, वृद्धावस्था में संन्यास ग्रहण किया। वे संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् श्रृङ्गेरीमठ के अध्यक्ष हुए थे।[२] इनके 'सायण-माधवीय' ग्रन्थ के उल्लेख से इनका 'सायण' कुल नाम विदित होता है।[३]

व्यक्तित्व

पराशर माधवीय ग्रन्थ के मंगलाचरण में माधवाचार्य की विशेषताओं को बताया गया है। वह माधव सभी पुराणों तथा संहिताओं का प्रवर्तक है, पराशर-स्मृति की सौन्दर्य सुषमा है तथा जगत् के हित की प्राप्ति के निमित्त स्मृति की व्याख्या या विवृत्ति के कहने वाला है।[४]

---

१. पराशर स्मृति, पृ. ३
श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिमायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरो॥
यस्य बौधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाजं कुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः॥

२. तैत्तिरीय-संहिता, ३,४.१
यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्य वेदार्थस्य प्रकाशने॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुमाधवाचार्यो वेदार्थं वक्तुमद्यत्॥

३. तैत्तिरीय संहिता का भाष्य, पृ. १
इत्युक्तो माधवार्येण वीर बुक्कमहीपतिः।
अन्वशात् सायणाचार्य वेदार्थस्य प्रकाशने॥

४. पराशर स्मृति, पृ. १
स माधवः सकल पुराणसंहिता-प्रवर्तकः स्मृति सुषमा पराशरः। पराशर स्मृतिजगवादीहिताप्तये। पराशर स्मृति विवृतो प्रवर्तते॥

'पराशर-स्मृति' नामक ग्रन्थ की आचार्य माधव से पूर्व किसी भी अन्य टीकाकार द्वारा व्याख्या नहीं की गई है। और न कोई निबन्ध अन्य टीकाकार ने लिखा है, स्वयं माधवाचार्य ने ही इसकी व्याख्या के निमित्त प्रयत्न किया है।[१]

आचार्य माधव के ग्रन्थों के अवलोकन से उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता यह ज्ञात होती है कि आपके क्रमश: तीन गुरु थे—श्री शंकरानन्द, श्री विद्यातीर्थ और श्री भारतीतीर्थ। उन्होंने 'विवरण प्रमेय' ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री शंकरानन्द जी को प्रणाम किया है।[२] ओर इसी ग्रन्थ की समाप्ति में 'श्री विद्यातीर्थ' जी को ग्रन्थ का समर्पण किया है।[३] तथा 'जैमिनीय न्यायमाला' नामक ग्रन्थ में आपने 'श्रीभारतीतीर्थ' को गुरु रूप में प्रणाम किया है।[४] अत: इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पहले श्री विद्यातीर्थ गुरु थे, उनके देहावसान के पश्चात् उनके शिष्य भी भारतीतीर्थ के समीप उन्होंने विद्या प्राप्त की तथा वृद्धावस्था में श्री शंकरानन्द जी से सन्यास की दीक्षा ली थी।[५]

आचार्य माधव का कुल नाम सम्भवत: 'सायणं' था क्योंकि आपने श्री पितृचरण 'मायण' को ही 'सायण' की उपाधि से अलंकृत किया है। तथा इसके अतिरिक्त आपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थ के आरम्भिक श्लोक में भी स्वयं को सायण रूपी क्षीरसागर का कौस्तुभ कहा है।[६]

---

१. वृही, पृ. १
पराशर-स्मृतिः पूर्वेन व्याख्याता निबन्धृमिः।
मया तो माधवायूर्येण तद्वाख्यायां प्रत्ययते॥

२. विवरण-प्रमेय—स्वामात्रयानन्दयदत्र जन्तून सर्वात्मभावेन तथा परत्र।
यच्छङ्करानन्दपदं हृदयव्जे विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति॥

३. वही—यद्विद्यातीथंगुखे शुश्रुषा न्या न रोचते तस्मात्।
अस्त्वेषा भक्तियुक्ता श्री विद्यातीर्थपादयो सेवा॥

४. वही—स भव्याह भारतीतीर्थन्द्रचतुराननात्।
कृपामव्याहतां लव्ध्वा पराध्य प्रतिमो भवत्॥

५. पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १
तथा सद्वृंत साधूनामाचरणं, तदेव तीर्थ श्रयन् आश्रयन्। सो हं प्राप्य विवेकतीर्थपदवी माम्नाय तीर्थे परं मज्जन् सज्जनसङ्गतीर्थनिपुण सहृत्ततीर्थ श्रयन्।

६. सर्वदर्शनसंग्रह—१.१
श्री मत्सायण दग्धाब्जे कोस्तुभेन महोजसा। क्रियते माधवायेण सर्वदर्शन संग्रहः॥

ऐसे ही 'माधवीय-धातुवृत्ति' व्याकरण के ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी आपने अपनी 'सायण' उपाधि का उल्लेख किया है तथा अपने पिता के नाम के साथ भी 'सायण' नाम का प्रयोग किया है।[१]

श्री माधवाचार्य जी ने अपना गार्हस्थ्य-जीवन केवल राज्य-कार्य में ही व्यतीत किया था, अपितु आपने उत्तम ग्रन्थ की रचना कर संस्कृत-भण्डार की वृद्धि करते हुए सरस्वती देवी की आराधना की थी।[२]

वीर शिरोमणि बुक्कराजा की आज्ञा से उन्होंने कुछ काल के लिए जयन्तीपुर में राज्य भी किया था। उनके शासन काल में उक्त देश अधिक समृद्ध था। उसी समय श्री माधवाचार्य ने कोङ्कण देश की राजधानी गोवा पर अपना अधिकार स्थापित किया और मुसलमानों द्वारा मग्न सप्तनाथ प्रभृति देवताओं की मूर्तियां स्थापित कीं।[३]

राज्य कार्य में आचार्य माधव की निपुणता असीम थी।[४] जो सर्वविदित थी। शास्त्र चर्चा में भी आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे समान रूप से वैयाकरण, दार्शनिक, कवि, स्मृति संग्रह कर्ता एवं सर्वदर्शन पारंगत थे। इस प्रकार का सम्पूर्ण गुणों का अपूर्व सम्मिश्रण दुर्लभ दृष्ट होता है।[५]

---

१. माधवीय-धातुवृत्ति—४ (मंगलाचरणं)
अस्ति श्री सङ्गमक्षमापः पृथ्वीतल पुरन्दरः।
तस्य मन्त्रिशिखारत्नसस्ति मायण सायण॥

२. पराशर-माधव, आचार काण्ड पृ. १.१
पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोच्य शास्त्राण्यसो।
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरूपन्यासत सतां प्रीतये॥

३. विवरण प्रमेय के सम्पादकीय वक्तव्य से उद्धृत, पृ.१

४. पराशर-माधव, पृ. २
स्मार्तोच्छ्रायधुरन्धरो विजयते श्रीबुक्कणः क्षमापतिः। इन्द्रस्याङ्गिरसो नलस्य सुमतिः शैव्यस्य मैधातिथि-द्रोभ्यो धर्मसुतस्य वैरायनृपतेः स्वौजा निमेर्गोतमिः। प्रत्यग्दृष्टिररुन्धतीसहचरो रामस्य पुण्यात्मनोयद्वत्तस्य विभोरभूत् कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधवः॥

५. पराशर-माधव, पृ. २
शक्त्या कोरकिता यशः सुरभिताः सिद्धया समुद्यत्फला। सम्प्राप्ता भुवि भाति नीतिलतिका सर्वोत्तरं माधवम्॥

कृतित्व

'पराशर-माधवीय' एवं 'कालनिर्णय' उनकी दो अन्यतम कृतियां हैं। जिनमें से पराशरमाधवीय का प्रकाशन कई बार हो चुका है। यह केवल पराशर स्मृति पर एक भाष्य ही नहीं है, प्रत्युत आचार सम्बन्धी निबन्ध भी है। दक्षिणावर्तीय भारत के व्यवहारों में 'पराशरमाधवीय' का प्रभूत महत्व है। इसकी भाषा शैली सरल एवं मनोहर है। इसमें पुराणों एवं स्मृतिकारों के अतिरिक्त निम्न लेखकों एवं कृतियों का नामोल्लेख किया गया है—अपरार्क, देवस्वामी, पुराणसार; प्रपंचसार, मेघातिथि, विवरणकार, विश्व पाचार्य एवं स्मृतिचन्द्रिका आदि।[१]

माधवाचार्य या सायणाचार्य जी ने संस्कृत-साहित्य की सभी विधाओं को आलोकित किया है। वेद, व्याकरण, काव्य, दर्शन, साहित्य, स्मृति एवं ज्योतिष आदि सभी विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया है।[२]

सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले माधवाचार्य ने स्मृति एवं धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थों में 'पराशर स्मृति' पर 'पराशर-माधवीय' टीका लिखी तथा निबन्धों में 'कालमाधव' निबन्ध ग्रन्थों को रचा। तथा दर्शन की विधा में 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक संग्रह किया, काव्य के क्षेत्र में 'शङ्करदिग्विजय' पुराणों में स्कन्द पुराण इसके अतिरिक्त अद्वैत तत्व के प्रकाशन के निमित्त वेदान्त के प्रसंग में 'विवरणप्रमेयसंग्रह' का निर्माण किया।[३]

इनके अतिरिक्त 'वृहदारण्यकवार्तिकसार', 'पंचदशी', 'जीवन्मुक्तिविवेकः', 'अनुभूति-प्रकाश', 'अपरोक्षानुभूति टीका', 'ऐतरेयोपनिषद्दीपिका', 'तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका', 'छान्दोग्योपनिषद् दीपिका' इत्यादि ग्रन्थों का प्रणयन भी किया है।[४]

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, काणे, पी.वी., पृ.८६

२. माधवीय-धातुवृत्ति, पृ.१४
संस्कृतभाषाभिज्ञः सहृदयः वेदभाष्यकर्तुः, सायणाचार्यस्य नाम्नो नभिज्ञः। वेद-व्याकरण-कोश-न्याय-साहित्यैतिह्यधर्मशास्त्रादिनानाविधेषु विषयेषु प्रसन्नगम्भीरया सुललितया गिरा ग्रन्थराशि विरचयद्भिरेभिराचार्यपुङ्गवैः सुतरां सत्यापितं खल्विदं पदम् 'भारद्वाजकुलेशसायण। गुणैस्त्वत्तस्तमेवाधिकः इति।

३. उपरोक्त सभी ग्रन्थों की भूमिका के आधार पर।

४. पञ्चदशी की भूमिका से उद्धृत, पृ. २२—एतदग्रन्थकृत्प्रणीता अन्ये ग्रन्थाः।

ये वृद्धावस्था में विद्यारण्य नाम से संन्यासी हो गये थे। दक्षिण में स्थित श्रृङ्गेरी मठ के अध्यक्ष भी थे। तथा सो से अधिक आयु के होकर जीवन यात्रा को समाप्त कर निर्वाण का लाभ किया था।[१]

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् काणे महोदय के अनुसार ये १३७७ ई. में संन्यासी हो गये थे। तथा इनकी मृत्यु ९० वर्ष की अवस्था में १३८६ में हुई। अतः माधवाचार्य के साहित्यिक कर्मों को १३३० ई. से १३८५ ई. के मध्य में रखा गया है।[२]

व्यवहार का स्वरूप एवं परिभाषा

कतिपय स्मृतियों एवं टीकाकारों ने 'व्यवहार' शब्द की परिभाषा दी है। कात्यायन ने इस शब्द की परिभाषा रूढ़ि एवं यौगिक दोनों प्रकार से की है। उनमें से एक व्युत्पत्ति के आधार पर है और प्रमुख रूप से प्रक्रिया को स्पष्ट करता है और दूसरा लक्षण विवाद को दृष्टि में रखकर रूढ़ि के अर्थ को द्योतित करता है। योगिक अर्थ को आधार मानकर लक्षण इस प्रकार किया है—उपसर्ग 'वि' का अर्थ है—'अनेक', 'अव' सन्देह के अर्थ में है और 'हार' का अर्थ है दूर करना, अतः अनेक सन्देहों को दूर करने वाला 'व्यवहार' कहलाता है।[३]

यह परिभाषा न्याय शासन को बहुत ऊंचा पद दे देती है। रूढ़ि के रूप में व्यवहार का लक्षण इस प्रकार है—लिखित, वाचिक आदि साक्षियों के आधार पर जो वाद-विवाद होता है वह 'व्यवहार' कहा जाता है।[४] इस लक्षण के अनुसार धर्म का विच्छेद न होने पर व्यवहार के लिए कोई अवकाश नहीं है। मिताक्षरा के अनुसार दूसरे का विरोध करते हुए अपने मतों को कहना 'व्यवहार' कहलाता है।[५]

---

१. वही—पृ. २३ सन्यासं गृहीत्वा... निर्वाणं लब्धवान् इति।

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, काणे, पी.वी., पृ. ८६

३. मनुस्मृति—१८ पर कुल्लुक की टीका से उद्धृत—
वि नाना र्थे व संदेहेऽहरणंमहार उच्यते। नानासंदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतः॥

४. याज्ञवल्क्य स्मृति, १.२ पर अपरार्क की टीका से उद्धृत—
प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तारे।
साध्यमूलो त्र यो वादो व्यवहारः स उच्यते॥

५. याज्ञवल्क्य स्मृति १.२ पर विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका
अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः।

आचार्य माधव ने व्यवहार के संदर्भ में याज्ञवल्क्य के मत का समर्थन किया है। याज्ञवल्क्य ने 'पद' शब्द का अर्थ विषय किया है। यदि धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध ढंग से दूसरों द्वारा पीड़ित होकर कोई व्यक्ति राजा से निवेदन करे तो वह व्यवहार का विषय होता है।[१]

स्मृतिकार मनु ने 'व्यवहार पद' के 'पद' शब्द का अर्थ स्थान किया है—ऋण लेना, धरोहर आदि १८ स्थान व्यवहार की स्थिति है।[२]

व्यवहार के संबंध में कहा गया है कि निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। क्योंकि राजा न्याय का स्रोत माना जाता है।[३]

कौटिलीय का मत है कि राजा दिन के दूसरे पहर में नगर तथा जनपद निवासियों के कार्यों को देखे।[४]

मनु का मत है कि जनता के झगड़ों को दूर करने की इच्छा से राजा ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ राजसभा में प्रवेश करे तथा प्रतिदिन के झगड़े के कारणों को दूर करे।[५] मिताक्षराकार का मत है कि प्रजा की रक्षा राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य है, परन्तु यह कर्तव्य अपराधियों को दण्ड दिए बिना पूर्ण नहीं हो सकता, अतः राजा को प्रतिदिन न्याय एवं व्यवहार दर्शन करना चाहिए।[६]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—५.२
स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणा घर्षितः परेः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहार पदं हि तत्॥

२. मनुस्मृति—४,७८
तेषामाद्यमृणादानं...पदान्यष्टादशेतानि व्यवहार स्थिताविह॥

३. मनुस्मृति—१२८८
अदण्ड्यान् दण्ड्यन् राजा दण्ड्याश्चैवाप्यदण्ड्यन्।

४. कौटिलीय अर्थशास्त्र १.१९.११
द्वितीय पोरजानपदानां कार्याणि पश्येत्॥

५. मनुस्मृति—१.३८
व्यवहारान्दिहक्षस्तु ब्राह्मणे: सह पार्थिवः।
प्रत्याहं देशंदृष्टेश्च शास्त्रदृष्टेश्च हेतुभि॥

६. याज्ञ. स्मृति—१.२ पर विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरादीटा
अभिषेकादि गुण युक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः। तच्च दुष्टनिग्रहन्तेरण न संभवति। दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तेरण संभवति।

इसी प्रकार कात्यायन के अनुसार कानून का उद्देश्य है झगड़े के बीच सत्य का उद्घाटन करना, अपितु कुछ अन्तर भी है । सत्य की खोज में दार्शनिक तो मनमाना समय ले सकता है; जबकि न्याय यथा सम्भव शीघ्रता से किया जाता है । इतना ही नहीं, न्यायविधि अपने ढंग से सत्य की खोज करती है, इसे वाचिक एवं लेख्य प्रमाण पर आधारित होना पड़ता है । इसकी अपेक्षा दार्शनिक सत्य की खोज में अपनी बौद्धिकता एवं आत्मपरकता पर निर्भर रहता है ।[१]

आचार्य माधव की व्याख्या के अनुसार ऋणादान से लेकर दायविभाग तक के सारे व्यवहार पदों को व्यवहार से सन्निहित माना गया है । इन व्यवहार के विवादों को बृहस्पति ने दो प्रकारों में बांटा है । जैसे—(१) धन सम्बन्धी विवाद एवं (२) हिंसा संबंधी । जिन्हें आज हम माल (सिविल) एवं फौजदारी (क्रिमिनल) के रूप में पाते हैं ।[२] याज्ञवल्क्य ने धन सम्बन्धी झगड़ों का उल्लेख किया है । उन्होंने अर्थ सम्बन्धी एवं हिंसा या मारपीट सम्बन्धी झगड़ों को दो प्रकार का माना है । अर्थ या धन से सम्बन्धित मुकदमे चौदह भागों में तथा हिंसा से उत्पन्न मुकदमे चार भागों में बंटे हुए हैं ।[३]

कात्यायन ने भी कहा है कि इन झगड़ों के मूल दो हैं—

(१) जो देय है उसे न देना तथा

(२) हिंसा या मारपीट करना

धर्मशास्त्रों के अनुसार धर्म राज्य की परम शक्ति होता है और वह राजा के ऊपर की शक्ति है; राजा तो केवल एक यन्त्र या साधन है जिसके द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है । अर्थात् जहां पर विहित के अनुष्ठान में तथा निषिद्ध के निषेध करने

---

१. कात्यायन-स्मृति, पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. ७
‘प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे ।
साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहारः स उच्यते ॥’

२. बृहस्पति स्मृति—
द्विपदो व्यवहारः स्याद्धनहिंसासमुदभवः ।
द्विसप्तको र्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः ॥

३. याज्ञवल्क्य स्मृति—२३.२
सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया ।
आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥

में उत्पन्न प्रयत्न या साध्य धर्म नामक पदार्थ का विच्छेद होता है वहां पर व्यवहार प्रवृत्त होता है ।[१]

स्मृतिकारों का अभिप्राय है कि जनता राजा के न्याय को माने क्योंकि प्रायः सभी विद्वानों ने मात्स्य न्याय के वर्णन द्वारा राजतन्त्रात्मक शासन की उच्चता को घोषित किया है क्योंकि उनका विश्वास था कि धार्मिकता एवं नैतिकता में उत्तरोत्तर अवनति होती आ रही है अतः नारद ने भी कहा है कि जब लोग धार्मिक एवं सत्यवादी थे उस समय न तो व्यवहार की आवश्यकता थी और न द्वेष था। जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होने लगा तब धर्म एवं न्याय का प्रवर्तन हुआ और राजा झगड़ों को दूर करने वाला एवं दण्डधर घोषित हुआ।[२] बृहस्पति ने भी नारद के मत का समर्थन किया है। अर्थात् मनुष्यों के लोभ, द्वेष आदि भावों से अविभूत होने पर व्यवहार प्रवृत्त हुआ।[३]

आचार्य माधव को व्यवहार के भेद के विषय में नारद का मत अभिप्रेत है कि यह द्विफल है; जैसे—सयण एवं अयण है यह चतुष्पाद अर्थात् चार पाद वाला है, वे सब धर्म, व्यवहार (लोकाचार) चरित्र एवं राजशासन इत्यादि हैं।[४]

---

१. पराशर माधव से उद्धृत, पृ.८ भाग-२,
‘सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात् न स्तेनः स्यात् न वार्द्धुषिः।’

२. नारद स्मृति, १.१
‘मनुः प्रजापतिर्यस्मिन् काले राज्यमबूभुजत्।
धर्मैकतानाः पुरुषास्तदा सन् सत्यवादिन ॥
तदा न व्यवहारो भूत् न द्वेषो नापि मत्सरः।
नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रवर्तते’ .. इति ॥

३. बृहस्पति—पराशर-स्मृति, भाग-२ से उद्धृत, पृ.८
‘धर्मप्रधानाः पुरुषाः पूर्वमासन्नहिंसका।
लोभद्वेषाभिभूतानां व्यवहारः प्रवर्तते ॥’

४. नारद स्मृति (४.१) तत्र सपणवत्वापणत्वाभ्यो द्वैविध्यं
‘सोत्तरो नुत्तरश्चेति स विज्ञेयो द्विलक्षणः।
सोत्तरो भ्यधिको यत्र विलेखापूर्वकः पणः ॥
धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
चतुष्पाद्व्यवहारो यमुत्तरः पूर्वबाधकः ॥

सपण एवं अपण—१. जब दोनों दल या उसका एक (वादी या प्रतिवादी) हारने पर कुछ धन देने का वचन (गर्व, घमण्ड या क्रोधावेश में या अपने मुकदमे की सच्चाई पर विश्वास होने के कारण) दे तो इसे सपण कहा जाता है।

२. बिना वचन दिये या बाज़ी लगाये जो मुकदमा होता है, वह अपण होता है। नारद ने सपण एवं अपण के स्थान पर क्रम से सोत्तर एवं अनुत्तर शब्दों का प्रयोग किया है।

याज्ञवल्क्य एवं बृहस्पति के अनुसार अभियोग, उत्तर, क्रिया एवं निर्णय चतुष्पाद हैं।[1] किन्तु कात्यायन एवं अपरार्क के अनुसार चतुष्पाद क्रमशः—अभियोग, उत्तर, प्रत्याकलित एवं क्रिया हैं।[2]

आचार्य माधव के अनुसार धर्म तथा अन्य तीन, वास्तव में अन्तिम निर्णय के चार पाद हैं। अन्तिम निर्णय व्यवहार की चार स्थितियों में से एक स्थिति या दशा है, अतः गौण अर्थ में ये अन्तिम निर्णय के चार पाद हैं।[3]

व्यवहार की विधायें

मनु याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने व्यवहार के स्वरूप एवं नियम बतलाये हैं—ये विषय हैं—

१. चतुष्पाद—धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन।

२. चतुःस्थान—अर्थात् सत्य, साक्षी, पुस्तकरण एवं राजशासन।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—८.२
तत्सिद्धो सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतो न्यथा।
चतुष्पादव्यावहारो यं विवादेषूपदर्शितः॥
बृहस्पति—पराशर माधव से उद्धृत, पृ. ११, १२
धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया।
चतुष्प्रकारो भिहितः संदिग्ध र्थे विनिर्णयः॥

२. कात्यायन ७.२ मिताक्षरा से उद्धृत, पृ. १३३
अभियुक्तो भियोगस्य यदि कुर्यादपह्नवम्।
मिथ्या तत्तु विजानीयादुत्तरं व्यवहारतः॥

३. पराशर माधव से उद्धृत, पृ. ११ नायं दोषः।
धर्मादीनां प्रकारान्तरेण पादत्वोपपतेः यो यं निर्णयाख्यश्चतुर्थपादो भिहितः स धर्मादिभिश्चतुभिः निष्पद्यते।

३. चतुस्साधन—चार साधन, यथा—साम, दान, भेद एवं दंड वाला।

४. चतुर्हित—चार वर्णों तथा चारों आश्रमों को लाभ पहुंचाने वाला।

५. चतुर्व्यापी—जो चारों विवादियों, साक्षियों, सभ्यों तथा राजा पर छाया रहता है।

६. चतुष्करी—जो चार फल उत्पन्न करे, यथा—धर्म (न्याय), लाभ ख्याति एवं जनता के लिए प्रेम या आदर का भाव पैदा करे।

७. अष्टांग—इसके अंग या सदस्य हैं, यथा—१. राजा, २. उसके अच्छे अधिकारी (उच्च न्यायाधीश), ३. सभ्य (जज या न्यायाधीश), ४. शास्त्र (कानून की पुस्तकें अथवा न्याय या व्यवहार सम्बन्धी स्मृति ग्रन्थ), ५. गणक, ६. लिपिक, ७. अग्नि एवं ८. जल।

८. अष्टादश पद—इसमें अट्ठारह अधिकारों या स्वत्वों (ऋणादान आदि से दायभाग तक के अधिकार शामिल हैं।[१]

९. शतशाख—इसकी सौ शाखाएं हैं नारद के अनुसार १८ स्वत्वों में १३२ उपशीर्षक (ऋणादान २५, उपनिधि ६, सम्भूय समुत्थान ३, दत्ताप्रदानिक ४, अशुश्रषा ९, वेतन ४, अस्वामिविक्रय २, विक्रीयादान १, क्रीतानुशय ४, समयस्यानपाकर्म १, क्षेत्रवाद १२, स्त्रीपुंसयोग २०, दायभाग १९, साहस १२, वाक्पारुष्य एवं दण्डापारुष्य ३, द्युतसमाहृत्य १, प्रणीर्णक ६) हैं।

१०. त्रियोनि—जिसके तीन स्रोत या प्रेरणाएं हों यथा—काम, क्रोध, लोभादि।

११. द्वयभियोग—दो प्रकार के अभियोग, सन्देह या सच्ची घटना पर आधारित होता है।

१२, द्विदार—जिसमें दो द्वार हों, अर्थात् यह अभियोग में वर्णित कथनों तथा उत्तरों पर आधारित है।

---

१. पराशर माधव से उद्धृत, पृ. १०
'चतुष्पा च चतुः स्थान चतुःसाधन एव च।
चतुर्हितः चतुर्व्यापी चतुःकारी च कीर्तितः॥
त्रियोनिद्धभियोगश्च द्विद्वारो द्विगतिस्तथा।
अष्टाङ्गोऽटादशपदः शतशाखस्तथैवच॥

१३. द्विगति—इसकी दो गतियां होती हैं, अर्थात्—निर्णय सत्य या झूठ पर आधारित हो सकता है।

१४. द्विपद—इसके दो पेर हैं, यथा धनमूल (सिविल या माल संबंधी) तथा हिंसामूल (क्रिमिनल या फौजदारी)।

१५. द्विरुत्थान—धन सम्पत्ति से उत्पन्न विवाद या फिर हिंसा या मारपीट इंत्यादि से उत्पन्न विवाद सम्बन्धी विवाद व्यवहार के दो उत्थान माने गये हैं।

१६. द्विस्कन्ध—इसके दो स्कन्ध धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र हैं।

१७. द्विफल—इसके दो फल हैं; जीत या हार।

१८. एकमूल—व्यवहार का मूल या जड़ एक ही है अर्थात् जो निर्णीत होने वाला है, वह एक ही होता है।

१९. सपण एवं अपण—जब दोनों दल वादी या प्रतिवादी में से एक के हारने पर कुछ धन देने का वचन दें तो इसे सपण कहा है और जब कुछ भी धन इत्यादि देने का वचन न दिया जाता है उसे अपण कहा जाता है।[1]

आचार्य माधव ने पूर्वोक्त अंगों को व्यवहार के अवान्तर भेद कहा है।

धर्म

व्यवहार के प्रमुख अंगों में से चतुष्पाद के 'धर्म' के संबंध में कहा गया है।[2] धर्म के अनुसार निर्णय का तात्पर्य यह है कि अपराधी अपना दोष मान ले और

---

१. पराशर माधव से उद्धृत, पृ. १०.
काम क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात् प्रवर्तते।
त्रियोनिः कीर्त्यते तत्र त्रयमेतद्विवादकृत्॥
द्वयभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्वाभियोगतः।
शड्का सतान्तु संयोगात् तत्वं होडादिदर्शनात्॥

२. पराशर माधव से उद्धृत, पृ. १०
पक्षद्वयाभिसम्बन्धात् द्विदारः स उदाहृतः।
पूर्ववादस्तयोः पक्षः प्रतिवादस्तदुतरः॥
भूतच्छलानुसारित्वात् द्विगतिः स उदाहृतः।
भूतं तत्वादिसुंयुक्तं प्रमादभिहितं छलम्॥
राजा सपुरुषः सभ्याः शास्त्रं गणकलेखको।
किरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्गः स उदाहृतः॥

वादी को उसका धन मिल जाये या उसकी मांग की पूर्ति हो जाये। धर्मानुगत व्यवहार के निर्णय करने में मुकदमा आगे नहीं चलता, अर्थात् साक्ष्य, लेख-प्रमाण आदि की क्रियाएं नहीं होतीं। इसी प्रकार जहां द्रिक्ष्य (साक्षी) द्वारा प्रमाण एकत्र करके निर्णय दिया जाता है वहां पर धर्मपाद माना जाता है। दिव्य को सत्य भी कहा जाता है। इसमें अपराधी सत्य कहता है और इस प्रकार के निर्णय को धर्म का निर्णय कहा जाता है।[१] बृहदारण्यकोपनिषद ने भी धर्म एवं सत्य को एक ही मानकर प्रतिपादित किया है क्योंकि धर्म से परे कुछ भी नहीं है। धर्म से ही निर्बल बलवान् पर ऐसे शासन करता है, जैसे राजा की सहायता से शासन कर रहा हो। धर्म क्या है ? 'सत्य' ही धर्म है, तभी सत्य बोलने वाले के लिये कहा जाता है कि यह धर्म कहता है, और 'धर्म' बोलने वाले के लिये कहा जाता है कि यह सत्य कहता है 'सत्य' और 'धर्म' दोनों एक ही वस्तु हैं।[२] अर्थात् समाज के चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) का काम तभी चलता है, जब वे अपने-अपने धर्म का पालन करें। अर्थात् धर्म को सर्वोपरि माना गया है।

व्यवहार मीमांसा के संदर्भ में आचार्य माधव ने व्यवहार धर्मपाद को स्पष्ट करने के लिये कात्यायन का मत उद्धृत किया है कि जब दोषी व्यक्ति अपना दोष स्वीकार कर ले और धन स्वामी या वादी को उसका धन सम्पत्ति लौटा दे इस प्रकार के व्यवहार निर्णय को जहां धर्म को साक्षी माना जाता है धर्मपाद कहा गया है।[३]

व्यवहार

जब कचहरी में साक्षियों द्वारा मुकदमा लड़ा जाता है तब उसे व्यवहार कहा जाता है। आचार्य माधव का मत है कि धर्म जानने वालों ने स्मृतिशास्त्रों में जो कुछ भी प्रतिपादित किया गया है उन सबके कार्यों के आधार पर लिया गया निर्णय ही

---

१. तत्र सत्ये स्थितो धर्मो—वही, पृ. १२.

२. बृहदारण्यकोपनिषद्, १.४.१४
यद्धर्मस्त स्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयां सभाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुधर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्धयेवैतदुभयं भवति ॥

३. कात्यायन-पराशर-माधव पृ. १२.
दोषकारी तु कर्तृत्वं धनस्वामी स्वकन्धनम् ।
विवादे प्राप्नुयादयत्र स धर्मेणैव निर्णयः ॥

व्यवहार निर्णय कहलाता है ।[१] व्यवहार के अन्तर्गत लेख-प्रमाण, स्वत्व या कब्जा तथा अन्य प्रमाण भी सम्मिलित हैं । जब प्रतिवादी सीधे ढंग से उत्तुर न देने का अपराधी सिद्ध होता है अथवा उसके उत्तर दोषपूर्ण होने से स्वीकृत नहीं होते और निर्णय उसके विपक्ष में जाता है, तब भी ऐसा निर्णय व्यवहार द्वारा किया गया माना जाता है ।[२]

चरित्र

आचार्य माधव के अनुसार 'चरित्र' निर्णय से तात्पर्य है देश ग्राम या कुल की परम्परा या रूढ़ि के आधार पर किया गया निर्णय 'चरित्र' नामक व्यवहार माना गया है ।[३] शास्त्रों में बताये अनुसार आचरण करना धर्म है । इसके विपरीत अधर्म होता है । उन दोनों की अपेक्षा देश या कुल की परम्परा के आधार पर निर्णय स्वीकार किया जाता है तथा चरित्र निर्णय का कारण बनता है । जैसे—कहा है—'देश स्थितिः पूर्वकृता चरित्रं समुदाहृतम्' अर्थात् धर्मशास्त्र के विरोध में सदियों एवं परम्पराओं के आधार पर भी निर्णय दिया जाता था और वैसी स्थिति में स्मृति सम्मत नियमों का विचार नहीं होता था ।[४]

बृहस्पति स्मृति में 'चरित्र' का अर्थ अनुमान माना गया है । 'अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कथ्यते ।'[५]

---

१. पराशर माधव पृ. १२
स्मृतिशास्त्रन्तु यत्किन्चित् प्रथितं धर्मसाधकैः ।
काय्यांणां निर्णयाद्धेतोव्यवहारः स्मृतो हि सः ॥

२. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग-२—काणे, पी.वी., पृ. ७१४

३. पराशर-माधव से उद्धत, पृ. १३ (व्यवहार-काण्ड)
यद्यदाचरते येन धर्म्यं वा धर्म्यमेव वा ।
देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धि कीर्तितम् ॥

४. नारद स्मृति—२५.१
Because both true and false statements are made in course of a judicial proceeding, it is said to have courses; a true statement is one agreeing with the facts, a false one is a wrong one.

५. वही. पराशर-माधवीय से उद्धत, पृ. १३ भाग-२

कांणे महोदय ने चरित्र निर्णय के संदर्भ में कहा है कि 'चरित्रं तु पुस्तकरणे' का अर्थ है कि ऐसी सदियां जो राजा द्वारा लिखित कर ली गयी हों, वे निर्णय के लिए प्रामाणिक मान ली जाती हैं। 'चरित्रं तु स्वीकरणे' का तात्पर्य है ऐसे प्रयोग एवं रूढियां जो प्रजा एवं न्यायालयों द्वारा निर्णय के लिये मान ली गई हों।[१]

राजशासन

आचार्य माधव के अनुसार राजशासन एवं राजाज्ञा व्यवहार का चौथा एवं अन्तिम पाद माना गया है। राजशासन वह है जो राजा द्वारा दिया जाता है, किन्तु शास्त्रोक्त होता है अर्थात् स्मृति विरुद्ध नहीं होता और न स्थानीय रूढ़ियां या लोकाचार के विरुद्ध होता है। वह राजा की मेघा का परिचायक होता है और तभी कार्यान्वित होता है जबकि दोनों पक्ष प्रबल हों और उनके पक्ष में जो प्रमाण हों, वे शास्त्रीय एवं अकाट्य हों।[२]

उपर्युक्त चारों पाद अर्थात् धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन के विषय में बृहस्पति का मत है कि इनमें परस्पर एक के उपरान्त आने वाला दूसरा 'व्यवहार निर्णय' अपने से पूर्व वाले का महत्व कम कर देता है।[३] यह ठीक नहीं है। कात्यायन के मतानुसार यदि कोई विवादी (मुकदमा लड़ने वाला) यह कहे कि वह अपना मुकदमा 'दिव्य' द्वारा तय कराना चाहता है और दूसरा कहे कि वह मानवीय साधनों या साक्षियों, लेख प्रमाणों आदि द्वारा तय कराना चाहता है, तो 'दिव्य' का प्रयोग

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पी.वी., पृ.७१४

२. पराशर माधव से उद्धृत, पृ.१३ भाग-२
'न्यायशास्त्रविरोधेन देशदृष्टेस्तथेवच।
यद्धर्म स्थापयतेद्राजा न्याय्यं तद्राजशासनम्॥

३. पराशर माधव—बृहस्पति, पृ.१३
शास्त्रमेव समाश्रित्य क्रियते यत्र निर्णयः।
व्यवहारः स विज्ञेयो धर्मस्तेनपि हीयते॥
देशस्थित्या नुमानेन नैगमानुमतेन च।
क्रियते निर्णयस्तत्र व्यवहारस्तु कथ्यते॥
विहाय चरिताचारं यत्र कुर्यात पुनर्नृपः।
निर्णयं, सा तु राजाज्ञा चरित्रं बाध्यते तया॥

नहीं किया जाता, प्रत्युत साधारण ढंग अपनाया जाता है। अत: यहां पर 'व्यवहार' के पक्ष में 'धर्म' की अवहेलना की गयी है।[१]

यही बात पराशर माधवीय में भी बतायी गई है। चारों वर्णों में से किसी एक वर्ण का एक व्यक्ति राजद्रोह करता है और कायरतावश अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। यह दिव्य है या सत्य है अत: 'व्यवहार' द्वारा 'धर्म' का बोध होता है। किन्तु यदि साक्षीगण का कहना है कि उसने राजद्रोह नहीं किया है और अपराधी छूट जाता है। यहां पर भी 'व्यवहार' के पक्ष में 'धर्म' की अवहेलना हुई है।[२]

इसी के समान एक अन्य उदाहरण द्वारा बताया गया है कि केरल देश में वैश्या के यहां जाना परम्परा के गर्हित नहीं माना जाता था। अत: यदि यह साक्षियों द्वारा प्रमाणित हो जाये कि केरल में किसी ने ऐसा किया तो स्थानीय राजा उसे अर्थदण्ड भी नहीं दे सकता। अत: यहां पर 'चरित्र' निर्णय द्वारा राजाज्ञा या राजशासन का बाध मिलता है।[३] अपितु यदि राजा अपनी प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए राजाज्ञा निकालता है तो ऐसी स्थिति में (कि अमुक तिथि से जो किसी आमीर की पत्नी से व्यभिचार करता पाया जायगा उसे दण्ड दिया जायेगा) 'राजशासन' द्वारा चरित्र की अवहेलना होती है।

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि जहां साक्षी न हों, न लेख प्रमाण हों, न अनधिकार हो, न दिव्य की ही गुंजाइश हो और शास्त्रीय अथवा परम्परा की बातें या नियम हों, वहां पर राजा ही अपने ढंग से निर्णय करता है।[४]

मनु का मत है साक्षी के झूठ बोलने से उस पाप का चौथाई भाग सबको प्राप्त होता है तथा उस अन्यायपूर्ण व्यवहार से सब सभासदों की निन्दा होती है।[५]

---

१. याज्ञवल्क्य—२२.२ पर मिताक्षरा टीका से उद्धृत।
यद्येकदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी।
सा ग्राह्या न तु पूर्णापि दैविकी वदतां नृणाम्॥

२. पराशर-माधव से उद्धृत, पृ.१४ भाग-२ चर्तुषु वर्णेषु....पर्य्यहापुः।

३. पराशर माधव से उद्धृत, पृ.१४ भाग-२ केरलदेशादौ...राज्ञा दण्ड्यते॥

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पी.वी. पृ.७१४

५. मनुस्मृति—१८८
पादो धर्मस्य कर्तारं पादो गच्छति साक्षिणः।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥

व्यवहार के इन अट्ठारह पदों के अवान्तर भेदों या व्यवहारों को पुन: कात्यायन ने दो भागों में संगृहीत किया है ।[१] जबकि बृहस्पति ने उसको द्विपदत्थ वाला बताया है । जैसे—धनमूल एवं हिंसामल इन दो के भी सात भेद किये हैं जिसमें हिंसा वाले मुकदमे चार प्रकार के माने गये हैं । वे दोनों ही क्रमश: इस प्रकार से हैं—व्याज पर धन देना, साझे का व्यापार करना, नौकर का दान करना, भूमि का अस्वाभिविक्रय, क्रय-विक्रय सम्बन्धी विवाद, प्रतिज्ञा भंग करना, स्त्री पुरुष के धर्म की व्यवस्था, चोरी करना, दायभाग और द्यूत इस प्रकार से उत्पन्न व्यवहारों के कारण चौदह हैं—पुन: प्रभेद एवं क्रिया भेद अनेक हैं और पारुष्य दो 'साहस एवं परस्त्रीहरण कहे हैं । हिंसा मूल व्यवहार जिन्हें दण्डपारुष्य, वाक्पारुष्य, साहस एवं स्त्री संग्रहण कहा गया है ।[२]

अत: मानव धर्मशास्त्र के अनुसार न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत उक्त विषयों से सम्बनध दो प्रकार के विवाद आते हैं जिन्हें हम आजकल की भाषा में दीवानी एवं फौजदारी विषयों के नाम से पुकारते हैं ।

नारद, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य एवं कौटिल्य आदि ने भी थोड़े बहुत अन्तर के साथ इन विषयों की सूची दी है । इन्हीं विषयों से सम्बद्ध समस्याओं के निर्णय हेतु

---

१. पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १५
द्वे पदे सांध्येदास्तु पदाष्टादशतां गते ।
अष्टादशक्रिया भेदाद्भिन्नान्यथ सहस्रधा ॥

२. वही—बृहस्पति—
द्विपदो व्यवहारः स्याद्धनहिंसा समुदभवः ।
द्विसप्तको र्थमूलस्तु हिंसामूलः चतुर्विधः ॥
कुसीदनिध्यदेयाद्यं सम्भूयोत्थानमेव ।
भृत्यदानमशुश्रुषा भूवादो स्वामिविक्रयः ॥
क्रयविक्रयानुशयः समयातिक्रमस्तथा ।
स्त्रीपुंसयोगः स्तेय च दायभागो क्षेवदनम् ॥
एवमर्थसमुत्थानं पदानि तु चतुर्दश ।
पुनरेव प्रभिन्नानि क्रियाभेदेरनेकधा ॥
पारुष्ये द्वे साहस च परस्त्रीसंग्रहणस्तथा ॥

न्याय व्यवस्था की स्थापना का निर्देश सर्वप्रथम मनु ने दिया है ।[१]

आचार्य माधव ने व्यवहार के संबंध में पितामह का मत उद्धृत यह भी स्पष्ट किया है कि बिना किसी व्यक्ति द्वारा अभियोग या अर्जी उपस्थित किये राजा कुछ विषयों की छानबीन स्वयं भी कर सकता है और ऐसे मामलों में अपराध, पद एवं छल की संज्ञाएं मिलती हैं ।[२]

व्यवहार पद अथवा विवाद पद

पराशर-माधव में इन अपराधों की संख्या १०, पदों की संख्या २२ एवं छलों की ५० बतायी गई है । स्वयं राजा ऐसे विषयों को जान सकता है, या सूचक नामक अधिकारी बता सकता है, या कोई व्यक्ति, जिसे स्तोमक कहा जाता है, राजा को सूचित कर सकता है ।[३]

---

१. मनुस्मृति—४,७,८
तेषामाधमृणा दानं...व्यवहार स्थिताविह ॥
नारदस्मृति—१७,२०.१
Recovery of a debt. . . eighteen heads of disputes.
वसिष्ठ स्मृति—१५,३१.१६
अन्यथा प्युदाहरन्ति... प चानृतान्याहुरपातकानि ॥
याज्ञ. स्मृति—६,७.२
प्रत्यर्थिनो ग्रतो...विवादेषूपदर्शितः ॥
कौटिलीय अर्थशास्त्र,(धर्मस्थीय) ३ व कण्टकशोधन (४)

२. पराशर माधव से उद्धृत, पृ. ३२ भाग-२
न रागेण न लोभेन न कोपेन नयेन्नृपः ।
परैरप्रर्थितानर्थान् न चापि स्वमनीषया ॥
हलानि चापराधांश्च पदानि नृपतिस्तथा ।
स्वयमेव निगृहीयात् नृपस्त्रीवेदकेर्विना ॥

३. कात्यायन, पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. ३५ भाग-२
शास्त्रेण निन्दितं त्वर्थमुख्योराज्ञा प्रचोदितः ।
आवेदयति यः पूर्व स्तोभकः स उदाहृतः ॥
नृपेणैव नियुक्तः स्यात् परदोषमवेक्षितुम् ।
नृपस्य समयं ज्ञात्वा सूचकः स उदाहृतः ॥

नारद के मतानुसार दस अपराध निम्न हैं जैसे—राजा की आज्ञा का उल्लंघन, स्त्रीवध, वर्णसंहार, परस्त्री गमन, चौर्य, बिना पति के गर्भधारण, वाक्यापारुष्य (मानहानि), अश्लीलता (अवाच्य), दण्डपारुष्य (मार-पीट) एवं गर्भपात। इनके करने से अर्थदण्ड लगता है, अत: ये सब अपराध नाम से घोषित किये गये हैं।[१] यदि व्यक्तित्व रूप से कोई आवेदन न करे तब भी राजा ऐसे मामलों में अपनी ओर से तहकीकात या छानबीन कर सकता है। पराशर माधव में भी अपराधों की सूची दी गई है जो उपर्युक्त सूची से भिन्न है।[२]

उपरोक्त २२ पद 'व्यवहार पदों' से भिन्न हैं जिनमें से कुछ ये भी हैं—तीक्षण हथियार से किसी पशु का शरीर विदीर्ण करना, उपजती हुई खेती का नाश करना, अग्नि लगाना, कुमारी कन्या के साथ बलात्कार करना, गड़े हुए धन को पाकर छिपाना, सेतु, कण्टक आदि को नष्ट करना आदि।[३]

---

१. नारद-पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. ३३
'आज्ञालङ्घनकर्तारः स्त्रीबधो वर्णसङ्करः।
परस्त्रीगमन चौर्य गर्भश्चैव पतिं बिना॥
वाक्पारुष्यमवाच्यन्तद् दण्डपारुष्यमेव च।
गर्भस्य पातन चैवेत्यपराधाः दशैवचः॥

२. सम्वर्त—पराशर माधव, पृ. ३४, भाग-२
आसेवं पथिभङ्ग च यश्च गर्भः पतिं विना।
स्वयमन्वेषयेद्राजा विना चैव विवादिना॥
कन्या पहारकं पापं वित्त च पतितं तथा।
परापवादसंयुक्तं राजा स्वयं विचारयेत्॥
षड्भागकालं शुल्कार्थे मार्गच्छेदकमवेच।
स्वराष्ट्रचौर्यभीति च परदाराभिमर्शनम्॥
गो ब्राह्मणनिहन्तारं सस्याना चैव घ्रातकम्॥
दरौतानपराधांश्च स्वयं राजा विचार येत्॥' इति।

३. पितामह—पराशर माधव, पृ. ३४
उत्कृती सस्यधाती च अग्निदश्च तथैव च।
पटहाघोषणाच्छादी द्रव्यमस्वामिकश्च यत्॥
राजाबलीढद्रव्यं यत् य चैववाङ्गविनाशनम्।
विध्वंसकः कुमार्याश्च निधानस्योपगोपकः॥
सेतुकम्टकभेत्ता च क्षेत्रसंचारकस्तथा।
द्वाविंशति पदान्याहः नृपज्ञेयानि पण्डिताः॥

राजा की उपस्थिति में सभ्य व्यवहार के विरोधी कार्य छल कहे जाते हैं और ये पचास हैं। पितामह ने इनके भी नाम गिनाये हैं। कुल छल ये हैं—मार्गविरोध, धमकी देते हुए हाथ उठाना, दुर्ग की दीवारों पर बिना आज्ञा के कूदकर चढ़ जाना, जलाशय नष्ट करना, मन्दिर तोड़ना, खाई बन्द इत्यादि।[१]

न्यायाधीश

धर्मशास्त्रों एवं स्मृतिग्रन्थों की व्यवस्था के अनुसार न्यायकार्य मुख्यतः राजा के अधीन होता था। राजा आरम्भिक एवं अन्तिम न्यायालय था अपितु स्मृतियों एवं निबन्धों का मत है कि अकेला राजा न्याय कार्य नहीं कर सकता, उसे अन्य लोगों की सहायता से न्याय करना चाहिए।[२]

पराशर स्मृति व्याख्याकार आचार्य माधव का मत है कि जो विद्वान् व्यक्ति धर्मशास्त्र में बताये गये अठारह विषयों में पारंगत हैं और जो सब प्रकार विवादों के कारण को जानते हैं वे परीक्षक या न्यायाधीश होते हैं।[३]

मनुस्मृति का मत है कि राजा को बिना भड़कीले वस्त्र धारण किये, विद्वान् ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों की सभा या न्यायकक्ष में प्रवेश करना चाहिए तथा उसे क्रोधपूर्ण मनोभाव एवं लालच से सदा दूर रहकर तथा धर्मशास्त्रों के नियमों के आधार पर न्याय करना चाहिये।[४]

---

१. वही—पृ. ३२, ३३ पथिभङ्गी.... नृपसन्निधो।'

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—१.२
व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वब्राह्मणेः सह।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः॥

३. पराशर-माधव से उद्धृत, पृ. १६, भाग-२
पदान्यष्टादशेतानि धर्मशास्त्रोदितानि तु।
मूलं सर्वविवादानां ये विदुस्ते परीक्षकाः॥

४. मनुस्मृति—१,२८
व्यवहारान्दिवृक्षस्तु ब्राह्मणं सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञेमन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥
तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुधम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभउणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥

यही बात कात्यायन ने भी कही है कि जो राजा न्यायाधीश मन्त्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों पुरोहित एवं सभ्यों की उपस्थिति में विवाद निर्णय करता है, वह स्वर्ग का भागी बनता है।[१]

स्मृति चन्द्रिका व्यवहार काण्ड में शुक्र का मत उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार राजा को अपने से स्वर्ग निर्णय नहीं करना होता था, प्रत्युत् उसे न्यायाधीश की सम्मति के अनुसार चलने का निर्देश मिलता है।[२] (प्राडविवाकमतेस्थितः)

नारद का मत भी यही संकेत करता है कि राजा को न्यायाधीश की सम्मति के अनुसार चलना चाहिए, अर्थात् बहुत समझदार होने पर भी न्याय कार्य अकेले नहीं करना चाहिए।[३] ऐसा रूढिगत हो गया था। कालिदास ने भी इस मत को समर्थन दिया है। रघुवंश में उल्लेख मिलता है कि राजा अतिथि धर्मस्थ के साथ विवाद-निर्णय किया करता था।[४]

धर्माध्यक्ष

मनुस्मृति के अनुसार राजा सर्वोच्च न्यायालय का धर्मसभा में स्वयं न्यायाधिपति तो अवश्य होता परन्तु कुछ गिने चुने ब्राह्मणों एवं मन्त्र ज्ञाता मन्त्रियों के परामर्श से ही विवादग्रस्त विषयों का निर्णय कर उसे कार्यान्वित करता है।[५] अतः

---

१. कात्यायन, याज्ञ. स्मृति की मिताक्षरा टीका, २.२.
ब्राह्मणानां सभासदां च स्पष्टं भेदो दर्शितः सप्राड्विबाकः समात्यः सब्राह्मणपुरोहितः।
ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मेतः॥

२. स्मृति-चन्द्रिका से उद्धृत, पृ. २८
राजाबलीढं द्रव्यं यद्यश्चैवांगविनाशनम्।
द्वाविंशतिं पदान्याहुनृपज्ञेयानि पंडिताः॥

३. नारद स्मृति, ३५.१ प्र.
धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येव्यवहारानुक्रमातः॥

४. रघुवंशे—कालिदास, ३९.१७
स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम्।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यहारानतन्द्रितः॥

५. मनुस्मृति—९८
यदा स्वयं न कुर्यातु नृपतिः कार्यदर्शनम् दा नियुज्याद्विद्वासं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥

स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-सभा में एक 'धर्माध्यक्ष' होता है, जिसे स्मृतिकारों ने 'धर्मस्थ' नाम से अभिहित किया है ।[१]

मनुस्मृति के आठवें अध्याय में उल्लेख मिलता है कि सभा में या न्यायलय में प्राड्विवाक नाम का एक अधिकारी होता है । वह सभा में प्राप्त हुए साक्षियों से अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष प्राडविवाक को सांत्वना देते हुए साक्षी से पूछना चाहिए कि इन दोनों (अर्थी और प्रत्यर्थी) ने परस्पर इस कार्य में जो कुछ क्रिया हो उसके विषय में तुम जो कुछ जानते हो वह सब सच सच बतलाओ क्योंकि तुम्हारी इसमें साक्ष्य है ।[२] यह 'प्राडविवाक' अति प्राचीन नाम है । नारद स्मृति ने इसका उल्लेख किया है ।[३]

नारद के अनुसार न्यायाधश को अट्ठारहों सम्पत्ति-विवाद-सम्बन्धी कानूनों में, उनके ८००० उपभेदों, आन्वीक्षिकी (तर्क आदि) वेद एवं स्मृतियों में पारंगत होना चाहिए । जिस प्रकार वैद्य (शल्य चिकित्सा में पारंगत होने के कारण) शल्य प्रयोग से शरीर में घुसे लोहे के टुकड़े को निकाल लेता है, उसी प्रकार कुशल न्यायाधीश को पेचीदे मामले में से धोखे की बातें अलग निकाल लेनी चाहिये ।[४]

इस विषय में 'मृच्छकटिक नाटक' के अन्तर्गत न्यायाधीश के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । क्योंकि क्रुद्ध वादी प्रतिवादी सच्ची बात छिपाकर असत्य अभियोग उपस्थित करते हैं । सज्जन लोग भी अपनी गलती स्वीकार नहीं करता

---

१. वही—१०८
सौ स्य कार्याणि संपश्येत्सम्येरेव त्रिभिर्वृतः
सभामेव प्रिवश्याग्रयामासी नः स्थित एव वा ॥

२. मनुस्मृति,७९८०८ स्वभावेनेव... तदपार्थकम् ॥ सभान्तः. ..तेन सान्त्वयन् ॥

३. नारद स्मृति—३५.१ The law ordains to take logic for one's guide, when the sacred law cannot be applied for the evidence in law-suit is more decisive than the law, and overrules the law.

४. नारद—स्मृति-चन्द्रिका, पृ. १४ से उद्धृत.
अष्टादशपदाभिज्ञस्तद्भेदाष्टसहस्रवित् ।
आन्वीक्षिक्यादिकुशलः श्रुतिस्मृतिपरायणः ॥
यथा शल्यंभिषक्कायादुद्धरेद यन्त्रयुक्तभिः ।
प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद व्यवहारतः ॥

हैं । अतः ऐसे लोग भी न्यायालय में भ्रष्ट हो जाते हैं । वादी या प्रतिवादी दोनों ही पक्षों से दूषित हो जाते हैं । इसीलिये विचारक या दोषारोपण जितना सरल है, उसके गुणों को प्रकट करना उतना ही कठिन इसलिये विचारक या न्यायाधीश को शास्त्रमर्मज्ञ, वादी-प्रतिवादी के कपटपूर्ण व्यवहार को समझने में सक्षम होना चाहिये ।[१]

वक्ता कपट क्रोधरहित होना चाहिए । मित्र, शत्रु एवं पुत्रादि में समदृष्टि होना चाहिए । प्राप्त अभियोग पर विचार कर उचित निर्णय देने वाला हो, उन्हें दुर्बलों का संरक्षण एवं दुष्टों को दण्डित करना चाहिए । उन्हें धर्म में आस्था, लोभशून्यता, संदिग्ध वस्तु के तत्वान्वेषी तथा राजा के कोप को दूर हटाने वाला होना चाहिये ।

इस प्रकार न्यायाधीश को क्रमशः 'प्राड्विवाक्', 'धर्मप्रवक्ता', 'धर्माधिकारी' इत्यादि कहा जाता था ।[२]

---

१. मृच्छकटिक—शूद्रक, ४,५.९ (अंक)
छन्नं दोषमुदाहरन्तिकुपिता न्यायेन दूरिकृताः
स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे सन्तो पिनष्टा ध्रुवम् ।
ये पक्षापरपक्षदोषसहिताः पापानि संकुर्वते ।
संक्षेपादपवाद एष सुलभो द्रष्टर्गुणो दूरतः ॥
शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन
स्तुल्यो मित्र-पर-स्वकेषु चरितं दृष्टवेव दत्तोतरः ।
क्लीबान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्मे ति लोभान्वितो-
द्वार्भावे परतत्वबद्धहृदयो राजश्च कोपापहः ॥

२. बृहस्पति, पराशर माधव से उद्धृत, पृ. २१
राजा कार्याणि सम्पश्येत् प्राड्विवाको पि वा द्विजः ।
न्यायाङ्गान्यग्रतः कृत्वा सम्यशास्त्रमते स्थितः ॥
विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नं तथैवच ।
प्रियपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाको भिधीयते ॥
मनुस्मृति, २०८
धर्मप्रवक्ता नृपतेनं तु शूद्रः कथंचन ॥
मृच्छकटिक नाटक—पृ. ४१५ यतः अधिकरणिक खलूः ।

'प्राड्' शब्द 'पृच्छ धातु से बना है और 'विवाक' 'वाक्' से; क्रम से इनका अर्थ है (मुकदमे वाज़ों से) प्रश्न पूछना (सत्य) बोलना या (सत्य का) विश्लेषण करना। इस प्रकार की व्युत्पत्ति धर्मशास्त्रकार काणे महोदय को अभीष्ट है।[१]

सभ्य

प्रमुख न्यायाधीश प्रायः कोई विद्वान् ब्राह्मण ही होता था।[२] कात्यायन का मत है कि यदि कोई विद्वान् ब्राह्मण न मिले तो प्रमुख न्यायाधीश के पद पर धर्मशास्त्रों में पारंगत किसी क्षत्रिय या वैश्य को नियुक्त कर देना चाहिए, अपितु राजा को निर्देश किया है कोई शूद्र इस पद का उपयोग न कर सके।[३]

मनु स्मृतिकार का कथन है कि भले ही अविद्वान ब्राह्मण इस पर नियुक्त हो जाय, परन्तु शूद्रधर्माध्यक्ष कभी भी न होने पाये, यदि कोई राजा शूद्र को नियुक्त करेगा तो उसका राज्य उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जिस प्रकार कीचड़ में गाय फंस जाती है।[४]

आचार्य माधव ने मनु के मत का समर्थन किया है कि जो राजा द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के अतिरिक्त शूद्रों के साथ मिलकर मुकदमों का निर्णय

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, काणे, पी.वी., पृ.७१९

२. याज्ञवल्क्य स्मृति—३.२
अपश्यता कार्यवशात् व्यवहारान् नृपेण तु।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित्॥

३. कात्यायन, पराशर-माधव, पृ. २२
ब्राह्मणों यत्र न स्यातु क्षत्रियं तत्र योजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥
यत्र विप्रो न विद्वान् स्यात् क्षत्रियं तत्र योनयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वजयेत्॥

४. मनुस्मृति—२०,२१८
जातिमात्रपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्र कथचनं॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदतिं तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥

करता है, उसका स्वामित्व, राष्ट्र, बल (सैन्य शक्ति) एवं कोष या खजाने का नाश हो जाता है अर्तात् वह राजा राजपद से च्युत हो जाता है ।[१]

बृहस्पति के मत से सभ्यों की संख्या क्रमश: ७, ५ या ३ हो सकती है ।[२] मनु एवं बृहस्पति का मत है कि जब किसी सभा में मुख्य न्यायाधीश के साथ वेद में पारंगत तीन ब्राह्मण बैठते हैं तो वह सभा ब्रह्मा की सभा या यज्ञ के लिए होती है ।[३]

सभ्यों के गुण अर्थात् परिषद् के सदस्यों के गुण शील निम्न हैं—वेदज्ञ होना, धर्मशास्त्र में पारंगत होना, सत्यवादी होना, मित्रामित्र के प्रति पक्षपात रहित होना, स्थिर होना, कार्यदक्ष होना, कर्तव्यशील होना, बुद्धिमान होना, वंशपरम्परा से चला आना, अर्थशास्त्र में पारंगत होना चाहिये ।[४]

सभासदों की योग्यता

इन सभी सभ्यों की योग्यता भी निर्धारित की गई है कि उन्हें विवादग्रस्थ विषयों में निष्पक्ष तथा धर्मयुक्त निर्णय देना चाहिए। यदि वे अपने कर्तव्य से विमुख होंगे तो राजा व साक्षी सहित पाप के भागी होंगे ।[५] परन्तु जब वे निष्पक्ष

---

१. पराशर-माधव पृ.२३
द्विजान् विहाय सम्पश्येत काय्यानि वृषलैः सहः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं बलं कोशश्च नश्यति ॥

२. बृहस्पतिः—वही, पृ २०.
लोकधम्माङ्गतत्वज्ञाः सप्त प च त्रयो पि वा।

३. मनुस्मृति—११८
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मस्तां सभांविदुः॥
बृहस्पतिः—
यत्रोपविष्टाः विप्राग्रयाः सा यज्ञसदृशी सभा।

४. कात्यायन—२.२ याज्ञ. मिताक्षरा द्वारा उद्धृत, पृ.१२६
स तु सभ्यैः स्थिर युक्तैः प्राज्ञेमोलेद्विजोत्तमै।
धर्मशास्त्रकुशलेरर्थशास्त्रविशारदैः॥

५. मनुस्मृति—१८८
पादों धर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिण मृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥

न्याय कर पापकर्ता को दण्डित करते हैं, तब राजा सहित निष्पाप हो जाते हैं और पाप केवल पापकर्ता को लगता है ।[१]

आचार्य माधव ने सभ्यों के सन्दर्भ में बृहस्पति को उद्धृत किया है कि राजा को गणक एवं लेखक भी नियुक्त करना चाहिए तथा उन्हें शब्द रचना का ज्ञान हो, वे नक्षत्र या लेखा विज्ञान में कुशल हों, पवित्र आचरण वाले हों तथा उन्हें विभिन्न प्रकार की लिपियों की जानकारी हो ।[२]

स्मृतिकार पराशर के अनुसार वेद के विद्वान् चार या तीन भी जिस बात को कहे, वह धर्म होता है अर्थात् परिषद् में वेदज्ञ तीन, चार ब्राह्मण आवश्यक हैं । इनके अतिरिक्त वेदशून्य हजार ब्राह्मणों का कथन धर्म नहीं हो सकता ।[३] क्योंकि प्रमाण मार्ग के ढूंढने वाले जिस धर्म का प्रतिपादन करते हैं, शुद्ध-गुण या तथ्य को बताने वाले उन लोगों से पाप डरता है ।[४]

सभ्यों की अयोग्यता के सम्बन्ध में पराशर का कथन है कि यदि सावित्री, गायत्री, सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्र के न जानने वाले जाति मात्र से अपनी आजीविका चलाने वाले हजार ब्राह्मण भी एकत्रित हो जायें तो उनकी परिषद् नहीं हो सकती । क्योंकि जिस प्रकार जो अधानी ब्राह्मण धर्म को न जानने वाले कहते हैं । वह पाप सौ गुना होकर उन मूर्ख वक्ताओं को प्राप्त होता है ।[५] अतएव जो

---

१. मनुस्मृति—१९८
राजभवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्ध्यते ॥

२. पराशर-माधवीय पृ. २३
शब्दाभिधानतत्वज्ञो गणनाकुशलौ शुची ।
नानालिपिज्ञो कर्तव्यो राज्ञाः गणक लेखको ॥

३. पराशर-स्मृति, १५.१८
चत्वारो त्रयो वापि य ब्रूयुर्वेद पारगाः ।
स धर्मः इति विज्ञेयो नेतरैस्तु सहस्त्रशः ॥

४. पराशर-स्मृति, १६८
प्रमाणमार्ग मार्गन्तो ये धर्म प्रवदन्ति वे ।
तेषामुद्विजते पापं सद्भूतगुणवादिनम् ॥

५. वही—११८
सावित्र्याश्चापि गायत्र्या सन्ध्योपास्त्यग्निकार्ययोः ।
अज्ञानत्कृषि कर्तारो ब्राह्मणा नामधारकाः ॥

कोई भी धर्मशास्त्रों को जाने बिना ही निर्देश करता है। तब प्रायश्चित करने वाला तो पवित्र हो जाता है लेकिन उस पाप का फल सभा को ही भोगना पड़ता है।[१]

याज्ञवल्क्य स्मृति में सभ्यों के गुणों का निरूपण किया गया है। उन्हें वेदज्ञ, धर्मशास्त्रों में पारंगत सत्यवक्ता, पक्षपात रहित, अर्थात् शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भाव वाले तथा कार्यदक्ष होना चाहिये।[२]

महाभारत के उद्योग पर्व में सभासद की परिभाषा करते हुये विदुर ने अपना मत प्रकट किया है कि मेरे मत से, वह परिषद नहीं जिसमें वृद्ध पुरुष न हों, वह वृद्ध नहीं है, जो धर्मयुक्त बात न कहता हो, वह धर्म नहीं है जो सत्य रहित और वह सत्य नहीं है जो छल युक्त हो।[३]

पितामह भीष्म के मतानुसार सभासदों को मर्यादावान् आत्मविजयी, सत्य-वादी, सरल स्वभाव, निर्भीक और स्पष्टवादी होना चाहिये।[४]

इसके साथ ही सभासदों को देश और काल का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि उन्हें देश और काल को देखकर निर्णय देने का आदेश मनुस्मृति में उल्लिखित है।[५]

---

१. वही—१२८
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति, २.२
श्रुताध्ययनसम्पक्षाः धर्मज्ञाः सत्यबादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्याः रिपौ मित्रे च ये सभाः॥

३. महाभारत (उद्योग पर्व)—
न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः।
न ते वृद्धाः ये न वदन्ति धर्मम्॥
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति।
न तत्सत्यं यच्छलेनानुबिद्धम्॥

४. वही शान्तिपर्व)-

५. मनुस्मृति—४५८
सत्यमर्थं च संपश्येदात्मनमाथ साक्षिणः
देश रूपं च कालं व्यवहार विद्यो स्थितः॥

प्राय: सभी ग्रन्थकारों ने राजा एवं सभ्यों में पक्षपातरहित होने के गुण पर बहुत बल दिया है।[१] क्योंकि जो लोग देशाचारों से अनभिज्ञ होते थे, नास्तिक होते थे, शास्त्रों में पारंगत नहीं होते थे, घमंण्डी, क्रोधी, लोभी एवं दरिद्र होते थे उन्हें सभ्य नहीं बनाया जाता था।[२] अर्थत् उन्हें परिषद् का सदस्य नहीं नियुक्त किया जाता था।

आचार्य माधव के अनुसार किसी कार्यवश राजा के अनुपस्थित रहने पर या अस्वस्थ होने पर राजा को सभासदों के साथ सभी धर्मों को जानने वाला ब्राह्मण इस कार्य के निमित्त नियुक्त करना चाहिए।[३]

यदि सभ्य लोग स्मृति एवं लोकाचार के विरुद्ध मित्रता, लोभ या भय के कारण निर्णय दें तो उन पर हारने वालों पर लगे दण्ड का दुगुना दण्ड लगना चाहिए।[४]

सभा

राजा द्वारा नियुक्त एवं सभ्यों से युक्त 'प्राड्विवाक' को सभा या न्यायालय कहा जाता था।[५] क्योंकि राजा मुख्य न्यायधीश सभ्यों एवं ब्राह्मणों के साथ सभा

---

१. नारद स्मृति—३०.१
He should carefully examine all claims, one after the other, according to the respective rank of the claimants, considering what would be useful or injurious, and just or injust.

२. पराशर-माधवीय—पृ. २१
देशाचारानभिज्ञा ये नास्तिकाः शास्त्रवर्जिताः।
उन्मत्तकुहका लुब्धाः न पृष्टव्याः विनिर्णये॥

३. याज्ञवल्क्य स्मृति—३.२
अपश्यता कार्यवशात् व्यवहारान् नृपेण तु।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित्॥

४. वही—४.२
रागालोभाद्भयाद्वा पि स्मृत्यपेत्तादिकारिणः।
सभ्याः पृथक्पृथग्दण्डया विवादादद्विगुणं दमम्॥

५. मनुस्मृति—७८
प्राड्विवाको नुयु जीत विधिना तेन सान्त्वयन्॥

में प्रवेश करता था।[१] इस सभा के विषय में पराशर-माधवीय का मत है कि पर्षद का या परिषद् का तात्पर्य विद्वान् ब्राह्मणों की सभा है।[२]

स्मृतिकार पराशर ने चार या तीन वेदज्ञ एवं अग्निहोत्री ब्राह्मण जो समर्थ हों, उनकी सभा मानी है।[३] अथवा अग्निहोत्र न करने वाले भी वेद-वेदांग के कारण पांच या तीन भी धर्मज्ञ हो, वह परिषद् हो सकती है।[४]

इसके अतिरिक्त आत्मज्ञानी यज्ञ करने वाला, वेद व्रत या पवित्र मुनि एक ब्राह्मण भी परिषद् होता है।[५] इस प्रकार क्रमशः तीन, चार या पांच की संख्या वाले विद्वान् ब्राह्मणों की सभा परिषद् कहलाती है। उनके न मिलने पर अपनी वृत्ति से सन्तुष्ट तीन ब्राह्मणों की सभा परिषद् होती है।[६]

परिषद् प्रायश्चितो के लिए स्वयं अपने निर्णय निर्धारित करती थी, और राजा दण्ड देता था। परिषद् के नियमों एवं राजा के दण्डों में कौन प्राचीन है, यह स्पष्ट नहीं होता है। यह बहुत सम्भव है कि परिषद् के धार्मिक न्याय-क्षेत्र में राजा दखल नहीं देता था और ब्राह्मण लोग न्यायाधीशों के रूप में एवं दण्ड-सम्बन्धी सम्मतियां

---

१. वही—१०८
सो स्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिवृत्तः।
सभामेव प्रविश्याग्यामासी नः स्थित एव वा॥

२. पराशर-माधवीय, पृ. ३, भाग-२
तच्च परिषदा येन व्रतानुष्ठानेन प्रायशो वश्य समं काय्यंते।

३. पराशर स्मृति, १९८
चत्वारो वा त्रयो वापि वेदवन्तो ग्निहोत्रिणः।
ब्राह्मणानां समर्था ये परिषत्सा प्रकीर्तिता॥

४. वही—२०८
अनहिताग्नि ये न्ये वेदवेदाङ्गपारगाः।
प च त्रयो वा धर्मज्ञ परिषत्साविधीयते॥

५. वही—२१८
मुनिनामात्मविधानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्।
वेदव्रतेषु स्नातानामेको पि परिषद् भवेत्॥

६. पराशर-स्मृति—२२८
प च पूर्वं मया प्रोक्तास्तेषा चा सम्भवे त्रयः
स्ववृत्तिपरितुष्टा ये परिषत्सा प्रकीर्तिता॥

देकर राजा को न्याय शासन में सहायता देते थे ।[१] अपितु इस संबंध में स्मृतिकार पराशर का मत है कि राजा की अनुमति ले लेने के उपरांत ही परिषद् को उचित प्रायश्चित का निर्देश करना चाहिये ।[२]

इसके अतिरिक्त राजा को भी निर्देश दिया है कि वह भी परिषद् की उपेक्षा न करे और न ही अपनी ओर से प्रायश्चित व्यवस्था करे ।[३]

आचार्य माधव ने सभा अथवा न्यायालय के चार प्रकार माने हैं— २. प्रतिष्ठित (जो किसी पुर या ग्राम में प्रतिष्ठित हो, २. अप्रतिष्ठित (जो एक स्थान पर स्थित न हो, प्रत्युत नाना ग्रामों में काल-काल पर अवस्थित होता हो), ३. मुद्रित (जो राजा द्वारा नियुक्त हो और जो राजा की मुहर प्रयोग में ला सके) तथा शासित या शास्त्रित (वह न्यायालय है जहां राजा स्वयं न्याय करता है ।)[४]

शंख एवं बृहस्पति के अनुसार राजप्रासाद के पूर्व में न्यायालय होना चाहिए और उसका मुख पूर्व की ओर होना चाहिए । तथा न्यायकक्ष भांति-भांति के फूलों, मूर्तियों, चित्रों, देवमूर्तियों आदि से सुसज्जित होना चाहिए, उसमें धूप, बीज, अग्नि, जल आदि रखे रहने चाहिए ।[५]

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२ काणे, पी.वी.

२. पराशर स्मृति—२८८
राज्ञश्चा नुमुत्ते स्थित्वा प्रायश्चितं विनिर्दिशेत् ।
स्वयमेव न कर्तव्यं कर्तव्या स्वल्पनिष्कृति ॥

३. पराशर स्मृति—८
ब्राह्मणास्ताननतिक्रम्य राजा कर्तु यदीच्छति ।
तत्पापं शतधा भूत्वा राजानमनुगच्छति ॥

४. पराशर-माधवीय—पृ. १८
प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठता मुद्रिता शास्त्रिता तथा ।
चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सभ्याश्चैव तथा विद्याः ॥

५. स्मृति-चन्द्रिका (व्यवहाराकाण्ड) पृ. १९.
शंख-प्रात्रयां दिशि राजमंदिरादिति शेषः ।
बृहस्पति—माल्यधूपासनोपेतां बीजरत्नसमन्विताः ।
प्रतिमालेख्यदेवेश्च युक्तामग्नमन्बुना तथा ॥

मृच्छकटिक नाटक में सभा या न्यायलय को धर्माधिकरण या केवल अधिकरण कहा गया है ।[१]

कादम्बरी में राजप्रासाद का वर्णन किया है, जहां न्यायालय होता था, जिसमें धर्माधिकारी लोग बेंत के उच्च आसन पर बैठते थे ।[२] न्यायालय के कार्य का समय प्रात:काल होता था ।[३] लेकिन कौटिल्य के अनुसार राजा को दिन के दूसरे प्रहर में जनता के मामलों को देखना चाहिये क्योंकि उसने दिन को आठ भागों में बांटा है ।[४] कात्यायन के अनुसार भी दिन को आठ भागों में बांटा गया है, उसके अनुसार प्रात: साढ़े सात बजे से दोपहर तक का समय न्याय कार्य किया जाता था ।[५]

वर्जनीय दिन अर्थात् छुट्टियों के दिन न्याय कार्य नहीं होता था । यथा अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या इत्यादि तिथियों के दिनों में सभा का अवकाश होता था ।[६]

सभा अथवा न्यायकक्ष में राजा पूर्वाभिमुख बैठता है, सभ्य, गणक एवं लेखक क्रम से उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण में बैठते हैं ।[७]

---

१. मृच्छकटिक शूद्रक, ९ अंक

२. कादम्बरी–बाराभट्ट (८५) राजकुलम् ।
अधिकरणमण्डपगतश्चार्यवेशैरत्युच्चवेत्रासनोपविष्टैर्धर्ममयैरिव धर्माधिकारिभिर्महापुरुषैरधिष्ठितम् ॥

३. मनुस्मृति—१४५.७
उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौच समाहितः
हुताग्निर्ब्राह्मणाश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाः ॥

४. कौटिलीय अर्थशास्त्रः १.१९.११ द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत् ॥

५. कात्यायन—पराशर-माधवीय से उद्धृत, पृ. १८
दिवसस्याष्टभागं मुक्त्वा कालत्रय च यत् ।
स कालो व्यवहाराणां शास्त्र दृष्टः परः स्मृतः ॥

६. सम्वर्त–वही–
चतुर्दशी ह्यमावस्या पौर्णमासी तथा ष्टमी ।
तिथिष्वासु न पश्येतु व्यवहारांस्तु नित्यशः ॥

७. बृहस्पति—वही, पृ. २७
पूर्वाभिमुखस्तुपविशेद्राजा सभ्याः उदङ्मुखाः ।
गणकः पश्चिमास्यस्तु लेखको दक्षिणामुखः ॥

कात्यायन ने सभा को या न्यायालय को धर्माधिकरण का नाम दिया है अर्थात् जिस स्थान पर धर्मशास्त्र के द्वारा मूल सार विवेचन किया जाता है उसे ही धर्माधिकरण कहा गया है ।[1]

न्यायालयों के स्थान

भृगु के मत से सामान्य लोगों के दस प्रकार के न्यायालय थे—१. ग्राम जन के न्यायालय, २. राजधानी के नागरिकों के न्यायालय, ३. गण, ४. श्रेणी, ५. चारों वेदों या विद्याओं के ज्ञाता, ६. वर्गों के न्यायालय, ७. लोग, ८. कुल, ९. राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश एवं १०. स्वयं राजा । 'वर्ग वाले' लोगों के दल में गणों, पूगों, व्रातों, श्रेणियों आदि के लोग सम्मिलित रहते थे ।[2]

स्मृतियों तथा निबन्धों में अन्य न्यायालयों का वर्णन भी मिलता है । मुकदमों का फैसला कुलों (गांव की पंचायतों), श्रेणियों, सभाओं (पूगो) तथा गणों द्वारा भी होता था ।[3]

उच्च से निम्न न्यायालयों का क्रम यों था—राजा, न्यायाधीश, गण, पुग, श्रेणी एवं कुल ।[4]

आचार्य माधव ने सभा के दस अंग निर्दिष्ट किये हैं—राजा, राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश, सभ्य, स्मृति, गणक, लेखक, सोना, अग्नि, जल तथा स्वपुरुष ।[5]

---

१. कात्यायन—पराशर-माधवीय से उद्धृत, पृ. १७
धर्मशास्त्रविचारेण मूलसारविवेचम् ।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्म्माधिकरणं हि तत् ॥

२. भृगु—पराशर—माधवीय से उद्धृत, पृ. १९
दश स्थानानि वादानां प च चैवाब्रवीदभृगुः ।
निर्णयं येन गच्छन्ति विवादं प्राप्य वादिनः ॥

३. काणे, पी.वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ.७२३

४. भृगु—वही, पृ. १९.
ग्राम पौरगण श्रेण्यश्चातुर्विघश्च वर्गिणः ।
कुलानि कुलिकाश्‍चैव नियुक्ताः नृपतिस्तथाः ॥

५. बृहस्पति, पराशर-माधवीय, पृ. २४-२५
नृपो दिकृतसभ्याश्च स्मृतिगणाक लेखको ।
सहेमाग्न्यम्बुपुरुषाः साधनानि अङ्गानि वे दश ॥

मुख्य न्यायाधीश व्यवहार का उद्घोष करता है; राजा दण्ड देता है; सभ्य लोग मामलों की जांच करते हैं, स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र निर्णय, हार एवं दण्ड की विधि बताता है; सोना एवं अग्नि शपथ लेने के लिए होते हैं; जल प्यास लगने पर पीने के लिए होता है, गणक धन या मामले के विषय की गणना करता है; लिपिक या लेखक कार्यवाही लिखता है ।[१]

१८ हीन जातियों के संदर्भ में उल्लेख मिलता है कि राजा को स्मृतियों के अनुसार ही झगड़ों का निर्णय करना होता था। उसे वर्गों एवं हीन जातियों के कर्तव्यों एवं परम्पराओं पर ध्यान देना पड़ता था। वे हीन जातियां रजक (धोबी), चर्मकार, नट, बुरुढ़ (बांस का सामान बनाने वाली जाति), केवर्त (केवट या मछुआ), म्लेच्छ भिल्ल, आभीर, मातंग तथा अन्य नौ जातियां ।[२]

राजा अन्तिम न्यायकर्ता था और उसके नीचे का न्यायालय उसके द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों का न्यायालय था। बृहस्पति का मत है कि साहस नामक मामलों के अतिरिक्त सभी प्रकार के मुकमदों का फैसला कुल, श्रेणी एवं गण कर सकते थे, किन्तु निर्णयों को कार्यान्वित करने का अधिकार राजा को ही प्राप्त था ।[३]

इस प्रकार से निष्पक्ष न्याय कार्य एवं अपराधी को दण्ड न्यायालय एवं राजा का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। राजा ही अन्तिम न्याय का स्रोत माना गया है।

---

१. वही—पृ. २५
एतदृशाङ्गकरणं यस्यामध्यास्य पार्थिवः ।
न्यायान् पश्येत् कृतमस्तिः सा सभा ध्वरसम्मिता ॥
दशानामपि नेतषां कर्म प्रोक्तं पृथक् पृथक् ।
सभाध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्यपरीक्षकाः ॥
स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रुते जयदानधनन्तथा ।
शपथार्थेहिरणयग्नी जलं तृषिततुब्ध्योः ॥
गणको गणयेदृष्टं लिखेन्म्या च लेखकः ॥

२. काणे, पी.वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-२) पृ. ७२४

३. बृहस्पति, पराशर-माधवीय, पृ. २५
वाग्दण्डश्चैव धिग्दण्डो विप्राधीनो तु तावुमो ।
अर्थदण्डबधावुक्तो राजायत्तावुभावपि ॥
राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुलश्रेणीगणादयः ।
साहसन्यायवर्ज्यानि कुर्य्युः कार्याणि ते नृणाम्'—इति ।

मनु का मत है कि जनता के झगड़ों को दूर करने की इच्छा से राजा ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ राजसभा में जाये तथा झगड़ों को सुलझाये ।[१]

न्यायालयों के प्रकार

पितामह के अनुसार न्यायालय तीन प्रकार के बतलाये गये हैं । आचार्य माधव ने इसका संकेत इस प्रकार से किया है—१. ग्राम द्वारा किया गया निर्णय नगर में पहुंचता है, और २. नगर वाला निर्णय राजा के पास जाता है, ३. राजा का निर्णय गलत है या सही, वही अन्तम होता है ।[२] जबकि याज्ञवल्क्य एवं नारद ने दो प्रकार के न्यायालयों की चर्चा की है—

१. मुख्य न्यायाधीश का न्यायालय

२. स्वयं राजा का न्यायालय[३]

इस संदर्भ में बृहस्पति का मत है कि 'सभ्य' लोग कुलों तथा अन्य लोगों से श्रेष्ठ होते हैं तथा मुख्य न्यायाधीश सभ्यों से तथा राजा सबसे श्रेष्ठ होता है इसलिये उसका निर्णय अन्तिम माना जाता है ।[४]

---

१. मनुस्मृति—१,३८.
व्यवहारान्दिदृक्षस्तु ब्राह्मणैः स पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैमन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥
प्रत्यहं देश दृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभि ।
अष्ठादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्-पृथक् ॥

२. पितामह, पराशर-माधवीय, पृ. ३२ (व्यवहार काण्ड)
ग्रामे दृष्टः पुरं यायात्पुरे दृष्टस्तु राजनि ।
राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति तस्य पुनर्भवः ॥

३. याज्ञवल्क्य—३६१.१
कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणानजानपदानपि ।
स्वधर्मच्यलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥
नारद—पराशर-माधवीय पृ.३२, भाग-२
कुलानि श्रेणयेश्चैव गणश्चाधिकृतो नृपः ।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां सर्वेषामुत्तरोत्तरम् ॥

४. बृहस्पति—पराशर-माधवीय, पृ. २० (व्यवहार काण्ड)
'गणः पाषण्ड पूगश्च ब्राह्मणश्रेणयस्तथा ।
समूहस्याश्च चे यान्ये वर्ग्याख्यास्ते बृहस्पतिः ।' इति ।

मिताक्षराकार का मत है कि प्रजा की रक्षा राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य है, परन्तु यह कर्तव्य अपराधियों को दण्ड दिये बिना पूर्ण नहीं हो सकता, अत: राजा को प्रतिदिन न्याय (व्यवहार दर्शन) करना चाहिए ।[1]

न्याय कार्यविधि

व्यवहार दर्शन एवं न्याय कार्यविधि के संबंध में मनु ने कहा है कि राजा को भली-भांति सज्जित होकर, शान्त रूप से न्यायालय में आना चाहिये तदुपरान्त देवों एवं आठ दिक्पालों को स्मरण के उपरान्त न्याय सम्बन्धी कार्य को देखना चाहिये ।[2]

इस विषय में आचार्य माधव को नारद का अभिष्ट है कि धर्मासन पर बैठकर राजा को द्वेष, मत्सर से रहित होकर समान भाव से मित्र एवं शत्रु अथवा सब लोगों के लिए निष्पक्ष होकर न्याय करना अनिवार्य है ।[3]

व्यवहार दर्शन के समय आदि धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के मतों में परस्पर विरोध होता है तथा वहां धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानकर निर्णय किया जाता है ऐसा निर्देश मिलता है ।[4]

प्राचीन काल में न्यायाकार्य के चार स्तर होते थे; १. किसी व्यक्ति से सूचना प्राप्त करना, २. उस सूचना को व्यवहार-पदों के अनुकूल किसी एक में रखना, ३. दोनों दलों की बहसों एवं साक्षियों पर विचार करना तथा ४. निर्णय करना ।[5]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति १.२ पर विज्ञानेश्वर कृत टीका

२. मनुस्मृति—२३८
धर्मसनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेम्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥

३. नारद, पराशर-माधवीय, पृ. २८
तस्माद्धर्म्मासनं प्राप्य राजा विगतमत्सरः।
समः स्यात् सर्वभूतेषु विभ्रदेवस्वतं व्रतम् ॥

४. पितामह—पराशर-माधवीय, पृ. २९
वैदाः साङ्गास्तु चत्वारो मीमांसा स्मृतस्तथा।
एतानि धर्मशास्त्राणि पुराणं न्यायदर्शनं ॥

५. नारद—३०.१
Firstly, the litigants have to appear before the court, secondly the draft of their dispute has to be expounded,

अन्य विशेष बात यह है कि व्यवहार दर्शन के समय यदि कोई बिना साक्षी उपस्थित किये हुए किसी पर एकान्त में मारने पीटने का अभियोग लगाता है तो चिह्नों, युक्ति (कारण, प्रयोजन और पर्यालोचन) और आगम द्वारा उसकी परीक्षा करे, तभी निर्णय करे ।[१]

न्याय-व्यवस्था 'राजधर्म' का एक विवेच्य विषय है । परन्तु पराशर स्मृति एवं देवल स्मृति में इसका विवेचन नहीं किया गया है अपितु इस विषय पर केवल, स्त्रीधर्म, स्त्री रक्षा, दाय भाग, अनुलोभ तथा निषाद पुत्र का सम्पत्ति में भाग, विवाह संस्कार, स्त्री धन इत्यादि विषयों के देवल के नाम से उद्धरण आचार्य माधव ने टीका करते हुये उद्धृत किये हैं । अत: उन सब विषयों का विवेचन आगे किया जा रहा है ऐसे ही पराशर स्मृति में भी हमें व्यवहार के अट्ठारह पदों में से केवल स्त्रीपुंधर्म:, स्त्रीत्याग, पतित्याग, स्त्रीपुनर्विवाह:, 'विधवा धर्मा: बीजिक्षत्रियणोपव्य-स्वाम्यविचार विषयों का वर्णन मिलता है तथा दायभाग के अन्तर्गत पुत्र प्रकारा:, तेषां दायहरत्व विचारश्च एवं कलो चत्वार: पुत्रा: इत्यादि विषयों का समावेश प्राप्त है जो निम्न प्रकार बताया जायेगा ।

स्त्रीपुंधर्मा

प्राय: स्मृतिग्रन्थों में पति एवं पत्नी के पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है—जैसेकि मनुस्मृति में पति-पत्नी के धर्मों (धर्म, अर्थ एवं काम) के विषय में उन्हें एक-दूसरे के प्रति सत्य कहने का निर्दश किया है और सदा ही यही प्रयत्न करना चाहिए कि वे कभी भी अलग न हों ।[२]

---

then comes to examination, and lastly the sentence; thus the trial of a law-suit consists of four parts.

१. याज्ञवल्क्य-पराशर-माधवयी, पृ. ३० भाग-२
असाक्षिके हते चिह्वे युक्तिभिश्चागमेन च ।
द्रष्टव्यों व्यवहारास्तु कुटचिह्नकृताद्‌भयात् ॥

२. मनुस्मृति—१०१, १०२, ९
नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥
अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिक: ।
एष धर्म: समासेन ज्ञेय: स्त्रीपुंसमो पर: ॥

प्राचीन स्मृति ग्रन्थों में स्त्री की स्वतन्त्रता का निषेध किया गया है ।[१] क्योंकि स्वच्छन्द स्त्रियां व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाती हैं । अतः व्यभिचारिणी स्त्रियों के संबंध में देवल का मत है कि उनका परित्याग न करके, उससे धार्मिक कृत्यों का अधिकार छीन लिया जाये तथा बीमार, बांझ (सन्तानहीन) तथा पागल स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करना चाहिये ।[२]

पति-पत्नी धर्मों के सम्बन्ध में पराशर का विचार है कि पति को पत्नी की जीविका का प्रबन्ध तो करना ही पड़ता था, साथ ही साथ उसे उसके साथ सम्भोग भी करना अनिवार्य था, क्योंकि ऐसा न करने पर उस पर भ्रूण-हत्या का दोष लगता था ।[३] इसी प्रकार पत्नी को भी पति की सम्भोग-इच्छा पूर्ण करनी पड़ती थी । ऐसा निर्देश मिलता है क्योंकि ऐसा न करने पर वह भी भ्रूण हत्या की अपराधिनी, निन्दनीय एवं त्याज्य समझी जाती थी ।[४]

व्यभिचार में संलग्न अथवा जो स्त्री बन्धुओं एवं सजातियों के साथ सम्भोग करने वाली हो, उसके लिये किसी प्रकार के प्रायश्चित की व्यवस्था नहीं की गई । अतः उसका त्याग कर देना ही उचित है ।[५]

---

१. मनुस्मृति-पराशर-माधवीय पृ. ३२२
'अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषये सज्जमानाश्च संस्थाप्या ह्यात्मनो वंश ॥'

२. देवल, वही—पृ. २३
व्याधितां स्त्रीप्रजां बन्ध्यामुन्तां विगतार्तवाम् ।
अदुष्टां लभते त्यक्तुं तीर्थान्न त्वेव कर्मण ॥

३. पराशर स्मृति—१५.४
ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥

४. वही, १४.४
ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति ।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥

५. पराशर-स्मृति, १९,२०.४
बान्धवानां सजातीनां दुर्वृतं कुरुते तु या ।
गर्भपातं च या कुर्यान्न तां संभाषयेत्ववचित् ॥
यत्पापं ब्रह्महत्याया द्विगुणं गर्भपातने ।
प्रायश्चितं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते ॥

स्मृतिग्रन्थों में पत्नियों के कर्तव्य पति-भक्ति एवं नियमों के पालन आदि के विषय में बहुत वर्णन किया गया है। जो पत्नी विचार, शब्द एवं कार्य से पति के प्रति सत्यनिष्ठ रहती है वह पति के साथ स्वर्गिक लोकों को प्राप्त करती है और साध्वी या पतिव्रता मानी जाती है।[१]

इसके विपरीत जो स्त्री पति की अवहेलना तथा अपमान करती है, वह निन्दा की पात्र होती है, अगले जन्म में कुतिया अथवा सूकरी की योनि को प्राप्त होती है।[२]

स्मृतिकार पराशर ने पति की आज्ञा के बिना स्त्री को व्रत निषेध बताया है, उसका उल्लंघन करने पर वह उसका 'तामसव्रत' कहलायेगा।[३]

स्त्री पुनर्विवाह एवं विधवा विवाह

विवाह शब्द से तात्पर्य विवाह संस्कार से है, यथा उद्वाह (कन्या को उसके पितृ-गृह से उच्चता के साथ ले जाना), या परिणय अथवा परिणयन (अग्नि की प्रदक्षिणा करना), उपयम (सन्निकट ले जाना और अपना बना लेना) एवं पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना), इत्यादि शब्द विवाह का उपलक्षण बनते हैं अपितु उसका एक-एक तत्व बनाते हैं, अपितु शास्त्रों में इनका प्रयोग मिलता है तथा विवाह संस्कार के समय के कतिपय कर्मों को इनमें सम्मिलित किया गया है।[४]

विवाह संस्कार के अन्तर्गत स्त्री पुरुष के संयोग स्वीकार किया जाता है, उन्हें सामाजिक मान्यता दिलायी जाती है। जैसाकि याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख मिलता है विवाह करते समय कन्या का हाथ पकड़ना चाहिये।[५]

---

१. मनुस्मृति—१६५.५
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥

२. वही—१६.४
दरिद्रं व्याधितं धूर्तं भर्तारं या वमन्यते। सा शुनी जायते मृत्वा सूकरी च पुनः पुनः ॥

३. वही—१७.४
पत्यौ जीवति या नारी उपोष्य व्रतमाचरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुः सा नरकं व्रजेत् ॥

४. काणे, पी.वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ. २६८

५. याज्ञवल्क्य स्मृति, ६२.१
पाणिग्राह्यः सवर्णासु गृहीयात्क्षत्रिया शरम् ॥

इस विषय में आचार्य माधव का मत है कि केवल वही कन्या, जो वर की सपिण्ड नहीं है उससे विवाह करना चाहिए।[१]

विवाह की अवस्था

पुरुष एवं स्त्री की विवाह-अवस्था के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि सभी कालों में, भिन्न-भिन्न प्रान्तों एवं भिन्न जातियों में विवाह अवस्था पृथक्-पृथक् मानी जाती रही है। पुरुष के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं रखी जाती। पुरुष यदि चाहे तो जीवन भर अविवाहित रह सकता था, अपितु मध्य एवं वर्तमान काल में लड़कियों के लिए विवाह अनिवार्य रूप से मान्य रहा है।[२]

स्मृतिकार मनु के अनुसार ३० वर्ष का पुरुष एवं १२ वर्ष की कन्या विवाह के योग्य मानी गई।[३] इसी के आधार पर विष्णुपुराण ने कन्या एवं वर की विवाह अवस्थाओं का अनुपात १/३ रखा है।[४]

अंगिरस स्मृति के अनुसार कन्या वर से २,३,४ या अधिक वर्ष छोटी हो सकती है।[५] ऐसे ही अनुशासन पर्व में भी वर एवं कन्या की विवाह अवस्थाएं क्रमशः ३० तथा १०, २१ तथा ७ बताई गई हैं।[६]

गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा टीकाकारों ने 'नग्निका' शब्द की कई व्याख्यायें उपस्थित की हैं। हिरण्यकेशी की व्याख्या में ऐसी कन्या को 'नग्निका' कहा है

---

१. पराशर-माधवीय, पृ.

२. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-१), पृ. २७२

३. मनुस्मृति—१४.९
त्रिंशद्वषवहेत्कन्यां हृध्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्रयष्टवर्षो ष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः॥

४. विष्णु-पुराण ३.१०.११
वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्धहेत् त्रिगुणः स्वयम्॥

५. अंगिरा—काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ. २७३
वयोधिकां नोपयच्छेद् दीर्घा कन्यां स्वदहेत्।
स्ववर्षाद द्विधिप चादिन्यूनां कन्यां समुद्धहेत्॥

६. महाभारत, (अनुशासन पर्व), १३.४४
त्रिशद्वर्षो दशवर्ष भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्॥

जिसने अभी जवानी की भावनाओं की कोई अनुभूति नहीं की है तथा अन्य अर्थ यह बताया है—'नग्निका' वह है जो बिना परिधान के भी सुन्दर लगे।[१] वसिष्ठ धर्मसूत्र के मतानुसार भी 'नग्निका' शब्द अयुषा का ही द्योतक है।[२]

स्मृतिकार पराशर ने ८ वर्ष की अवस्था की गौरी, ९ वंर्ष की रोहिणी तथा १० वर्ष की कन्या तथा उससे अधिक १२ वर्ष की कन्या की रजस्वला संज्ञा कही है।[३] अर्थात् १२वें वर्ष में कन्या ऋतुमती होकर विवाह की अवस्था को प्राप्त कर लेती है तथा १२ वें वर्ष के उपरान्त उसका विवाह अनिवार्य रूप से हो जाना चाहिए अन्यथा कन्यादान न करने पर उसका रजकापितर पान करते हैं।[४]

यही बात गौतम स्मृति में पाई जाती है कि युवती होने से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए। क्योंकि ऐसा न करने पर पाप लगता है।[५]

यदि विवाह योग्य लड़की पिता द्वारा विवाहित न की जा सके, तो उसके माता-पिता एवं बड़ा भाई सभी उस रजस्वला कन्या को देखने से दोष के भागी बनते हैं।[६] अर्थात् कन्या के विवाह की अवस्था उसके ऋतुकाल के आगमन को निश्चित किया गया है।

---

१. हिरण्यकेशी—मातृदत्त की व्याख्या—१.१९.१२
ताभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत् सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीम् सगोत्राम्॥

२. वसिष्ठ-धर्मसूत्र ७०.१७
प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतकालभयात्पिता।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति॥

३. पराशर स्मृति—६.७
अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दश वर्षा भवेत्कन्या अत उर्ध्व रजस्वला॥

४. वही—७.७
प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरोऽनिशम्॥

५. गौतम—२०.२३८ यवीयान्....दोषादोषः॥

६. पराशर स्मृति—८.७
माता पिता नैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥

स्त्री पुनर्विवाह

पुनर्विवाह से तात्पर्य है स्त्री का पुनर्विवाह होना। इस विषय में नारद स्मृति में उल्लेख किया गया है कि 'पुनर्भू' उस विधवा के लिए प्रयुक्त होता है जिसने दोबारा विवाह किया हो।[१]

स्मृतिकार पराशर ने पांच विपत्तियों में स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह या द्वितीय पति आज्ञापित किए हैं—वे पांच स्थितियां हैं—१. जब पति नष्ट हो जाये (उसके विषय में कुछ पता न लगे), २. मर जाये, ३. संन्यांसी हो जाये, ४. नपुंसक हो (सन्तान उत्पन्न करने में सक्षम न हो), ५. पतित हो जाये।[२]

आचार्य माधव का मत है कि यह बात या स्थिति अन्य युग के समाज की है, इसका आधुनिक काल में औचित्य नहीं है।[३]

स्मृत्यर्थसार के अनुसार कई मत दिये गये हैं, जब स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है—

१. यदि सप्तपदी के पूर्व ही वर मर जाय तो कन्या का विवाह पुनः हो जाना चाहिये।

२. कुछ का मत है कि समागम के पूर्व यदि पति मर जाय तो पुनर्विवाह हो सकता है।

३. कुछ लोगों के मत से यदि विवाहोपरान्त कन्या के रजस्वला होने से पूर्व पति मर जाये तो भी पुनर्विवाह हो जाना चाहिये।

---

१. Narad Smriti—47/12.
A damsel, not deflowered, but blemished by a previous marriage, is the first twice-married woman (Punarbhu), she must go through the marriage ceremony as a second time.

२. पराशर-स्मृति ३०.४
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबै च पतिते पतो।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

३. पराशर-माधवीय पृ.४५ (भाग-२)

४. कुछ लोगों के अनुसार गर्भ ठहरने के पूर्व पुनर्विवाह उचित माना जाता है।[१]

विधवा विवाह

स्मृतिकार मनु के समान ही पराशर स्मृति ने भी विधवा स्त्री के पुनर्विवाह का विरोध कर विधवा को ब्रह्मचर्य में स्थित रह, सती धर्म के पालन का उद्देश्य किया है।[२] अतएव ये विधवा विवाह के कट्टर विरोधी हैं क्योंकि ब्रह्मचर्य में स्थित साध्वी स्त्री जन्म-जन्मान्तर पति का संग पाती है।[३] और जो पति के न रहने या मर जाने पर स्वयं भी सती हो जाती है वह उसी पति को प्राप्त कर लेती है जिस प्रकार सपेरा बलपूर्वक सांप को बिल में से निकाल लेता है।[४]

अतः कहा जा सकता है कि नारद, पराशर एवं अन्य धर्मशास्त्रों के मत से एक स्त्री कुछ स्थितियों में विवाह कर सकती थी, अपितु निबन्धकारों एवं टीकाकारों ने इसे प्राचीन बात कहकर टाल दिया है।[५]

पुत्रों के प्रकार

स्मृति-ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के पुत्रों की चर्चा मिलती है जिनमें से कुछ मुख्य एवं गौण पुत्र कहलाते हैं।[६] ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्रोत्पत्ति की इच्छा का कारण

---

१. स्मृत्यर्थसार श्रीधराचार्य, पृ. १२ मृते न्यस्मै... दद्याच्च सोदयम् ॥

२. पराशर-स्मृति ३१.४
मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्ग यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥

३. वही—३२.४
तिस्रः कोट्यो र्धकोटी चयानि लोमानि मानवे।
तावत्काल वसेत्स्वर्गे भर्तर या नुगच्छति ॥

४. वही—३३.४
व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
एवं स्त्री पतिमुद्धृत्य तेनैव सह मोदते ॥

५. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ. ३४६

६. मनुस्मृति—१५९, १६०.९
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम् एव च।
गूढोत्पन्नो पविद्धश्च दायादाः बान्धावाश्च षट् ॥

था—पितृ ऋण से मुक्ति, अमृतत्व की प्राप्ति एवं दिव्य लोकों की प्राप्ति ।[१] मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इन प्रमुख उपयोगों के लिए ही पुत्र की कामना की जाती थी ।[२] अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की इच्छा के पीछे सर्वप्रमुख कारण था वंश अविच्छेद ऐसा मिताक्षरा का मत रहा है ।

अधिकांश स्मृतिकारों का मत है कि पितृ गण हृदय में विचार करके अपने लिए ही पुत्रों की आकांक्षा करते हैं; वह (पुत्र) मुझे छोटे एवं बड़े कर्ज एवं पितृऋणों से स्वतन्त्र करेगा ।[३]

प्राचीन स्मृतिकारों ने औरस पुत्र के अतिरिक्त ११ या १२ प्रकार के गौण पुत्रों का उल्लेख किया है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने औरस के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के पुत्र को मान्यता नहीं दी है ।[४] स्मृतिकार पराशर ने पांच प्रकार के पुत्र कहे हैं

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भस्तथा ।
स्वयं दतश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवा ॥

१. ऐतरेय ब्राह्मण, १.३३
ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति ।
पिता पुत्रस जातस्य, पश्येच्येज्जीवतो मुखम ॥ इति ।

२. मनुस्मृति—१०६.९
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥
याज्ञवल्क्य स्मृति—७८.१ लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेवयाः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः ॥

३. कात्यायन—स्मृति-चन्द्रिका, पृ. १६८
पितृणां सुनिभिजातेर्दानेनवाधमादृणात् ।
विमोक्षस्तु यतस्तस्मादिच्छन्ति पितरः सुतान् ॥

४. याज्ञवल्क्य-स्मृति—
औरसः पुत्रिकापुत्रः, क्षेत्रजो गुढ़जस्तथा ।
कानीनः प नमः प्रोक्तः षष्ठः पोनर्भवः स्मृतः ॥
दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च स्वयंदत्तइतीतितः ।
सहोढ़जो पविद्धश्च पुत्राद्वादश कीर्तिताः ॥
मनुस्मृति—
औरस क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढ़ोत्पन्नो पविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥

अपितु यह निर्देश नहीं किया गया कि वे अन्य प्रकार के पुत्र मानते हैं या नहीं ।[१] इनमें से माता पिता जिसको अपनी इच्छा से देते हैं, वह 'दत्तक' पुत्र कहलाता है ।

आपस्तम्ब ने (२.६.१३.१-५) बलपूर्वक कहा है कि पुत्र का वास्तविक दान या क्रय नहीं हो सकता (दानं क्रय धर्मश्चापत्यस्य च विद्यते) । क्षेत्रज पुत्रों को आपस्तम्ब ने वर्जित किया है । क्षेत्रज पुत्र उसे कहा है; जो पुत्र, ऐसे व्यक्ति द्वारा उत्पन्न हैं, जो उचित ऋतु में अपनी ही जाति की स्त्री के पास जाता है (जो दूसरे की पत्नी नहीं है) जिससे शास्त्रविहित विवाह हुआ है, वे अपनी ही जाति के कर्मों को करते हैं और रिक्थाधिकार अथवा सम्पत्ति में अपना भाग पाते हैं ।[२]

इस क्षेत्रज को भी दो भागों में बांटा गया है—१. गर्भदाता का पुत्र एवं पत्नी (पत्नी के पति का) का पुत्र, २. ऐसा पुत्र जो कहीं भी उत्पन्न किया गया है ।

पराशर स्मृति ने कुण्ड एवं गोलक के अतिरिक्त पांच प्रकार के पुत्रों की चर्चा की है । इनके विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार जल और वायु से अपहृत बीज जिसके खेत में जाकर उगता है वह खेत वाला ही बीज के फल को प्राप्त करता है और जिसका बीज है, वह फल का भागी नहीं होता है—इसका संकेत नियोग से उत्पन्न पुत्र ही है क्योंकि नियोग के अन्तर्गत ही किसी अन्य का बीज अन्य व्यक्ति का हो जाता है ।

इस प्रकार किसी दूसरे स्त्रियों में दो प्रकार के पुत्र उत्पन्न होते हैं जिनमें एक को 'कुण्ड' और दूसरे को गोलक कहते हैं । अर्थात्[३] पति के जीवित रहने पर अन्य

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवा ॥

१. पराशर स्मृति—२४.४
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वा पि स पुत्रोदत्तकोभवेत् ॥

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२.६.३.१-४

३. पराशर-स्मृति—२२.४
अम्बुवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्र प्ररोहति ।
स क्षेत्री लभते बीजं न बीजी भागमर्हति ॥

पुरुष से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह 'कुण्ड' कहलाता है और पति के मर जाने पर पर-पुरुष से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह 'गोलक' कहलाता है ।[१]

दायभाग (रिक्थाधिकार)

दायभाग का वास्तविक अर्थ है—सम्बन्धियों (पिता, पितामह या मातामह आदि) के धन का सम्बन्धियों (पुत्रों, पौत्रों एवं पुत्रियों आदि) में विभाजित होना और इसका कारण है मृत स्वामी से उनका सम्बन्ध । मिताक्षरा के अनुसार जब धन केवल स्वामी के साथ सम्बन्ध होने से दूसरे का हो जाता है उसे 'दाय' कहते हैं ।[२]

'दाय' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य के समय से हो रहा है । ऋग्वेद में 'दाय' शब्द का प्रयोग 'पुरस्कार' तथा 'भाग' के अर्थ में किया गया है ।[३] तैत्तिरीय संहिता एवं ब्राह्मणों में 'दाय' शब्द 'पैतृक सम्पत्ति' या केवल 'सम्पत्ति' रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

तैत्तिरीय संहिता में 'नाभानेदिष्ठ' की कथा का वर्णन आता है कि 'मनु ने अपने पुत्रों में दाय का विभाजन किया ।'[४] इसी प्रकार अन्य स्थल पर भी 'दाय' का प्रयोग 'धन' के अर्थ में किया गया है ।[५]

धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में 'दाय' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'रिक्थ' शब्द भी ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ है, यथा—'शरीर का पुत्र अपनी बहिन को पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) नहीं देता प्रत्युत उसके पिता के पुत्र को वह सम्पत्ति देता है ।[६]

---

१. वही—२३.४
तद्वत्परस्त्रियः पुत्रौ द्वौ सुतो कुण्डगोलको ।
पत्यो जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तरि गोलकः ॥

२. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति १३.२ पर विज्ञानेश्वर की टीका
तत्र दायशब्देन यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति ।

३. ऋग्वेद, २.३२.४, १०.११४.१०
दहातु वीरं शतदायमुक्थयम् । श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो ।

४. तैत्तिरीय संहिता—६.५.८.२
मनु पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् ।

५. तैत्तिरीय संहिता—२.५.२.७ तस्माज्ज्येष्ठं पुत्र धनेन निरवासाययन्ति ।

६. ऋग्वेद—३.३१.२
न जामये तान्वो रिक्थमारेक्चकार गर्भ सुनितुर्निधानम् ।

'दायाद' (अपने साथ धन का भाग पाने वाला) शब्द भी वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ। यथा—तैत्तिरीय संहिता में वर्णन आया है शक्तिहीन स्त्रियां (सोम या याग) ग्रहण नहीं करतीं और नीच मनुष्य से धीरे से बोलती हैं।[१]

अथर्ववेद में 'सोम' को ब्राह्मणों का दायाद कहा गया है।[२] निरुक्त में 'दाय' एवं 'दायाद' शब्दों को उद्धृत अंशों में दर्शाया है।[३]

पाणिनि ने भी 'दायाद' शब्द का प्रयोग किया है।[४]

'दाय' शब्द का प्रयोग विवाह के अवसर पर वर या वधू को दिए गए धन के लिए भी होता है।[५] नारद का मत है कि जहां पैतृक धन का पुत्रों के द्वारा विभाग किया जाता है उसे विद्वानों ने 'दाय भाग' कहा है।[६] बृहस्पति के अनुसार जो धन पिता पुत्रों को देता है वह 'दाय' कहलाता है।[७]

दायभाग के सम्बन्ध में देवल का विचार है कि पिता के मर जाने पर, उस पिता का धन उसके पुत्रों में विभाजन, उनमें भी निर्दोष पुत्र ही सम्पत्ति का अधिकारी हो सकता है।[८]

---

१. तैत्तिरीय संहिता—६.५.८.२
तस्मात्स्त्रियो निरन्द्रया उदायादीरपि पापात्पुसं उपस्तितरं वदन्ति।

२. अथर्ववेद ५.१८.६
न ब्राह्मणों हिंसितव्योग्निः प्रियतनोरिवः।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥

३. निरुक्त—३.१.४
अविशेषेणं पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। न दुहितर इत्येके। तस्मात् पुमान् दायादो दायादा स्त्रीति विज्ञायते।

४. पाणिनि—२.३.३९; ६.२.५
स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतेश्च॥ दायादं दायादे॥

५. शब्दकोष—विवाहकाले कन्याये दीयमाने यौतुकादिधने कन्यादानकाले जामात्रादिभ्यो दीयमाने धने च, विभागाहपित्रादिधने च दायभाग शब्दे दृश्यम्।

६. नारदेन—याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीक—११३.२
'विभागो र्थस्य पित्रयस्य तनयेर्यत्र कल्प्यते।
दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधेः॥

७. बृहस्पति—१.२६ ददाति दीयते पिता पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनम्। तद्दायं....॥

८. देवल, पराशर-माधवीय से उद्धृत, पृ. ३२७

अनेक धर्मशास्त्रकारों[१] द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि 'स्थावर और जंगम सम्पत्ति जो माता पिता के द्वारा कुल-परम्परा से चली आ रही है उसका पुत्रों में बंटवारा 'दाय भाग' कहलाता है। 'दाय' शब्द 'दा' धातु से बना है, किन्तु इसके अर्थ में परम्परा निहित है। 'दाय' में मृत व्यक्ति किसी अन्य का स्वामित्व उत्पन्न करने के लिए अपना स्वामित्व नहीं छोड़ता, किन्तु दोनों में किसी वस्तु के स्वामित्व का त्याग रहता है, यही एक साम्य है।[२]

किसी वस्तु का विभाजन तभी हो सकता है जब उस वस्तु पर उस व्यक्ति का स्वत्व या अधिकार होगा। गौमत ने पांच प्रकार के स्रोत बताए हैं जिनके द्वारा सभी वर्णों के व्यक्ति स्वामी बन सकते हैं—(१) रिक्थ, (२) क्रथ, (३) संविभाग, (४) परिग्रह, (५) अधिगम।[३] अर्थात् रिक्थ स्वत्व निर्णय का उपाय, क्रय अर्थात् बेचने से, संविभाग-विभाजन द्वारा, परिग्रह-युद्ध में शत्रु को पराजित करके धन ले लेना तथा अधिगम—संयोग से पड़ी हुई वस्तु को प्राप्त करना, जिस पर किसी का अधिकार न हो। स्मृतिकार मनु ने सात प्रकार से धन की प्राप्ति बताई है—दाय, लाभ, क्रय, जय, प्रयोग, कर्मयोग और सत्परिग्रह।[४]

कुल्लुक ने इन सात आगमों की व्याख्या की है—'दाय' अर्थात् १. धर्म-युक्त—पितृसम्पत्ति का भाग, २. लाभ-मूलधन या ३. मित्रादि से उपलब्ध, ४. क्रय-खरीदा हुआ—ये तीनों चारों वर्णों के लिए विहित हैं।[५]

पितर्युपरते तत्र विभजेरन् पितुर्धनन्।
अस्वाभ्यं हि भवेतेषां निर्दोषे पितरि स्थिति॥

१. कुल्लुक (मनु. ९.१०३); नारद १६.१; स्मृतिचन्द्रिका, पृ. ५९७ पर निघण्टुकार और धारेश्वर।

२. दायभाग—४-५.१ दीयत इति व्युत्पत्या दायशब्दः, ददाति प्रयोगश्च गौणः मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्। न तु मृतादीनां तत्र त्यागो स्ति। ततश्च पर्वस्वामीसम्नब्धधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो दायशब्दः।

३. गौतम धर्मसूत्र—३९.१० स्वामीरिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु॥

४. मनुस्मृति—११५.१०
सप्तवित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥

५. मनुस्मृति—११५०० पर कुल्लुक की टीका.

नारद स्मृति में छः प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति को स्वत्व का स्रोत बताया गया है—१. लव्ध अर्थात् जन्म से प्राप्त होने वाली पैतृक सम्पत्ति या अकस्मात प्राप्त होने वाला धन, २. दान, ३. क्रय, ४. शौर्य से प्राप्त धन, ५. विवाह में मिला धन, ६. निःसंतान बन्धु से उपलब्ध सम्पत्ति।[1]

दाय विभाग के समय प्रश्न उठता है कि दाय का किस समय, किसका, किस के द्वारा तथा किस प्रकार से विभाग किया जाये। इन प्रश्नों पर विचार करने से पहले दाय भाग के सामान्य नियमों की जानकारी आवश्यक होती है।

आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार दाय का अधिकारी ज्येष्ठ पुत्र ही होता है।[2] दूसरे पुत्र उसके आधीन होकर जीविका चलाते हैं, लेकिन यह शास्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि वेद में बिना किसी भेदभाव के लिए कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रों में दाय का विभाजन किया।[3] अपितु अन्य स्थल पर यह उचित दृष्टिगोचर होती है कि 'लोग ज्येष्ठ पुत्र को दाय का अधिक अंश देकर पृथक् करते हैं।[4]

न्यायवेत्ता जो बात नित्य अर्थात् तथ्य हो उसके कथन को नित्य नहीं मानते तथा—'पशुओं के बीच बकरी और भेड़ें एक साथ चरती हैं, स्नातक का मुख कुण्डल आदि से शोभित होता है, वेदों का अध्येता श्रोत्रिय और बकरा कामुकता अधिक प्रकट करता है' इस कारण धर्म का आचरण करने वाले सभी पुत्र 'दाय' ग्रहण करने वाले होते हैं। या दायभाग के अधिकारी होते हैं। किन्तु जो धन का

दायाधाः सप्त धनागमाः यथाधनाधिकारं धर्मादनपेताः तत्र दायोन्वयागताधनं, लाभो निध्यादे, मैत्रयादिलव्धस्य च, क्रयः प्रसिदध, एते त्रयश्चतुर्णामपि वर्णानां धर्म्याः। जयधनं विजयत्वेन क्षत्रियस्य धर्म्यप्रयोगो वृद्धचादिधन्स्य, कर्मयोगश्च कृषिवाणिज्ये, एतो प्रयोगौ वैश्यस्य धम्यो, सत्प्रतिग्रहो ब्राह्मणस्य धर्म्यः।

१. धर्मकोश—व्यवहार काण्ड, पृ. ११२९
लव्धं दानक्रय प्राप्तं शौर्य वैवाहिकं तथा।
बान्धवादप्रजाज्जातं षड्विधस्तु धनागमः॥

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२.६.१४.६
ज्येष्ठो दायाद इत्येके॥

३. तैत्तिरीय संहिता—३.१.९.४

४. वही—२.५.२.७

व्यय अधर्म के कार्यों में करता है, उसके ज्येष्ठ होने पर भी दाय का भाग नहीं देना चाहिये ।[१]

गौतम ने इस विषय में दो विकल्प दिए हैं । उनका मत है कि सारा धन ज्येष्ठ पुत्र को दे दें तथा वह शेष लोगों का पिता के तुल्य भरण-पोषण करे अथवा सभी पुत्रों में समान विभाजन करे ।[२] गौतम के अनुसार बाद का नियम उचित है ।

दायभाग नामक व्यवहार-पद में दो मुख्य विषयों यथा—विभाजन एवं दाय का निरूपण किया जाता है । इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो सम्प्रदाय, जो 'मिताक्षरा' एवं 'दायभाग' की संज्ञाओं से प्रसिद्ध रहे हैं, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों ने ही प्रमुखता ग्रहण की है । दाय भाग का प्रचलन बंगाल में रहा है । भारत के अन्य भागों में 'मिताक्षरा' का प्राबल्य रहा है ।[३]

नारद ने दाय भाग व्यवहार-पद को ऐसा माना है जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं ।[४]

स्मृतिचन्द्रिका के मत से दाय वह धन है जो माता या पिता से किसी पुरुष को प्राप्त होता है ।[५] तथा मिताक्षरा एवं उसका अनुसरण करने वाले ग्रन्थ, यथा पराशर माधवीय आदि ने दाय को दो भागों में विभाजित किया है—१. अप्रतिबन्ध

---

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२.६.१४.१३-१४
अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदो यथा तस्माद्जावयः पशूनां सहचरन्तीति । तस्मात् स्नातकस्य मुखं रेफायतीव । तस्मात् वस्तस्च श्रोत्रिश्च स्त्रीकामतमाविति ॥ सर्वे हि धर्मयुक्ताभागिनः ॥ यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठो पितमभागं कुर्वीत ॥

२. गौतम धर्मसूत्र, ३-४.२८
सर्व वा पूर्वजः सवेतरान्विभृयात्पितृवत् ॥ विभागे तु धर्मवृद्धिः ॥

३. काणे, पी.वी.—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ.८३८

४. नारद-पराशर माधवीय से उद्धृत, पृ. ३२६
'विभागो र्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यस्य प्रकल्प्यते ।
दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः ॥

५. स्मृति-चन्द्रिका, देवण-भट्ट (व्यवहार-काण्ड)
पितृद्वारागतं द्रव्यं मातृद्वारागतं च यत् ।
कथितं दायशब्देन तद्विभागोधुनोच्यते ॥

एवं २. सप्रतिबन्ध ।[१] प्रथम में पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता, पितामह एवं प्रपितामह द्वारा आगत वंशपरम्परा के धन को प्राप्त करते हैं। इसमें पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रों एवं पौत्रों की कुल सम्पत्ति के प्रति अभिरुचि में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता, क्योंकि वे उसी कुल में उत्पन्न हुए रहते हैं। इसीलिये इसे 'अप्रतिबन्ध दाय' की संज्ञा दी गयी है। अपितु जब कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति पाता है, या कोई पिता जब अपने पुत्र की सम्पत्ति संतानहीन चाचा या संतानहीन पुत्र के मृत हो जाने पर पाता है तो यह 'सप्रतिबन्ध दाय' कहलाता है, क्योंकि इन स्थितियों में भीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तब तक स्वत्व नहीं पाता जब तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है। यह जब तक चाचा या पुत्र का पुत्र या पौत्र रहता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी की जीवितावस्था अथवा अस्तित्व या पुत्र का अस्तित्व भतीजे या पिता के उत्तराधिकार में बाधा उपस्थित करता है। अतः यह सप्रतिबन्ध दाय कहलाता है।[२]

स्व एवं स्वामी एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, दोनों में एक ही प्रकार की भावना निहित है और दोनों एक ही प्रश्न के दो स्वरूप हैं। 'स्व' का अर्थ है 'जो किसी का है' अर्थात् सम्पत्ति; इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है किसी वस्तु से और अप्रत्यक्ष संकेत है उस वस्तु के स्वामी से। स्वामी का अर्थ है 'मालिक' या 'अधिकारी'; इसका प्रत्यक्ष संबंध है उस व्यक्ति से जो कोई वस्तु रखता और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध उस वस्तु से है।[३]

---

१. आचार्य माधव, पराशर-माधवीय, भाग ३, पृ. ३२६
(१) स्वामिनः धनस्वामिनः सम्बन्धः स्वामिसम्बन्धः। स च दायभागप्रकरणोक्तः पुत्रत्वादिरूप एव ग्राह्यः न तु क्रेतुत्वादिः। तेन स्वामिनः सकाशात् क्रीतं धनं न दायः।
(२) सर्वस्यामेवावस्थायां पित्रादिधानं पुत्रादिर्लभते रेति तत्र प्रतिबन्धाभावात् तदप्रतिबन्धोदाय इत्युच्यते। पुत्रादिधनन्तु पित्रादेः सप्रतिबन्धोदायः। तत् पुत्रादौ विद्यमाने तद्धनस्य पित्रोदेर्लव्धमशक्ततया सप्रतिबन्धत्वात्।

२. मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य—११३.२ पर विज्ञानेश्वर की टीका, पृ. २१६ तत्र 'दाय' शब्देन यद्धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते। स च द्विविधः अप्रतिबन्धः सप्रतिबन्धश्च। तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधनं पितामह धनं च स्वं भवतीत्य प्रतिबन्धो दायः। पितृण्य—भात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाभ्यभावे च स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबन्धोदायः। एवं तत्र पुत्रादिष्वप्यूहनीयः।

३. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ. ८३९.

विभाजन काल

विभाजन-सम्बन्धी पुत्र के अधिकार का विकास प्राचीन काल में भी दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन समय में जबकि कुलपति-सत्तात्मक परिवार प्रचलित था पिता का पुत्र पर पूर्ण अधिकार था। उस समय पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता था, परिवार के सभी सदस्यों द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर पिता का ही अधिकार था, तथा स्त्रियों को संपत्ति का कोई अधिकार न था। अपितु ऋग्वेद में स्थल पर यह वर्णित है कि पुत्रों ने पिता की वृद्धावस्था में उनकी सम्पत्ति का विभाग कर लिया।[१]

ऋग्वेद में आया है कि विश्वामित्र ने अपने एक सौ एक पुत्र होते हुए भी शुनःशेप को गोद लिया, उन्होंने अपने पचास पुत्रों को आज्ञा का उल्लंघन करने पर शाप दिया तथा रिक्थ से भी वंचित कर दिया अपितु ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आता है कि पिता के रहते हुए मनु के बड़े भाइयों ने सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने में बांट ली तथा मनु को उस सम्पत्ति से वंचित कर दिया।[२]

स्मृतियों में विभाजन काल इस प्रकार बताया है—कि पिता अपने जीवन काल में ही पुत्रों में दाय का विभाजन करे।[३] पिता के जीवित रहने पर उसकी अनुमति से ही विभाजन होना चाहिए।[४] इससे ज्ञात होता है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त दाय के विभाजन का उचित समय है। इस विषय में देवल का मत है पिता के पुत्रों के स्वत्व में कोई अधिकार नहीं होता। पिता के मर जाने पर भी निर्दोष पुत्रों का सम्पत्ति में अधिकार कहा गया है।[५] याज्ञवल्क्य का मत है कि माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्र दाय तथा ऋणं को परस्पर समान रूप से बांट लें।[६] यह मत

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण—१.१३

२. ऋग्वेद १.७०.५
स हि क्षपावां अग्नी रयीणां दाशयो अस्मा अरं सूक्तेः।

३. आप. धर्मसूत्र—२.६.१४.१
जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं...।

४. बौधायन धर्मसूत्र—२.३.३८ पितुरनुभत्या दाय विभाग सम्पत्ति पितरि।

५. देवल पराशर-माधवीय से उद्धृत, पृ. २२८
पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः।
अस्वाम्यं हि भवेदेषां निर्दोष पितरि स्थिते ॥

६. याज्ञ. स्मृति—११७.२ विभेजरन्सुता पित्रोरुर्ध्वं रिक्थमृणं समम् ॥

भी दृष्टिगोचर होता है—यदि पिता की इच्छा हो तो जीवित रहते हुए पुत्रों में धन विभाजित कर सकता है ।[१]

मनु का भी यही मत है ।[२] कौटिल्य का मत है कि—माता-पिता दोनों या पिता के रहते हुए पुत्र सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते । उनकी मृत्यु के उपरान्त ही आपस में सम्पत्ति का विभाजन कर सकते हैं ।[३]

सम्पत्ति के उत्तराधिकारी

उत्तराधिकारियों की क्रमता के विवेचन से पूर्व विभिन्न प्रकार के पुत्रों की जानकारी आवश्यक है । स्मृति ग्रन्थों में बारह प्रकार के पुत्रों का वर्णन किया गया है ।

१. ओरस—सवर्ण की संस्कारपूर्वक विवाहित पत्नी से उत्पन्न पुत्र 'औरस' कहलाता है ।

२. पुत्रिकापुत्र—पुत्री से उत्पन्न पुत्र को 'पुत्रिकापुत्र' कहते हैं ।

३. क्षेत्रज—जो पुत्र मृत व्यक्ति की, नपुंसक की, रोगी की पत्नी से दूसरे व्यक्ति द्वारा अनुमति दिए जाने पर उत्पन्न किया जाता है, वह 'क्षेत्रज' कहलाता है ।

४. गूढ़ज—जो घर के अन्दर गुप्त रूप से (व्यभिचार द्वारा) उत्पन्न हो तथा जिसका गुप्त रूप से उत्पन्न होने का ज्ञान देर में हो, 'गूढ़ज' कहते हैं ।[४]

---

१. वही—११४.२
विभांचेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ॥

२. मनुस्मृति—१०४.९
उर्ध्व पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।

३. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, १-२.३.५
अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकः पुत्राः ।
तेषामूर्ध्व पितृतो दायविभाग...॥

४. याज्ञवल्क्य पराशर-माधवीय, भाग-२, पृ. ३९
औरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजो गुरुजस्तथा ॥

५. दत्त या दत्तक पुत्र—जो माता पिता द्वारा या उन दोनों में केवल एक द्वारा प्रदत्त होकर पुत्र का स्थान ग्रहण करे, वह 'दत्त पुत्र कहलाता है ।[१] मनु के अनुसार माता या पिता (ग्रहण करने वाले के) सवर्ण जिस पुत्र को आपत्ति काल में प्रेमपूर्वक जल के साथ संकल्प करके देते हैं वह दत्तक पुत्र कहलाता है ।[२]

६. कृत्रिम—जिसके पुत्र बनने की इच्छा को देखकर स्वयं ही पुत्र के रूप में मान लिया जाए, वह कृत्रिम-पुत्र कहलाता है ।

७. अपविद्ध—माता-पिता द्वारा अथवा उनमें से किसी एक द्वारा त्यागे हुए जिस पुत्र को ग्रहण करता है वह 'अपविद्ध' कहलाता है ।'

८. कानीन—अविवाहित कन्या के जो पुत्र उत्पन्न होता है वह पुत्र 'कानीन' कहलाता है ।

९. सहोढ़—विवाह के समय यदि वधू ज्ञात या अज्ञात रूप से गर्भिणी हो, उससे उत्पन्न पुत्र सहोढ़ कहलाता है ।[३]

१०. क्रीत—जो पुत्र माता-पिता के द्वारा धन देकर खरीदा जाता है या उनमें से एक के द्वारा बेचा जाकर पुत्र रूप में ग्रहण किया जाता है ।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१३०.२
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥

२. मनुस्मृति—१६८.९
माता पिता वा दद्यातां यमदिभः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयोदत्रिम सुतः ॥

३. पराशर-माधवीय, भाग-२, पृ. ३८
सदृशन्तु प्रकुर्यादयं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणेयुक्तं स विज्ञेस्तु कृत्रिम् ॥
मातापितृभ्यामुतस्पृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृहीयादपविद्धः स उच्यते ।
पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं विजानीयाद्वोदुः कन्यासमुद्भवम् ॥
या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञाततया सती ।
वोढुः स गर्भोभवति सहोढ़ भवति चोच्यते ॥

११. पौनर्भव—नपुंसक या पतित को छोड़कर अन्य पुरुष से विवाह के पश्चात् जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको पौनर्भव कहते हैं।

१२. स्वयं दत्त—माता और पिता से विहीन होकर जो स्वयं को पुत्र के रूप में देता है उसे 'स्वयं दत्त' कहते हैं।[1]

मनु ने पारशव को ब्राह्मण द्वारा केवल भोगार्थ शूद्रा से उत्पन्न पुत्र माना है।[2]

स्वत्व (स्वामित्व) लोकसिद्ध है कि पुत्र पिता की सम्पत्ति में जन्म से अधिकार रखते हैं अपितु बहुत से लेखकों के मन में, अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में केवल शास्त्रों पर ही निर्भर रहना भी स्वीकार किया है यथा—गौतम ने सभी के लिये स्वतन्त्र के पांच उद्गम या साधन बताये हैं—रिक्थ (वसीयत), क्रय (खरीद), संविभाग (विभाजन), परिग्रह (बलवश ली हुई सम्पत्ति) एवं अधिगम (अनायास गुप्त धन कोष आदि पर अधिकार)।[3] गौतम के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के विषय में क्रम से दान, विजय, कृषिलाभ एवं स्वत्व के अतिरिक्त साधन हैं।[4]

विभाजन में ज्येष्ठ पुत्र का अतिरिक्त अंश—पिता को अपने सभी पुत्रों में सम्पत्ति का समान विभाजन करना चाहिए। प्रायः सभी धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में समान जाति की पत्नियों के पुत्रों में समान दाय भाग का नियम घोषित किया है।[5]

---

१. पराशर-माधवीय से उद्धृत—पृ. ३८, ३९
क्रीणीयादयस्यत्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकाम्।
या पत्या वा परित्यक्ता विधवा या स्वेच्छया॥
उत्पादयेत् पुर्नभूत्वा स पौनर्भवउच्यते।
मातापितृविहीनोयस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्॥
आत्मानं स्पर्शयेदस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः।

२. वही—
यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम्।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात् पारशवः स्मृतः॥

३. गौतम स्मृति—३९.१०
स्वामी ऋक्थक्रयसम्विभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मस्याधिकं लव्धं क्षत्रियस्य विजितं निर्विष्टं वैश्यशूद्रयो इति॥

४. वही.

५. आपस्तम्व धर्मसूत्र—२.६.१४.१
जीवन पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् सम।

कौटिल्य का मत है कि—अपने जीवन काल में पिता को विभाजन में विशेषता प्रकट नहीं करनी चाहिए और न किसी को अकारण वंचित करना चाहिए।[१]

सम्पत्ति में अनधिकार—आचार्य माधव ने इस सम्बन्ध में देवल का मत उद्धृत किया है पतित एवं कर्म करने में असमर्थ पुत्रों का भोजन, वस्त्र आदि देकर भरण-पोषण करना चाहिए, उन्हें सम्पत्ति में कोई अंश न देवे।[२]

देवल के अनुसार उन पुत्रों को जो दोष रहित है पिता के धन में से हिस्सा मिलना चाहिए। उनमें भी जो अपने अंश या स्वयं से उत्पन्न हो, औरस पुत्रों को तथा क्षेत्रज को भी जो नपुंसक नहीं है, तथा दत्तक पुत्रों का पैतृक सम्पत्ति समान भाग होता है।[३]

देवल के मत से दत्तक, क्षेत्रज तथा अन्य पुत्र यदि वे पिता की जाति के हैं तो औरस के उत्पन्न हो जाने से केवल एक-तिहाई का अधिकार पाते हैं, किन्तु यदि वे असमान वर्ण के हैं तो उन्हें केवल (औरस के उत्पन्न हो जाने के उपरान्त) भोजन वस्त्र मिलता है।[४]

अनुलोम जाति की स्त्री से उत्पन्न एक पुत्र को पिता की सम्पत्ति में पूरा हिस्सा मिलता ऐसा देवल का मत है।[५]

बौधायन धर्मसूत्र—२.२.३.३
समशस्सर्वेषमविशेषात् ॥

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र—१५-१६.३.५
जीवद्विभागे पिता नेकं विशेषयेत्।
न चैकमकारणान्निर्विभजेत् ॥

२. देवल—पराशर-माधवीय, पृ. ३६७ भाग-३
पतितस्य भर्तव्यत्वादि नास्तीत्याह-
तेषां पतित वर्जेभ्यो भक्तं वस्त्रं प्रदीयते ॥

३. देवल-पराशर-माधवीय, पृ. ३६७
'तत्पुत्राः पितृदायांशं लभेरन दोषवर्जिताः' निरंशकानां पुत्रा औरसाः क्षेत्रजाश्च क्लैव्यादिदोषवर्जितो भागहारिणोन दत्तकादयः।

४. देवल : धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पी.वी., पृ. ८८५
तेषां षडबन्धुदायादाः पूर्वे न्ये पितुरेव षट्।

५. पराशर-माधवीय, पृ. ३४४
आनुलोभ्येन पुत्रस्तु पितुः सर्वस्वभावभवेत्।

ब्राह्मण के निषाद पुत्र का पिता की सम्पत्ति में तीसरा भाग मिलता है । जोकि दूसरी पीढ़ी के श्रेष्ठ परिवारों के स्वामी द्वारा स्वयं अर्जित धन सम्पत्ति होती है ।[१]

स्त्री धन

स्त्रीधन के विषय में स्मृति-ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । पराशर स्मृति में इस विषय पर कोई चर्चा नहीं की गई है । अपितु पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य-माधव ने अपनी व्याख्या में देवल के इस संदर्भ में दो एक श्लोक अवश्य उद्धृत किये हैं । धर्मसूत्रों के अनुसार स्त्रियों का संपत्ति में अधिकार नहीं होता । इस प्रकार का वर्णन श्रुति में होता है ।[२] मनु के अनुसार स्त्री कभी भी स्वतन्त्र नहीं थी क्योंकि स्त्री की कुमार्यवस्था में पिता रक्षा करता है, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है ।[३]

आपस्तम्ब का मत है कि पति-पत्नी में विभाजन नहीं होता, क्योंकि विवाह के समय से ही सभी कार्यों में वे एक साथ होते हैं, इसी प्रकार पुण्यों के फल में भी समान रूप से अधिकारी होते हैं तथा धनार्जन में भी एक साथ होते हैं ।[४]

मेघातिथि ने तैत्तिरीय संहिता के सन्दर्भ में मनु का मत देते हुए कहा है कि 'पत्नी जो कुछ अर्जित करती है, वह पति का हो जाता है ।' यदि शाब्दिक अर्थ में लिया जाए तो श्रुति-वाक्य असत्य हो जाएगा, वास्तव में मनु का कहने का तात्पर्य

---

१. देवल-पराशर-माधवीय, पृ. ३४४
निषाद एकपुत्रस्तु विप्रस्वस्य तृतीयभाक् ।
दौ सपिण्डः सकुल्यो वा स्वधादाता तु संहरेत् ॥

२. बौधायन धर्मसूत्र—२.२.३.४७
निरिन्द्रिय ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुति ।

३. मनुस्मृति—३.९
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थिविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रयभर्हति ॥

४. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २.६.१४.१६-१९
जायापत्योर्न विभागो विद्यते ॥
पाणिग्रहणादिभ सहत्वं कर्मसु ॥
तथा पुण्यफलेषु ॥ द्रव्यपरिग्रहेषु च ॥

यह है कि 'यद्यपि स्त्रियां स्वामिनी हो सकती हैं, परन्तु स्वतन्त्र रूप से धन व्यय नहीं कर सकतीं ।[१]

स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ है—'स्त्री की सम्पत्ति' । मनु का कथन है कि भाई अपने भाग में से चतुर्थांश भाग अविवाहित बहिनों को देवे ।[२] माता की मृत्यु के उपरान्त सब सहोदर भाई तथा अविवाहित बहनें माता के धन में से बराबर भाग ग्रहण करें ।[३]

याज्ञवल्क्य का मत है कि पिता, माता, पति और भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह में अग्नि के निकट मिला हो, वह स्त्री धन कहलाता है ।[४]

आधिवेदनिक (दूसरा विवाह करते समय पति द्वारा पहली स्त्री के सन्तोष के लिए प्रदत्त) धन इत्यादि स्त्री धन कहे गये हैं । अर्थात् स्त्री के मातृपक्ष एवं पितृपक्ष के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन, शुल्क (जो धन लेकर कन्या दी जाए), और अन्वाधेयक (विवाह के बाद पतिकुल या पितृकुल से प्राप्त धन भी) स्त्रीधन कहलाता है । स्त्री के बिना सन्तान (पुत्री, नाती, नाती के पुत्र आदि) मर जाने पर पति आदि बान्धव स्त्रीधन ग्रहण करते हैं ।[५]

---

१. मनुस्मृति, ४.६८ पर मेधातिथि की टीका
असति वा स्त्रीणां स्वाम्ये पत्यैवा तदनुमतं क्रियते । 'पत्नी' वै पारिणाह्यस्येष्टे' इत्यादि श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः । अत्रोच्यते । पारतन्त्रयविधानमेतत् । असत्यां भर्तुनुज्ञायां न स्त्रीभिः स्वातन्त्रयण यत्र क्वचिद्धनं विनियोक्तव्यम् ।

२. मनुस्मृति—११८.९
स्वेभ्यो शेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदभुर्भ्रातरः पृथक ।

३. वही—१९२.९
जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृंक रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥

४. याज्ञवल्क्य स्मृति—१४३.२
पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाधं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥

५. याज्ञवल्क्य १४४.३
बन्धुदतं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।
अतीतायामप्रजसि बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥

कात्यायन ने मातुल आदि सम्बन्धियों द्वारा विवाह के समय प्रदत्त धन को भी स्त्रीधन के अन्तर्गत रखा है ।[१] बृहस्पति का मत है कि विवाहित पुत्री केवल सम्मान पाती थीं ।[२]

देवल का मत है कि स्त्री का भरण-पोषण, आभूषण, दहेज से प्राप्त धन-सम्पत्ति ही स्त्रीधन होता है । उसका उपयोग एवं उपभोग वह स्वयं करती है । आपतकाल में भी पति उसका उपयोग नहीं कर सकता है । वह स्वेच्छा से उसको उपयोग के लिये दे सकती है ।[३]

कौटिल्य ने भी दो प्रकार का स्त्रीधन कहा है—वृत्ति एवं आबन्ध्य से स्त्रीधन दो प्रकार का होता है ।[४] अर्थात् विवाह के समय तथा विवाह के पश्चात् स्त्री को दिया गया धन—सम्पत्ति ।

मनु ने स्त्रीधन ६ प्रकार का माना है—

१. अध्यग्निः—विवाह एवं अग्नि साक्षित्व के समय, पिता आदि द्वारा दत्त ।

२. अध्यवाहनिक—पिता घर से पति के घर जाते समय दिया गया धन ।

३. पादवन्दंनिक—प्रेम के साथ किसी सुअवसर पर पति आदि द्वारा प्रदत्त ।

४. भ्रातृदत्त—भाई द्वारा दिया गया ।

५. मातृदत्त—माता द्वारा दिया गया ।

६. पितृदत्त—पिता द्वारा दिया गया ।[५]

---

१. पराशर-माधवीय-भाग-३, पृ. ३६८
अध्यग्न्युपागतं विवाहकाले ग्निसन्निधौ मातुलादिभिर्दउम् ॥

२. बृहस्पति स्मृति—३१.२६ अप्रत्ता चेत्मूढ़ा तु लभते मानमात्रम् ।

३. देवलो पि पराशर-माधवीय भाग-३, पृ. ३७५
वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभश्च स्त्रीधनं भवेत् ।
भोक्ती तत् स्वयमेवेदं पतिर्नाहत्यनापदि ॥

४. कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, ३.२.१४-१५
वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम् ।

५. मनुस्मृति—१९४.९
अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्माणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥

विधवा का अपने पति की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा उस सम्पत्ति को सर्वप्रथम ग्रहण करती है।[१]

प्रायः सभी स्मृतियों ने 'स्त्रीधन' इस शब्द को उस प्रकार की सम्पत्ति के विशिष्ट प्रकारों तक सीमित रखा है, जो स्त्री को विशिष्ट अवसरों या जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे ये प्रकार विस्तृत होते गये। आभरण एवं शुल्क तथा लाभ इत्यादि सभी स्त्री धन माने गये अर्थात् दहेज में प्राप्त कन्यादान सभी को देवल ने स्त्रीधन कहा है।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति—१३५.२ तत्र प्रथमं पत्नी भाक्।

सप्तम अध्याय

संगठित समाज के सिद्धान्त

सामान्य रूप से धर्म को आचार-व्यवहार का मूल माना जाता है। और धर्मयुक्त व्यवहार को आचार कहा गया है। धर्म शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है और यह अनेक अर्थों का वाचक बन गया है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से की जाती है जिसका मूल अर्थ धारण करना है। अत: धर्म को प्रजा का धारण करने वाला कहा है।[१]

मनुष्य की उच्चता एवं निम्नता उसके कार्यों, व्यवहार तथा आचरण पर अवलम्बित होती है। जैसे कि स्मृतिकार मनु ने उदात्त नैतिक गुणों को आचार का अंग बनाने योग्य अभीष्ट धर्म कहा है।[२] महाभारतकार ने भी धर्म के इन लक्षणों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।

मनुस्मृति में धर्म के चार आधार बताये गये हैं, जैसे—वेद, स्मृति, सदाचार या सत्पुरुषों का आचरण तथा अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है।[३]

इस प्रकार सर्वप्रथम वेद को ही धर्म का मूल आधार माना है[४] क्योंकि साक्षात् द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने मन्त्रार्थों के मौलिक सिद्धान्तों को समझकर ही वेदांग, ब्राह्मण,

---

१. महाभारत (शान्ति पर्व), ११.११०
धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।

२. मनुस्मृति-२२२,११
अहिंसा सत्यं क्रोधं आर्जवं न समाचरेत् ॥

३. मनुस्मृति-१३,१
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विधः प्राहुः साक्षद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

४. वही-४.२ 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'।

दर्शन, धर्मशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों की रचना की, जिससे मानव, ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को छोड़कर अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकें। अतः सभी स्मृतिग्रन्थों में वर्णों एवं आश्रम धर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों-कर्तव्यों तथा विधानों का वर्णन वेद के आधार पर किया गया है। और धर्म की जिज्ञासा में वेद का नाम प्रमाण माना है।[१]

स्मृतिकार पराशर ने भी मनु के मत का समर्थन किया है। मनु के समान वे भी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं क्योंकि वह अपौरुषेय होने से निभ्रान्त ज्ञान है अतः वह कुतर्कों द्वारा खण्डनीय नहीं है। उनका मत है कि प्रत्येक कल्प में प्रलय होने पर भी सर्वदा श्रुति, स्मृति तथा सदाचार के निर्णेता ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव विद्यमान रहते हैं।[२]

पराशर स्मृति में वेदों का अपौरुषेयत्व भी स्पष्ट किया है जिस प्रकार ब्रह्मा जी स्वयं वेद का स्मरण करके सब वेदों को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार प्रत्येग कल्प की समाप्ति होने पर ब्रह्मा के समान मनु-धर्मों का स्मरण करते हैं।[३]

धर्म का दूसरा मूल स्रोत स्मृति और शील के अर्थात् चारों वेदों के ज्ञाता विद्वानों द्वारा रचित स्मृतियां और उनका श्रेष्ठ गुणसम्पन्न स्वभाव धर्म का आधार माना गया है। इन्हें धर्मशास्त्र कहते हैं।[४]

अतः श्रुति और स्मृति ग्रन्थों की किसी भी अवस्था में आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से धर्म की उत्पत्ति हुई है। वही धर्म के मूलस्रोत हैं तथा जिन

---

१. वही-१३.२
'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति।'

२. पराशर स्मृति-२०,१
कल्पे कल्पे क्षये सत्या ब्रह्मविष्णु महेश्वराः।
श्रुति-स्मृति-सदाचार-निर्णेतारश्च सर्वदा॥

३. वही-२१.१
न कश्चिद् वेदकतां च वेदं स्मृत्वा नतुर्मुखः।
तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरे न्तरे॥

४. मनुस्मृति-१०.२
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्मीमांस्थे ताभ्यां धर्मौ हि निर्वभौ॥

विद्वानों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्मपालनपूर्वक सांगोपांग वेदों का अध्ययन-मनन किया है, वही प्रामाणिक धर्मशास्त्र के प्रणेता हो सकते हैं तथा वही धर्मविषयक संशय में प्रमाण हैं अन्य नहीं ।[१]

धर्म का तीसरा आधार 'सदाचार' है । अर्थत् वेदवेत्ता विद्वानों या शिष्ट पुरुषों का श्रेष्ठ-'सत्याचरण' ही सदाचार है । इसकी पुष्टि मनु ने स्वयं कीः है कि उस ब्रह्मवर्त देश में रहने वाले उन विद्वानों के आचरण को ही सदाचार कहा है जो उस देश में वर्णों एवं आश्रमों का परम्परागत क्रम से पालित आचार है ।[२] यहां परम्परागत से अभिप्राय 'सृष्टिप्रारंभ में वेदों के विधानों से प्रचलित आचरण' से है । क्योंकि वर्णो-आश्रमों की परम्परा और किसी से प्रारम्भ नहीं हुई अपितु वेदों से ही हुई है ।[३] तथा वेदों से ही वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था एवं नामकरण आदि किये गये हैं ।[४]

धर्म का चौथा मूलस्रोत 'आत्मा की संतुष्टि' और 'अपनी आत्मा का प्रिय' कार्य है । अर्थात् यहां पर सभी व्यकियों की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म न होकर एक स्तर विशेष की सीमा तक व्यक्तियों की आत्मा का प्रिय कार्य है । अतः वेदानुकूल आचरण करने वाले सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पवित्रात्मा विद्वानों की उनकी अपनी आत्मा की संतुष्टि, प्रसन्नता और प्रियता के अनुकूल जो कार्य है वही

---

१. मनुस्मृति-१०८,१०९,१२
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति वेद् भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणाः ब्रूयुः स धर्मः स्वादर्शक्तिः ॥
धर्मेमाधिगतो यैस्तु वेदा सपरिबृंहण ।
ते शिष्टा ब्राह्मणाः ज्ञेया श्रुतिप्रत्यक्षहेतव ॥

२. मनुस्मृति-१३७,१
तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमातः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

३. मनुस्मृति-२३.१
अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥

४. वही-३१.१
लोकानां तुविवृद्धयर्थ मुखबाहुरूपादतः ।
ब्राह्मणं क्षेत्रियं वैश्यं शूदं च निरवर्तयत् ॥

धर्म है ।[१] इसी आशय को महाभारत के शान्ति पर्व में प्रतिपादित किया गया है—अपने से बड़ों, बुजुर्गों का सम्मान कर उन्हें प्रणाम करना तथा सम्मानित स्थान में बैठाना उचित है । शिष्ट, बड़ों एवं गुरुजनों का सम्मान करने से मनुष्य दीर्घायु, यश और सम्पत्ति प्राप्त करते हैं ।[२]

धर्म और नैतिक नियमों एवं आचार-व्यवहार के लिए वेद ही प्रमाण माने जाते थे । अपितु जहां कहीं भी श्रुति (वेद) में दो पृथक् आदेश विहित हों, ऐसे स्थलों पर, वे दोनों ही विधान धर्म माने गये हैं विद्वानों ने उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है ।[३] उदाहरण स्वरूप कहा है कि जैसे सूर्योदय के समय और सूर्यास्त के समय किसी भी निर्धारित समय में और सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए इस प्रकार ये दोनों ही धर्म उपयुक्त हैं ।[४] आचार्य माधव ने महर्षि दयानन्द की व्याख्या को भी धर्म माना है अर्थात् जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अथवा मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है ।[५] स्मृतियों में धर्म के सामान्य दस लक्षण निर्धारित किये गये हैं—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौन, इन्द्रिय-निग्रह, घी (बुद्धि) विद्या, सत्य एवं अक्रोध ।[६]

---

१. मनुस्मृति-८.२
सर्वतु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत् ॥

२. महाभारत (शान्ति पर्व)
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
नत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

३. मनुस्मृति, १३३.१
श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्त्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तो धर्मों सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

४. वही-१३४.१
उदिते नुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥

५. पराशर माधव से उद्धृत, पृ० ४९ (आ० का०)
यतो भ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धमः ।

६. मनुस्मृति-९२.६
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राःसमधीयते । अधीत्य नानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥

आचार व्यवहार के संबंध में स्मृतिकार देवल ने भी नैतिक कर्तव्यों को सर्वोपरि माना है । उनका कथन है कि जो धर्म या आचरण अपने प्रतिकूल हो, उसे दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए । अर्थात् जो बात हमें दु:ख देती हो, उसका हमें अन्यों के साथ आचरण नहीं करना चाहिए ।[१]

जहां पर श्रुति विधानों में परस्पर विरोध होता है वहां पर मन्वादि के वाक्य धर्म का आधार या प्रमाण माने जाते हैं । जैसा कि गौतम स्मृति में तुल्य बल के विरोध में स्मृति विकल्प का विधान किया गया है ।[२] और जहां पर श्रुति (वेद) तथा स्मृति (धर्मशास्त्र) के विधानों का बाघ मिलता हो, वहां पर परस्पर श्रुति को ही प्रमुखता दी गई है ।[३]अभिप्राय यही है श्रुति ग्रन्थों के पश्चात् ग्रन्थों को ही प्रामाणिक माना जाता था ।

जिस आचार धर्म के संबंद में श्रुति एवं स्मृति प्रमाणों का अभाव होता है उसके अभाव में 'शिष्टाचार' अथवा सदाचार को प्रमाण या आधार माना जाता है । स्मृतिकार वसिष्ठ ने इस संबंध में कहा है कि जो धर्म शास्त्रों में नहीं मिलता है, तो उसके अभाव में सज्जनों का आचरण ही प्रमाणिक होता है ।[४]

स्मृतिकार मनु ने वेदविहित आचरण को ही 'सदाचार' कहा है । यहां पर उस देश से तात्पर्य 'ब्रह्मर्षि देश' से है । उस देश में ब्राह्मण आदि और अम्बष्ठ रथकार आदि वर्ण संकर जातियों का कुलपरम्परागत जो आचार है, वही 'सदाचार' कहा जाता है ।[५]

---

१. देवल कृत्यरत्नाकर से उद्धृत—
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

२. गौतम स्मृति, १.१
वेदों धर्ममूलं तद्विदा न स्मृति शीले दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः ।
साहस च महतां न तु दृष्टो र्धोवरदोर्बल्यात्तुल्यबल विरोधविकल्पः ॥

३. स्मृतिचन्द्रिका से उद्धृत, पृ० १६ (संस्कार-काण्ड)
श्रुति स्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
अविरोधे सदा कार्य स्मार्त वैदिकवत्सदा ॥

४. वसिष्ठ स्मृति-१.१ तदभावे शिष्टाचारः प्रमाणम् ।

५. मनुस्मृति, १८.२
तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमः गतः ।
वर्णानां सान्तरलानां स सदाचार उच्यते ॥

पराशर स्मृति में धर्म और नैतिक नियमों के वेदवित् या वेदज्ञ के कथन ही प्रमाण माने गये हैं।[१] इसीलिये सदाचार सम्पन्न दरिद्र को भी अन्यों से श्रेष्ठ माना गया है और आचार को ही परम धर्म स्वीकार किया गया है।[२]

पराशर स्मृति के अनुसार चारों वर्णों का धर्म आचार में परिनिष्ठित होता है क्योंकि आचार हीन मनुष्यों से धर्म भी दूर ही रहता है।[३]

अनुशासन पर्व में कहा गया है कि दुराचारी व्यक्ति को सुख की प्राप्ति नहीं होती है और शीघ्र ही वह नष्ट हो जाता है।[४] मनु स्मृति में नैतिकता सहित धर्म-संचय को स्वीकृति दी गई है।[५]

'सदाचार' नामक धर्म के लक्षण का जहां बाध होता है या उसका अभाव होता है वहां पर 'देशनिर्णय' या स्थान विशेष की परम्परायें ही धर्म का आधार मानी जाती हैं।[६] स्मृतिकार मनु ने ब्रह्मावर्त देश की सीमा का निर्देश किया है—देव अर्थात् दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और दृषट्वती नदी प्रदेशों के बीच का जो स्थान है वह 'ब्रह्मवर्त' देश कहा जाता है।[७]

---

१. पराशर स्मृति-२९८
ये पठन्ति द्विजा वेदं प चयज्ञरताश्च ये।
त्रैलोक्यं तारयन्त्यैव प चेन्द्रियरता अपि॥

२. मनुस्मृति-१०८.१
आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्त स्मार्त एव च।

३. पराशर स्मृति-३७.१
नतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्ट देहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः॥

४. महाभारत (अनुशासन पव),७.१४७
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
ग्रसन्ति चास्य भूतानि तथा परिभवन्ति च॥

५. मनुस्मृति, २४२.४
तस्मात् धर्म सहायार्थ नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥

६. स्मृतिचन्द्रिका (स० कां०) देशनिर्णय, पृ० १७
श्रुत्यादिबलाबलनिर्णयः देश निर्णीयः।

७. मनुस्मृति-१३६.१
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं दैवनिर्मितं देशं ब्रह्मवर्त प्रचक्षते॥

धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में वैदिक धर्म के अनुयायियों के देश या क्षेत्र आर्यावर्त के विषय में अनेकश: चर्चा प्राप्त होती है। ऋग्वेद के अनुसार आर्य-संस्कृति का केन्द्र 'सप्तसिन्धु' प्रदेश अर्थात् आज का उत्तर-पश्चिमी भारत एवं पंजाब था। (२.१५.६)

सोद चं सिन्धुमरिणान्महित्वा वज्रेणान उषस: सं पिपेष।

अजवसो जविनीमिर्विवृश्चन्त्सोमस्य ता मद इन्द्रश्नकार॥

ब्राह्मणों के युग में आर्य-क्रिया-कलापों एवं संस्कृति का केन्द्र कुरु-पञ्चाल एवं कोसल-विदेह तक बढ़ गया था क्योंकि शतपथ ब्राह्ण के मत में कुरु-पञ्चालों की भाषा या बोली सर्वोत्तम थी।[१] मनुस्मृति में भी कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन को मिलाकर 'ब्रह्मर्षिदेश' कहा है। और इसे ब्रह्मवर्त से थोड़ा कम पवित्र माना है।[२] उनके मत से हिमालय एवं विन्ध्य के मध्य में और विनशन (सरस्वती) के पूर्व में एवं प्रयाग के पश्चिम का देश मध्यदेश है।[३]

स्मृतिकार वसिष्ठ ने आर्यावर्त देश के लिए कहा है कि जो हिमालय एवं विन्ध्य के मध्य में है, जो पूर्व-पश्चिम में समुद्र से घिरा हुआ है, तथा जहां कृष्ण मृग स्वाभाविकता विचरण करते हैं।[४] इन उपरोक्त देशों के अतिरिक्त अन्य देश 'म्लेच्छदेश' कहे जाते हैं। मनु ने तीन उच्च वर्णों के मनुष्यों को ब्रह्मवर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त आदि देशों में रहने की सलाह दी है। उनके मतानुसार

---

१. शतपथ-ब्राह्मण-३.२.३.१५१
तस्मादत्रोत्तरा हि वाग्वदति कुरुप वाला।

२. मनुस्मृति-१९.२
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च प चाला: शूरसेनका:।
एष ब्रर्ष्दिेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तर:॥

३. वही—३५.२
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाश्च मध्यदेश: प्रकीर्तित:॥

४. वसिष्ठ स्मृति-२.१
दक्षिणेण हिमवत उतरेण विंधध्यस्य ये धर्मा ये चाचारास्ते सर्वे प्रत्येतव्या: न ह्यन्ये प्रतिलोक कल्पधर्मा:। एतदार्यावर्तमित्याचक्षते। गंगा यमुनयोरंतराप्येके। यावद्वा कृष्णमृगो विचरति तावद्ब्रह्मवर्चसमिति।

आपत्काल में शूद्र वर्ण के लोग कहीं भी रह सकते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विन्ध्य के दक्षिण की भूमि आर्य संस्कृति से अछूती थी।

बोधायन धर्मसूत्र के अनुसार (१.१.२.१३-१५) कलिंग, पंजाब, सिन्ध उत्तरी बंगाल और पश्चिमी बंगाल में जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए।[१] तथा उनका यह भी मत है कि अवन्ति, अंग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिन्धु एवं सौवीर देश के लोग शुद्ध आर्य नहीं हैं।[२] इसके अलावा कहा गया है कि जो आरट्टक, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, अंग, वंग, कलिंग इत्यादि को जाता है। उसे सर्वपृष्ठनामक यज्ञ करना पड़ता है।[३]

स्मृतिकार देवल ने निम्न प्रदेशों को म्लेच्छ घोषित किया है। जिससे पता चलता है कि सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, म्लेच्छ देश, अंग-वंग, कलिंग एवं आन्ध्र देश में जाने वाले को उपनयन संस्कार कराना पड़ता था।[४] किन्तु ज्यों-ज्यों आर्य-संस्कृति का प्रसार चतुर्दिक होता गया, ऐसी धारणायें निर्मूल होती गई और सम्पूर्ण देश सबके योग्य समझा जाने लगा। वैदिक धर्म जहां तक परिव्याप्त है, उस भूमि को विशेषत: पुराणों में भरतवर्ष या भारतवर्ष कहा गया है। विष्णु पुराण में यही उल्लेख है कि भारतवर्ष के पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में समुद्र एवं उत्तर में हिमालय है।[५]

---

१. हिन्दू सभ्यता—मुकर्जी राधा कुमुद, पृ० १४३.

२. धर्मशास्त्र का इतिहासः काणे, पी० वी०, पृ० १०७

३. बौधायन धर्मसूत्र, १.१.२.१५-१६
आरट्टान् कारस्कान् पुण्ड्रान् सौवीरान् बंगान
कलिङ्गना प्रानूनानिति
न गत्वा पुनस्तोभेन यजेत सर्वपृष्ट्या वा ॥
पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः ॥

४. देवल स्मृति-१६
सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रं तथा प्रत्यन्तवासिनः।
कलिङ्गकोङ्कणान्वङ्गान्गत्वा संस्कारमर्हति ॥

५. विष्णु-पुराण-२.३.१
क्षीरोदेन यथा द्वीपो जम्बूसंज्ञो भिवेष्टितः ॥
संवेष्ट्य क्षारमुदधिं पृक्षद्वीपस्तथा स्थितः ॥

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने धर्म के निम्न प्रमाण माने हैं—वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपने आत्मा के अनुकूल कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा शक्ति—ये सब धर्म का आधार है ।[१]

प्राय: स्मृति ग्रन्थों में धर्म, अर्थ और काम—त्रिवर्ग को ही श्रेयस्कर माना गया है ।[२] तथा धर्म विरुद्ध अर्थ और काम के त्याग का निर्देश किया गया है ।[३] पराशर स्मृति का कथन है कि विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न धर्म माने गये हैं जैसे—कृतयुग के धर्म अन्य हैं, त्रेता के धर्म भी भिन्न हैं, और द्वापर के भी पृथक हैं । अत: युगानुसार कलियुग के धर्म अन्य हैं ।[४] मनुस्मृति में भी कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है कि सत्युग में तप प्रधान था, त्रेता में आत्मज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में दान ही श्रेष्ठ फलदायक है ।[५] इससे स्पष्ट है कि युगानुसार नैतिक मूल्य परिवर्तित होते हैं और युग के अनुरूप ही धर्म भी होता है ।[६]

स्मृतियों में कहा गया है : सत्य और प्रिय बोलना चाहिए ।[७]असत्यभाषण द्वारा आत्मा का तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह साक्षी है । सत्यवक्ता की ही प्रतिष्ठा होती है ।[८]असत्य भाषण के अपवाद स्थल भी बताये गये हैं—जैसे

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति-८.१
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

२. मनुस्मृति-२२४.२ श्रेयस्त्रिवर्ग तु स्थितिः ।

३. वही-१७६.४
परित्यजेदर्थकामो यो स्यातां धर्म वर्जितो ।

४. पराशर-स्मृति-२२.१
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगारूपानुसारतः ॥

५. मनुस्मृति-८६.१
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥

६. पराशर स्मृति-२२.१

७. मनुस्मृति-१३८.४ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्.... ।

८. वही-८१,८५८ सत्यं.... स्वस्येवान्तरपुरुषः ।

विवाह के समय में, रतिकाल में, प्राण संकट काल में, समस्त धन के अपहरण के अवसर पर तथा ब्राह्मण की रक्षा के लिए झूठ बोला जा सकता है ।[१]

आपस्तम्ब स्मृति में इन्द्रिय-संयम से सिद्धि मिलने की बात कही गयी है । अतः आत्मसंयम महत्वपूर्ण है ।[२] आततायी की हिंसा करने में दोष नहीं है ।[३] सन्तोष, यम-नियम आदि की भी प्रशंसा हुई है ।[४] दान का महत्व भी सभी स्मृतियों में वर्णित है । तथा प्रत्येक स्थिति में अतिथि सत्कार को मूल्यवान माना गया है ।

स्मृतिकार पराशर ने अतिथि सत्कार को महत्वपूर्ण कहा है । उनके अनुसार षट्कर्म में लगा रहने वाला, नित्य वैश्वदेव का पूजन एवं अतिथि का सम्मान और हवन से अवशिष्ट अन्न का भोजन करने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ जीवन जीता है ।[५] महाभारत के शान्तिपर्व में भी अतिथि-सत्कार, यज्ञ, परोपकार आदि समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों को विशेष रूप से उल्लिखित किया है ।[६]

वैश्व देव का अर्थ है देवताओं को पकवान्न देना । जबकि कुछ मध्यकालिक ग्रन्थों यथा स्मृत्यर्थसार एवं पराशर माधवीय के अनुसार वैश्वदेव का तात्पर्य है प्रतिदिन के लिए तीन यज्ञ, अर्थात् देव यज्ञ, भूत यज्ञ एवं पितृ यज्ञ इत्यादि का

---

१. वसिष्ठ स्मृति-३५५.१६
उद्वाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणापत्यये सर्वधनापहरे ।
विप्रस्य नार्थे ह्यनृतं वदेयुः पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥

२. आपस्तम्ब स्मृति-३.१०
न यमं यममित्याहुरात्मा वै यम उच्यते ।
आत्मा संयमितो येन तं यमः किं करिष्यति ॥

३. वसिष्ठ स्मृति-१२९.३
आततायिन मायान्तमपि वेदान्तपारमम् ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तैन ब्रह्म हा भवेत् ।

४. अत्रि स्मृति-१७.३
सर्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम् ।
हाटकक्षितिधेनूनां सप्तजन्मानुगं फलम् ॥

५. पराशर स्मृति-३८.१
षट्कर्माभिरंतो नित्य देवता तिथिपूजकः ।
हुतशेषं तु भु जानो ब्राह्मणो नावसीदति ॥

६. महाभारत (शान्तिपर्व) २५,२८.२४३

सम्पादन करना है,[१] इसे वैश्वदेव इसलिए कहा गया है कि इस कृत्य में सभी देवताओं की आहूतियां दी जाती हैं, या इस कृत्य में सभी देवताओं के लिए भोजन पकाया जाता है।[२]

दक्ष स्मृति में वैश्वदेव की व्यवस्था की है कि दिन के पांचवें भाग में गृहस्थ को अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों यहां तक कि कीड़े-मकोड़ों को भी भोजन देना चाहिए।[३] मनुस्मृति के टीकाकार मेघातिथि एवं अपरार्क के मत से वैश्वदेव बलि यदि सुरक्षित हों तो गृह्याग्नि में, नहीं तो लौकिक अग्नि में देनी चाहिए, यदि अग्नि न हो तो इसे जल में या पृथिवी पर छोड़ देना चाहिए।[४] अतः सभी प्राचीन स्मृतियों में ऐसा विधान है कि वैश्वदेव प्रातः एवं सायं दोनों बार करना चाहिए, किन्तु कालान्तर में प्रातः की ही परम्परा रह गयी और संकल्प में दोनों कालों को एक में बांध दिया गया।

याज्ञवल्क्य की व्याख्या मिताक्षरा ने वैश्वदेव को पुरुषार्थ माना है।[५] पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव को भी उपरोक्त मत अभीष्ट है।[६]

---

१. पराशर-माधवीय से उद्धृत, पृ० ३३७ (अ० का०)
तस्मात् वैश्वदेवं प्रथमं कर्तव्यम्। एव न एति, वेद पाठो प्यनुग्रहीतो-भवतिः—दैवयज्ञः, पितृयज्ञोभूतयज्ञो मनुष्य यज्ञो ब्रह्म यज्ञः।

२. पराशर-माधवीय से उद्धृत, पृ० ३४५ (आ० का०)
त एते देवयज्ञ-भूत यज्ञ-पितृयज्ञशास्त्रयो पि वैश्वदेवशब्देनोच्यन्ते। यत्र विशवेदेवान इज्यन्ते तत् वैश्वदेविकं कर्म। देव यज्ञे न एतन्नाम मूख्यम्। पितृयज्ञे तु छत्रिन्यायेन।

३. दक्ष स्मृति-५६.२
पञ्चमं न तथा भागे संविभागो यथा र्हतः।
पितृ देव मनुष्यानां कीटानां चोपदिश्यते॥

४. धर्मशास्त्र का इतिहास : काणे, पी० वी०, पृ० ४०४

५. याज्ञवल्क्य स्मृति-१०३.१
वैश्वदेव कर्मणः, पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवकर्मार्थता द्रव्येस्येति परस्परविरोधा पुरुषार्थत्वमेव युक्तम्।

६. पराशर-माधवीय-पृ० ३४५
यद्यपि, 'सायं प्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्'—इति वचनेन वैश्वदेवस्यान्न-संस्कारता प्रतीयते, तथापि पुरुषार्थत्वमेवाभ्युपेयम्।

अतिथि का सत्कार या सम्मान का तात्पर्य है मनुष्ययज्ञ । मनुस्मृति के अनुसार वह विद्वान जो एक रात्रि के लिए पराये घर में रहे, उसे अतिथि कहा गया है । क्योंकि वह नित्य नहीं ठहरता है । अथवा जिसका आना अनिश्चित होता है, वह अतिथि कहलाता है ।[१]

स्मृतिकार पराशर ने अतिथि की व्युत्पत्ति की है कि दूर दूर से आने वाला, थका हुआ, बलिवेश्वदेव के समय में उपस्थित, कभी पहले अतिथि के रूप में न आया हुआ जो व्यक्ति है, उसे अतिथि समझना चाहिए ।[२] उसकी परिभाषा में कहा है कि एक ग्राम में रहने वाला अतिथि नहीं हो सकता क्योंकि जो कभी नहीं आया है, उसे अतिथि माना गया है ।[३] अतः अन्य सभी स्मृतिकारों के मत से अतिथि वह है जो पूरे दिन नहीं रुकता है या वह व्यक्ति जो रात्रि के लिए रुकता है ।[४]

पराशर स्मृति में अतिथि-सत्कार के नियम भी बताये गये हैं—अतिथि के घर आने पर—आगे बढ़कर स्वागत करना, आसन प्रदान करना, पैर धोने के लिए जल देना, भोजन एवं ठहरने की व्यवस्था करना, व्यक्तिगत ध्यान देना, मधुर वचन बोलना तत्पश्चात् उसके लौटते समय कुछ दूर तक साथ चलकर प्रीति उत्पन्न करे ।[५]

---

१. मनुस्मृति, १०२.३
एकरात्रं तु निवसन्नतिथिब्राह्मणः स्मृताः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्माद तिथि रुच्यते ॥

२. पराशर स्मृति-४२.१
दूराच्योपगतं श्रान्तं वैश्वदेव उपस्थितम् ।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः ॥

३. वही-४२.१
नैकग्रामीणमतिथिं संगृहणीत् कदाचन ।
अनित्यमागतो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

४. मनुस्मृति-१०२.३
एकरात्रं हि निवसन् ब्राह्मणो ह्यतिथिः स्मृतः ।
अनित्यास्य स्थितिर्यस्मातस्मादतिथिरुच्यते ॥

५. पराशर-स्मृति-४३,४४.१
अतिथिं तत्र सम्प्राप्तं पूजयेत्स्वागतादिना ।
तथासनप्रदानेन पादप्रक्षालेन च ।

इसके अतिरिक्त अतिथि सत्कार की गौतम स्मृति, आपस्तम्ब धर्म सूत्र, मनुस्मृति, दक्षस्मृति, वनपर्व एलं अनुशासन पर्वादि में प्रभूत चर्चा मिलती है ।

पराशर स्मृति में प्रमुख रूप से ब्रह्मचारी एवं यति को सत्कार देने का विधान मिलता है । इन्हें बिना भोजन दिये खा लेने पर चान्द्रायण प्रायश्चित्त करने पर ही छुटकारा मिलता है । यदि कोई संन्यासी घर आये तो उसे जल, भोजन और पुनः जल देना चाहिए ।[१]

पराशर स्मृति में उन द्विजातियों की निन्दा की गई है जो बलिवैश्वदेव न करके स्वयं भोजन करते हैं । उनके अन्न का निषेध किया गया है क्योंकि वे सब अधम ब्राह्मण 'काकयोनि' को प्राप्त होते हैं ।[२]

स्मृति-ग्रन्थों के ये नैतिक निर्देश स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था तो थी, किन्तु सामाजिक और राजकीय व्यवस्थाओं में व्यापक परिवर्तन हो जाने के कारण उनका पूर्णतः पालन सम्भव नहीं रह गया था । व्यक्ति-जीवन में स्त्रीपुरुष सम्बन्ध बदल गये थे, पारिवारिक जीवन में अर्थव्यवस्था और उत्तराधिकार की व्यवस्था बदल गयी थी, सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम-धर्म के अनुकूल नहीं चल रही थी तथा राष्ट्र-व्यवस्था में राजा को ही सदाचार सम्पन्न मानने का आग्रह था, क्योंकि जनता उसी का अनुसरण कर सकती थी। ब्राह्णों का सम्मान जनसामान्य की अपेक्षा इसलिए अधिक था कि नैतिकता के गुण उनके लिए आवश्यक थे । ये सब तथ्य बहुत स्पष्टता से सामने उभर कर आते हैं—अतिथि-सत्कार तथा दान देना । ये दोनों तथ्य नैतिकता की दृष्टि से समाज में आदरणीय थे और इनको साधारण व्यक्ति भी कर सकता था । वस्तुतः सामाजिक जीवन में

श्रद्धयां नान्नदानेन प्रियप्रश्नोत्तरेण च ।
गच्छतश्चानुयानेन प्रीतिमुत्पादयेद् गृही ॥

१. पराशर स्मृति-५१,५२.१
यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ ।
तयोरन्नमदत्वा च भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
यति हस्ते जलं दद्यात् भेक्षं दद्यात् पुनर्जलम् ।

२. वही-५६.१
अकृत्वा वैश्वदेवं तु ये भु जन्ते द्विजातयः।
तेषामन्नन न भु जीत काकयोनिं व्रजन्ति ते ॥

ये दोनों ही कीर्तिप्रदायक जीवन मूल्य थे और सदाचार से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

प्रायश्चित्त सामाजिक अपराधों के संदर्भ में

'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय: चित्त पदों से समास में सट् आगम् के योग से बना है।[१] अर्थात् जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्तव्य कार्य को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप या कष्ट सहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुन: मैं यह पाप नहीं करूंगा।[२]

वैसे अधिकांश निबन्धों एवं टीकाओं ने प्रायश्चित की व्युत्पत्ति 'प्राय' (तप) एवं 'नित्त' (अर्थात् निश्चय) से की है। तात्पर्य यह है कि तप का निश्चय के साथ संयुक्त होना ही प्रायश्चित कहलाता है।[३] अन्य विद्वानों ने प्रायश्चित्त का अर्थ इस प्रकार दिया है। बालम्भट्टी के मतानुसार 'प्राय' का अर्थ है 'पाप' और 'नित्त' का अर्थ है—शोधन अत: प्रायश्चित्त वह हुआ जो नष्ट हो गया है, उसकी पूर्ति। इस प्रकार यह पाप क्षय के लिए नैमित्तिक कार्य हुआ।[४]

हारीत का मत है कि जिस शास्त्र विधि के अनुसार अनुष्ठान करने से संचित अथवा उत्पन्न अशुभ का नाश हो जाए, उसे प्रायश्चित कहते हैं।[५]

---

१. अष्टाध्यायी, पाणिनि (६.१.१५७)

२. वही—तपादि साधन पूर्वकं किल्विषनिवारणार्थ चिंतम्-निश्चयम्, प्रायश्चित्तम्।

३. उत्तरांगिरस्-१.४
प्रायो नाम तप: प्रोक्तं चितं-निश्चय उच्यते।
तपो निश्चयसंयोगात्प्रायश्चितमिति स्मृतम्॥
निश्चयत्य तमस्रो नुष्ठानं प्रायश्चित्तम्।
गौतम धर्म सूत्र २२.१ पर हरदत्त की टीका.

४. बालम्भट्टी, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, मनु इत्यादि। तदुक्तम्। प्राय: पापं विर्निष्ट नितं तस्य विशोधनं इति। न तुर्विशति मते प्येवम्। तथा पाप निवर्तनक्षमधमविशेषे योगरूढोयं शब्द इति तत्वम्।
याज्ञवल्क्य स्मृति, २०६.३ पर बालंभट्टी की टीका

५. हारीत (प्रायश्चित्त कदम्ब से उद्धृत) पृ० १
प्रयतत्वाद्वोपचिमशुभं नाशयतीति प्रायश्चित्तम्।

पराशर माधवीय के अनुसार प्रायश्चित्त वह है जिसके द्वारा अनुताप या पश्चात्ताप करने वाले पापी का नित सामान्यतः पर्षद एवं विद्वान ब्राह्मणों की सभा द्वारा विषम के स्थान पर सम कर दिया जाता है अर्थात् साधारण स्थिति में कर दिया जाता है ।[१]

आचार्य माधव ने प्रायश्चित्त की एक अन्य व्युत्पत्ति भी दी है । 'प्रायः' शब्द 'प्र' एवं 'अयः' से बना है, और इसका अर्थ है जो विहित है उसके न सम्पादन करने की घटना या जानकारी और 'नित्त' का अर्थ 'ज्ञान' है, अतः किसी विशिष्ट घटना की जानकारी के उपरान्त धार्मिक कृत्यों का पालन प्रायश्चित्त है ।[२]

पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव को याज्ञवल्क्य का मत अभीष्ट है अतः उनका मत है कि प्रायश्चित्त जानबूझ कर किये गये पापों को नष्ट नहीं करते, अपितु प्रायश्चित्त कर लेने से, अन्य लोगों के संसर्ग में आ जाने के योग्य हो जाता है । अर्थात् याज्ञवल्क्य का तात्पर्य यह है कि जान-बूझकर अथवा ज्ञानपूर्वक किये गये पापों के फलों से (पापी को) या दोषी को मुक्ति नहीं मिलती है ।[३] यदि पापकर्मों में निरत रहने वाले मनुष्य प्रायश्चित्त नहीं करते हैं, तो वे अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय नरकों में जाते हैं ।[४] यही बात मनु ने भी कही है कि प्रायश्चित्त न करने वाले पापियों से सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखने चाहिए ।[५]

---

१. पराशर माधव-पृ० ३ (प्रा० का०)
प्रायशश्च समं नित्तं नारयित्वा प्रदीयते ।
पर्षदा कार्यते य्तु प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥

२. पराशर माधव-पृ० ३ (प्रा० का०)
पापिनोनुतापिश्च नितं व्याकुलं सद विषमं भवति तच्च पर्षदा येन व्रतानुष्ठानेन प्रायशो वश्यं समं कार्यते तद् व्रतं प्रायश्चित्तम् । व्रतं चारयित्वा चित्तवैषम्यनिमितं पापं प्रक्षयते खण्ड्यते विनाश्यते इत्यर्थ ।

३. याज्ञवल्क्य स्मृति-२२१.३
प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ।
अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दारुणान् ॥

४. वही-२२२-२२५,३ तामिस्त्रं.... नराधमाः ॥

५. मनुस्मृति-१८९.११
एनस्विभिरनिर्णिक्तोर्नार्थं किंचित्सहाचरेत् ।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में पातकी व्यक्ति की शुद्धि की व्यवस्था दी गई है। जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है तब उसका अन्तरात्मा पूर्व-स्थिति को प्राप्त कर लेता है और अन्य लोग भी प्रसन्न हो जाते हैं।[१]

अतः सभी स्मृतियों में प्रायंश्चित्त का अभिप्राय: शुद्धिकरण, पापी के मन को सन्तोष एवं लोगों से संसर्ग स्थापन इत्यादि माना गया है।[२]

'प्रायश्चित्त' शब्द रूढ़ रूप से उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे 'नैमित्तिक' कहा जाता है, अर्थात् इसका उपयोग तभी होता है जबकि उसके लिए कोई अवसर उपस्थित होता है, यह पाप-नाश के लिए भी प्रयुक्त होता है अत: यह काम्य भी है।[३] स्मृतिकार बृहस्पति ने प्रायश्चित्त को 'नैमित्तिक' कर्म माना है। जिसमें विहित कर्म का अनुष्ठान हो तथा निषिद्ध या वर्जनीय का निषेध किया गया हो, और जो धर्म से उत्पन्न होता है वह नैमित्तिक प्रायश्चित्त कहलाता है।[४] यही बात याज्ञवल्क्य को अभीष्ट है वहां भी नित्य, नैमित्तिक आदि विहित कर्मों के न करने से तथा सुरापान आदि निषिद्ध कर्मों के करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य पतित हो जाता है। इसीलिए मनुष्य की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त अनिवार्य है उसके करने से उसकी अन्तरात्मा और लोक सभी प्रसन्न होते हैं।[५] क्योंकि शास्त्र में विहित कर्मों संध्योपासन, यज्ञादि को न करने पर तथा शास्त्र में निन्दित माने गये कार्यों से धन-संग्रह, मद्यपान, हिंसा आदि को करने पर और इन्द्रियों में आसक्त होने या काम, क्रोध, मोह में फंसने पर मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य हो जाता है।[६]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति-२२०.३
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति॥

२. पराशर माधव से उद्धृत, पृ० २०१ (भाग-२)

३. वही, पृ० ३
प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषरूढः।

४. याज्ञवल्क्य स्मृति-२१९,३
विहितस्याननुष्ठानात् निन्दितस्यः निषेवनात्॥

५. वही-२१९.३

६. मनुस्मृति-४४.११
अकुर्वनन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रायश्चित्त का सम्बन्ध नित्य एवं काम्य दोनों प्रकार के कर्मों से है ।[१]

मनु, याज्ञवल्क्य एवं बृहस्पति आदि स्मृतियों के अनुसार पाप दो प्रकार के कहे गये हैं—(१) काम कृत अर्थात् जो कर्म जान-बूझकर किया जाय तथा (२) अकाम कृत अर्थात् जो यों ही बिना जाने बूझे या अनजाने में हो जाय ।[२]

प्रायश्चित्त के विषय में शंका उत्पन्न होती है कि प्रायश्चित्त करंना चाहिए या नहीं करना चाहिए । कुछ स्मृतिकारों का मत है कि प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्त करने से कर्म नष्ट नहीं होते, किन्तु सिद्धान्त यही है कि प्रायश्चित्त करना चाहिए । इस सम्बन्ध में आचार्य माधव ने मनु को उद्धृत किया है कि वेदों का अभ्यास न करने से और सदाचार को छोड़ देने से, आलस्य के कारण या फिर अन्न दोष के कारण मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करते हैं ।[३] अर्थात् कुछ विद्वानों के मतानुसार वेदों के संकेत से जानबूझकर किये गये पापों के शमनार्थ प्रायश्चित्त किये जा सकते हैं ।[४]

श्रुति से तात्पर्य है कि 'एक बार इन्द्र ने जान-बूझ कर यतियों को कुत्तों को दे दिया फिर अश्लील वाणी ने आकर उनको कहा तो वे प्रजापति के पास गये, प्रजापति ने उन्हें 'अपहव्य' नामक कर्म को प्रायश्चित्त के लिए कहा अर्थात् मनु के अनुसार स्पष्ट हो जाता है कि अनजाने में किये गये पापों का शमन वेदवचनों के पाठ से हो

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति-२२६.३
प्रायश्चित्तेरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥

२. मनुस्मृति-४५.११
अकामतः कृते पापं प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकार कृते च्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥

३. वही-४.५
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य महषीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दाषेण मृत्युर्विप्रा जघांसति ॥

४. मनुस्मृति-४५.११
कामकारकृते प्याहुरेके श्रुति निर्दशनात् ।

जाता है अपितु जान-बूझकर किये गये पाप विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों से ही नष्ट किये जाते हैं।[१]

पराशर स्मृति के टीकाकार आचार्य माधव के अनुसार ज्ञानपूर्वक किये गये पापों या उपपातकों, आत्महत्या अथवा हत्या करने के प्रयत्न के पापों के फलों से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।[२]

प्रायश्चित्त की सामर्थ्य के विषय में वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति अश्वमेध करता है वह सब पापों को पार कर जाता है, और जो दूसरे पर महापातक मढ़ता है, वह अग्निष्टुत करता है।[३]

काम्य दोषों के सम्बन्ध में आचार्य माधव ने स्पष्ट किया है कि इन्द्रिय विषयों अर्थात् काम, क्रोध, मोह में अत्यन्त आसक्त होने पर जो निन्दित कर्म किये जाते हैं वे सभी काम्य कर्म कहलाते हैं।[४]

इस प्रकार कर्म के तीन प्रकार गिनाये गये हैं—मित्य, नैमित्तिक एवं काम्य।

१. नित्य वह है जो प्रतिदिन किया जाता है, यथा—संध्यावंदन और जिसके न करने से पाप लगता है।

२. नैमित्तिक वह है जो विशेष अवसर पर ही किया जाता है, यथा—ग्रहण के समय या तीर्थ यात्रा के समय इत्यादि।

३. काम्य वह है जो इच्छा की पूर्ति के लिए सम्पादित किया जाता है, यथा-पुत्र के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ इत्यादि।[५]

---

१. वही:४६.११
अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥

२. धर्मशास्त्र का इतिहास : काणे, पी० वी०, पृ० १०४६

३. वसिष्ठ-स्मृति १,२.२०
अनभिसन्धिकृते प्रायश्चित्तमपराधे।
अभिसन्धिकृतेप्येके।

४. पराशर माधव से उद्धृत, पृ० ८ (भाग २)
'इन्द्रायार्थेषु सर्व्वेषु न प्रसज्येत् कामतः'-इति

५. वही, भाग २, पृ० ७८

विष्णु स्मृति में, वे दोष अनेक प्रकार के बताये हैं—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक इत्यादि ।[१]

कात्यायन ने इन दुष्कृत्यों को पांच श्रेणियों में बांटा है—

१. महापाप (प्राणहारी पाप)

२. अतिपाप (जिनसे बढ़कर कोई अन्य महत्तम पाप न हो)

३. पातक (ऐसे पाप जो महापातक के समान हैं)

४. प्रासंगिक पाप (जो संग या संसर्ग से उत्पन्न हो)

५. उपपातक (साधारण पाप) ।

पराशर माधव में प्रायश्चित्त की सामर्थ्य के विषय में देवल के दो मत उद्धृत किये हैं कि वर्जित कार्य करने से उत्पन्न पापों को प्रायश्चित्त नष्ट कर देता है । अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये गये पापों की निवृत्ति नहीं होती है ।[२]

बोधायन स्मृति का मत है, कि ज्ञानपूर्वक किये गये पापों के लिए प्रायश्चित्त नहीं है ।[३] और जबकि अङ्गिरा ने इसके लिए दूने प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है ।[४] यहां हमें यह जानना आवश्यक है कि दण्डों के विषय में लौकिक व्यवहार (कानून) एवं प्रायश्चित्त के लिए धार्मिक नियम जान-बूझकर किये गये (कामतः) पाप मय

---

१. विष्णु-स्मृति, भाग २,१,३,४.५ ३३
अथ पुरुषस्य कामक्रोधलोभाख्यं रिपुत्रयं सुघोरं भवति ॥ १ ॥
तेनायं समाक्रान्तो तिपाकमहापातकानुपातकोपपातकेषु प्रवर्तते ।
जातिभ्रंशकरेषु संकरीकरणेष्वपात्रीकरणेषु ॥
मलावशेषु प्रकीर्णकेषु च ।

२. देवल, पराशर माधव, पृ० १५३
यत् स्यादनभिसन्धाय पापं कर्म्म सकृत् कृतम् ।
तस्यैर्यं निष्कृतिः प्रोक्ता धर्मविद्‌भिर्मणीषिभिः ॥
विधेः प्राथमिकाकादस्मादे द्वितीये द्विगुणं स्मृतम् ।
तृतीये त्रिगुणं कृच्छ्रं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥

३. वही-बोधायनस्तु कामकृतस्य प्रायश्चित्ताभावमाह ।

४. अङ्गिरस स्मृति—१७,१०
अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः ।
स्यात्वकामकृते यत्तु द्विगुणं शुद्धिपूर्वकं ॥

कर्म एवं अज्ञान या असावधानी से किये गये कर्म तथा केवल एक बार (सकृत) किये गये पाप या बार-बार किये गये (असकृत) दुष्कर्मों में अन्तर्भेद उपस्थित करते हैं।

स्मृतियों द्वारा उपस्थापित विभिन्न मतों का समाधान मिताक्षरा ने किया है, जो सभी मध्य-काल के लेखकों को मान्य है। उसके अनुसार पापों के फल एवं शक्ति दो प्रकार की कही हैं, यथा—

१. नरक की प्राप्ति

२. पापी का समाज के सदस्यों द्वारा बहिष्कार-अर्थात् जो पाप कर्म अज्ञानवश किया गया होता है। जानबूझ कर पापकर्म करके प्रायश्चित्त करने पर ही लोकव्यवहार की योग्यता प्राप्त होती है।[1]

आचार्य माधव ने पराशर स्मृति की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि 'कामतो व्यवहार्यस्तु' को मिताक्षरा ने अवग्रह के साथ ग्रहण किया है। अर्थात् जिसने किसी पाप के लिए व्यवस्थित प्रायश्चित कर लिया है वह नरक में नहीं गिरता, किन्तु यदि उसने जान-बूझकर कोई अपराध किया है तो वह शिष्टों से मिलने की अनुमति नहीं पा सकता।[2]

ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त

ब्रह्महत्या या वध शब्द का प्रयोग उस कर्म के लिए किया गया है जिसके करने से या तुरन्त या कुछ समय पश्चात् बिना कोई अन्य कारण उपस्थित हुए जीवन की हानि होती है। ब्रह्महत्या के विषय में स्मृतिकार पराशर का मत है जो मनुष्य ऋतुस्नाता अपनी स्त्री के पास नहीं पहुंचता वह घोर हत्या या भ्रूणहत्या के

---

१. याज्ञवल्क्य-स्मृति, ३२६.३
प्रायश्चित्तैरपेत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते॥

२. वही-२९८.३-याज्ञ० की टीका मिताक्षरा से उद्धृत—प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि न संव्यवहारेदिति वाचनिको यं प्रतिषेधः। 'किमिति वचनं न कुर्यात्र हि वचनस्यातिभारो स्ति' अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीनां वधेत्यपीय एवं प्रायश्चित्तं तथापि वाचनिको यं संव्यवहार-प्रतिषेधः।

पाप से युक्त होता है ।[१] क्योंकि मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने अज्ञातलिंग भ्रूण तथा रजस्वला नारी की हत्या को भी ब्रह्महत्या ही कहा है ।[२] इसके अतिरिक्त पराशर ने मनु का समर्थन करते हुए स्पष्ट किया है कि बन्धुओं अथवा सजातियों के साथ जो दुराचारिणी हो जाती है अथवा गर्भपात करवाती है उससे कभी सम्पर्क न करें क्योंकि जो पाप ब्रह्म हत्या के करने पर होता है, उसका दुगना गर्भपात कराने पर होता है, उसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है । इसलिए उस स्त्री का त्याग ही उचित होता है ।[३]यही समाधान किया है ।

ब्रह्महत्या के विषय में देवल का भी यही मत है कि जो स्त्री स्वस्थ होकर भी ऋतुस्नान के उपरान्त पति से सम्पर्क नहीं करती, वह संतान रहित होकर, भ्रूणहत्या के पाप से युक्त होती है ।[४]

सुरापान का प्रायश्चित्त

यह महापातक कहा गया है। सुरापान करने पर द्विज को अतिकठोर प्रायश्चित्त करने पर ही जीवन-रक्षा मिल सकती थी । आपस्तम्ब, बौधायन, गौतम, मनु तथा याज्ञवल्क्य का मत है कि यदि कोई अन्न से बनी सुरा को ज्ञान में केवल एक बार भी पी लेता है तो उसका प्रायश्चित्त मृत्यु से ही बन पाता है । सुरापान

---

१. पराशर स्मृति-१५.४
ऋतुस्थातां तु यो भार्या सन्निधो नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशय ॥

२. मनुस्मृति, ६६.११
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं नोपपातकम् ॥

३. मनुस्मृति-१९,२०.४
बान्धावानां सजातीनां दुर्वृत्तं कुरुते तु या ।
गर्भपातं न या कुर्यान्न तां संभाषयेत्क्वचित् ॥
यत्पापं ब्रह्महत्यां द्विगुणं गर्भपातेन ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते ॥

४. देवल पराशर माधव से उद्धृत, पृ० २९ (भाग-२)
'यस्त्वरोगामृतुस्नाता स्वस्थः सन्नोपगच्छति ।
भ्रूणहत्वामवाप्नोति प्रजां प्राप्तां विनाश्य सः' इति ।

करने वाला व्यक्ति खौलाई हुई सुरा का पान करे ।[१] सुरापान के विषय में पराशर ने दो भिन्न बातें कही हैं—एक तो यह कि शराब पीने वाला ब्राह्मण समुद्र में पड़ने वाली नदी के किनारे जाकर चान्द्रायण व्रत करे और ब्राह्मणों को भोजन कराये तथा एक बैल और एक गाय ब्राह्मणों को दक्षिणा दे ।[२] और दूसरी यह कि एक बार भी शराब पीकर अग्नि के समान रंग वाली शराब अर्थात् आग में खौलती हुई को पिये । ऐसा प्रायश्चित्त करने से वह मनुष्य इस लोक तथा परलोक में भी अपने को पवित्र कर लेता है । अतः वह मरकर ही सुरापान के पाप के फल से मुक्त हो पाता है ।[३]

सुरापान के संबंध में स्मृतिकार देवल ने भी मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति इत्यादि का समर्थन किया है । सुरापान कर लेने पर उस ब्राह्मण को खौलती हुई लाल रंग की सुरापान के पीने पर ही उसके पाप से मुक्ति मिलती है अतः इस प्रकार शरीर त्यागने पर ही वह ब्राह्मण पवित्र होता है, अन्यथा नहीं ।[४]

---

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र-१.९.२५.३
सुरापो ग्निस्पर्शा सुरां पिबेत् ।
बोधायन धर्मसूत्र-२.१.१.१७
सुरां पीत्वोष्णया कार्य देहत् ।
गौतम धर्मसूत्र, १.२३
सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णाभासि नेयः सुरामास्ये मृतः शुध्येत् ।
याज्ञवल्क्य स्मृति-२५३.३ सुरापो न्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥

२. पराशर-स्मृति-७३.१२
सुरापश्च द्विजः कुर्यान्नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
चान्द्रायणे तंतश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् ॥

३. पराशर स्मृति-७३,७४.१२
अनडुत्सहितां गा न दद्याद्विप्रेणु दक्षिणाम् ।
सुरापानं सकृत्कृत्वा अग्निवर्णा सुरां पिबेत् ।
स पावयेदिहात्मानमिह लोके परत्र च ॥

४. देवल, पराशर-माधव, पृ० ४१२
'सुरापाने ब्राह्मणो रुप्यताम्रसी नामन्यतममग्निकल्पं पीत्वा शरीरपरित्यागात् पूतोभवति ।'—इति ।

सुरापान करने वाली स्त्री के संबंध में पराशर का कथन है कि मदिरा या शराब पान करने वाली स्त्री का आधा-शरीर पतित हो जाता है । इस प्रकार जिसका शरीर पतित है उसकी शुद्धि संभव नहीं है तथा वह स्त्री निःसन्देह नरक को जाती है ।[१] स्त्री के शराब पीने पर मनु, वसिष्ठ एवं याज्ञवल्क्य तीनों का एक मत है कि इस प्रकार का अपराध करने पर वह स्त्री पर पति के लोकों को नहीं जाती और इस लोक में कुक्कुरी या शूकरी हो जाती है ।[२]

स्तेय का प्रायश्चित्त

स्तेय अर्थात् चोरी महापाप के रूप में तब मानी जाती है जिसका संबंध ब्राह्मण के किसी भी मात्रा के सोने या सुवर्ण से हो । आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने स्तेय की परिभाषा दी है—एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति के लोभ एवं बिना स्वामी की सम्पति से, उसके लेने से चोर हो जाता है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो ।[३] स्तेय के विषय में स्मृतिकार पराशर ने ब्राह्मण के गुवर्ण की चोरी को स्तेय माना है । अर्थात् जो ब्राह्मण के सुवर्ण की चोरी करता है, तो वह स्वयं मूसल लेकर अपने मारने के लिए राजा के पास जाये । तथा राजा के द्वारा मारे जाने पर इसकी शुद्धि हो जाती है । और वह मुक्त हो जाता है । यदि उसने सचमुच चोरी की है ऐसा जानकर ही राजा उसको मारे अन्यथा नहीं ।[४]

---

१. पराशर-स्मृति, २८.१०
पतत्यर्द्ध शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् ।
पतितार्द्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥

२. याज्ञवल्क्य स्मृति-२५६.३
'पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।
इहैव सा शुनी गृध्री शूकरी चोपजायते ।'—इति ॥

३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र-१.१०.२८.१ सर्वत्रा नुमतिपूर्वीमति हारीतः ॥

४. पराशर स्मृति-७६,७७.१२
अपहृत्य सुवर्णन्तु ब्राह्मणस्य ततः स्वयं ।
गच्छेन्मुसलमादाय राजानं स्ववधाय तु ॥
हतः शुद्धिभवाप्नोति राज्ञा सौ भुक्त एव च ।
काममस्तु कृतं यत्स्यान्ना न्यथा वधमर्हति ॥

स्तेय के सुवर्ण की परिभाषा याज्ञवल्क्य ने कही है कि जाली के भीतर प्रवेश करने वाली सूर्य-किरण में दिखलायी पड़ने वाले धूलिकण त्रसेरा कहलाते हैं। आठ त्रसरेणु मिल कर एक लिक्षा होती है और तीन लिक्षा का एक राज सर्षप कहा जाता है। तीन राजसर्षप का एक गौरसर्षप होता है, छः गौरसर्षप का एक मध्यमयव और तीन मध्यमयव का एक कृष्णल होता है। पांच कृष्णल का एक भाष और सोलह माष का एक सुवर्ण होता है। आचार्य माधव के अनुसार यदि उक्त विशिष्ट परिमाण की कोई ब्राह्मण की चोरी करता है, तो वह स्तेय कहलायेगा।[१]

स्तेय के दो प्रकार हैं—प्रथम बलपूर्वक चोरी करना जैसे—लूट-पाट या डकैती, जिसे साहस कहा जाता है। दूसरा-छिपकर चोरी करना। साहस में क्षत्रिय एवं वैश्य को क्रम से दुगुना एवं तिगुना प्रायश्चित्त करना पडता था, और इस विषय में परिषद् ही प्रायश्चित्त की व्यवस्था करती थी।[२]

मनु का मत है कि सुवर्ण की चोरी करने वाला अपने दोष को दूर करना चाहता हो तो वह पुराने वस्त्रों को धारण करता हुआ वन में जाकर हत्या के लिए वर्णित प्रायश्चित्त को करे।[३] याज्ञवल्क्य का मत इससे भिन्न है उनके मतानुसार सुवर्ण की चोरी में चोर अपने भार के बराबर सुवर्ण भी दे सकता है या फिर वह इतना धन दे जिससे ब्राह्मण को सन्तुष्टि हो जाये।[४]

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति-३६२,३६३.१
जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मतम्।
ते ष्टो लिक्षा तु तास्तिस्त्रो राजसर्षप उच्यते॥
गौरस्तु ते त्रयः षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः।
कृष्णलः प च ते भाषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥

२. पराशर माधव से उद्धृत, पृ० १७८
ते स सर्वेऽपि गोबधादर्वाचीन विषये द्रष्टव्याः सेयं दशसंख्योपेता परिषद ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तत्वे सत्यगन्तव्या। यदा क्षत्रियवैश्यो प्रायश्चिनो भवतः, तदा विशेषमङ्गिरा आह— परिषदया ब्राह्मणानां सा राज्ञां द्विगुणा मता। वैश्यानां त्रिगुणा चैव परिषच्च व्रतं स्थितम्॥

३. मनुस्मृति-१०१.११
तपसा पनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्। नीरवासा द्विजा रण्ये चरेद् ब्रह्मणो व्रतम्॥

४. याज्ञवल्क्य स्मृति-२५८.३
अनिवेद्य नृपे शुध्येत्सुरापव्रतमाचरन्।
आत्म तुल्यं सुवर्ण वा दद्याद्वे विप्रतुष्टितम्॥

चोरी न करने पर भी कुछ वस्तुएं बिना आज्ञा के ग्रहण करना चोरी के समान ही समझा जाता है । उच्च वर्ण के व्यक्ति गाय के लिए तृण, पूजा के लिए पुष्प और फल कहीं से भी ग्रहण कर सकते हैं ।[१] परन्तु शूद्र ऐसा नहीं कर सकते । उच्च वर्ण के लोग भी इसके अतिरिक्त वस्तु ग्रहण करने पर चोर समझे जाते हैं । आपस्तम्ब का मत है कि आवश्यकतानुसार थोड़ी घास और पुष्प जिससे स्वामी को कष्ट न हो ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन आवश्यकता से अधिक लेने पर अनुमति आवश्यक थी ।[२]

गुरुतल्पग का प्रायश्चित्त

गुरु पत्नी के साथ व्यभिचार करने के विषय में आदि-काल से प्रायश्चित्त की व्यवस्था है । आपस्तम्ब, बोधायन, गौतम एवं मनु का मत है कि गुरुतल्पगामी स्त्री की लोहे की प्रतिमा बनाकर, उसमें प्रवेश करे तथा उसके दोनों ओर अग्नि प्रदीप्त करके अपने को जला डाले, अथवा जलती हुई लोहे की शय्या पर शयन करे, अथवा अपने लिंग एवं अण्डकोषों को काटकर अंजलि में रखकर दक्षिण में तब तक चलता रहे, जब तक वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाये । उसके पश्चात् वह पाप से मुक्त हो जाता है ।[३]

---

१. गौतम धर्मसूत्र-१२.३५
गोग्न्यर्थे तृणमेघान्वीरुद्धनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीतफलानि नापरिवृत्तानाम् ।

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१०.२८.४,५
अतिव्यवहारो व्यद्धो भवति ॥
सर्वत्रा नुमति पूर्वीमति हारीतः ॥

३. वही-१.१०.२८.१५
गुरुतल्पगामी तु सुषिरां सूर्मि प्रविश्योभयत आदीप्या भिदहेदात्मानम् । गुरुतल्पगामी सवृषणं शिश्नं परिवास्या जलावा धाय दक्षिणां दिशमनावृत्तिं व्रजेत् ॥ ज्वालितां वा भूमिं परिष्वज्य समाप्नुयात् ।
बोधायनधर्मसूत्र—२.१.१.१२-१४
गुरुतल्पगस्तप्ते लोहशयने शयीत् ।
सूर्मि ज्वलन्तीं वा शिलष्येत् ॥
लिङ्गं वा सवृषणं परिवास्या जलावाधाय दक्षिणाप्रतीच्योर्विशोरन्तेरणगच्छेदा निपतनात् ॥

गुरुतल्पगमन का प्रायश्चित्त

गुरु पत्नी के साथ व्यभिचार करने के विषय में आदिकाल से ही प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। मनु ने व्यवस्था दी है कि अपराधी को अपना अधिकार स्वीकार कर लेना चाहिये और तब उसे तप्त लौह पर शयन करना होगा या नारी की तप्त लौह मूर्ति का आलिंगन करे, या फिर उसे अपने लिंग एवं अण्डकोशों को काटकर उन्हें अंजलि में रखकर दक्षिण दिशा की ओर तब तक चलता रहे, जब तक वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाये। उसके बाद ही वह पापमुक्त हो पाता है।[१] मिताक्षरा के मत से उपर्युक्त तीनों पृथक् प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु इनमें दो, यथा नारी तप्त लौह मूर्ति का आलिंगन एवं तप्त लौह पर शयन एक ही प्रकार का प्रायश्चित है।[२] गुरुतल्पगामी के लिए पराशर ने कहा है कि वह तीन प्राजापत्य व्रत तथा दो गायों की दक्षिणा देवे।[३]

इसके अतिरिक्त जब पुरुष अपनी माता, बहिन या पुत्री तथा अन्य सन्निकट सम्बन्ध वाली स्त्रियों के साथ संभोग करता है, वह तीन प्रकार के प्रायश्चित्त करे—लिंग काट लेना, तीन कृच्छ्र या तीन नान्द्रायणों को व्यवहार में लायें।[४]

स्मृतिकार शंख ने गुरुतल्पग के पाप को महापातक के समान माना है।[५]

मनुस्मृति-१०३,१०४.१—गुरुतल्पभिभाष्येनस्तप्ते... दिशमतिष्ठेदानिपातदजिह्मण।
गौतम धर्मसूत्र-२३८-११—तप्ते लौहशयने गुरुतल्पगः शयीत्....मृतः शूध्येत्॥

१. मनुस्मृति-१०३-१०४.११ गुरुतल्प्यभिभाष्येनस्तप्ते...दिशमतिष्ठेदानिपातदजिह्मण।
वसिष्ठ धर्मसूत्र—

२. याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका, २५९.३
तप्ते यः शयने सार्धमायस्या योषिता स्वपेत्।
गृहीत्वोत्कृत्य वृषणां नैऋत्यां नोत्सृजेतनम्॥

३. पराशर स्मृति-१२.१०
गुरुपत्नीं स्नुषा नैव भ्रातृभार्या तथैव च॥
मातुलानीं सगोत्रा न प्राजापत्य त्रय चरेत्।
गोद्वयं दक्षिणां दधात् शुद्यते नात्र संशय॥

४. पराशर-स्मृति, ११.१०— पितृदारान् समारुह्य मातुराप्तानान्तु भ्रातृजाम्।

५. शंखस्मृति-पराशर-माघवीय, भाग २, पृ० २६०,
अघः शयी जटाधारी पर्णभूलफलाशनः
एककालं समश्नन् वै वर्षे तु द्वादश गते॥

आचार्य माधव इस विषय में याज्ञवल्क्य के मत का समर्थन करते हैं कि गुरुतल्पग को कृच्छ्र प्रायश्चित्त करना चाहिए। तीन महीने तक वेद पाठ करते हुए या चान्द्रायण व्रत करना चाहिए।[१]

देवल ने गुरुतल्पग के संबंध में कहा है कि यदि कोई क्षत्रिय पुत्र द्विज गुरु की स्त्री को दूषित करता है तो अण्डकोशों को छोड़कर, लिंग काट देना चाहिए। इस प्रकार वह मरने पर शुद्ध होता है।[२]

यदि पुरुष, पशु, वैश्या, भैंस, ऊँटनी, वानरी, गर्दभी तथा शूकरी के साथ गमन करता है तो उसे प्राजापत्य नामक उपवास करके शुद्ध होना चाहिए।[३]

नतुविंशति मत के अनुसार भी पशुगमन करने का प्राजापत्य व्रत बताया है।[४]

पराशर का मत है कि गाय के साथ गमन करने वाले पुरुष को तीन रात्रि तक उपवास करके एक गाय ब्राह्मणों को दान देनी चाहिए। और भैंस, ऊंटनी और गर्दभी के साथ गमन करने वाला मनुष्य केवल दिन रात उपवास रखने से दोष रहित हो जाता है।[५]

रुक्मस्तेयी सुरापाश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
व्रतेनैव शुद्धयन्ति, महापाकिनस्तिवमे॥

१. पराशर-माधवीय, भाग-२, पृ० २६०

२. देवल-„ „ पृ० २६१
मत्या गत्वा पुनर्भार्यां गुरोः क्षत्रसुतां द्विजः।
अण्डाभ्यां वर्जितं लिङ्गमुतकृत्य च मृतः शुचिः॥

३. पराशर-स्मृति-१३.१०
पशुर्वेश्याभिगमने महिष्युष्ट्रीं कपीन्तया।
खरींश्च सूकरीं गत्वा प्राजापत्यव्रत यरेत्॥

४. पराशर-माघवीय, पृ० २७४

५. वही-१६,१७.१०
पशुवैश्यादिगमने महिष्युष्ट्रो कभीं तथा।
खरीं न शूकरीं गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्॥
गोगामी न त्रिरात्रेण ग्रामेकां ब्राह्मणो ददेत्।
महिष्युष्ट्रीखरीगामी त्वहोरात्रेण शुद्धयति॥

महापातक के अपराधों के सम्बन्ध में स्त्रियों के लिए भी प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गई है। पुरुषों के व्यभिचार के लिए जो प्रायश्चित्त व्यवस्थित हैं वही उन स्त्रियों के लिए भी हैं जो पुरुषों से व्यभिचार करती हैं।[१]

स्मृतिकार पराशर का मत है कि युद्ध के समय, अकाल के समय, मनुष्यों की क्षति के समय, भयभीत हो जाने पर कोई आक्रान्ता यदि पकड़ कर या बंदी बनाकर ले जाये तो उस पुरुष को अपनी स्त्री का स्मरण करना ही उचित है।[२]

स्मृतिकार देवल ने भी कहा है कि म्लेच्छ, चाण्डाल और दस्युओं द्वारा यदि जबरदस्ती बन्दी बना लिया गया हो और उनसे अशुभ कर्म कराये गये हों, द्विजातियों को इन सबका प्राजापत्य व्रत करना चाहिए।[३]

स्त्री का प्रायश्चित्त बताते हुए पराशर ने व्यवस्था दी है कि जो स्त्री चाण्डाल के साथ सहवास करे, तो उसे चाहिए कि वह अपना पाप श्रेष्ठ दस ब्राह्मणों के समक्ष स्पष्ट कर दे या गोबर व कीचड़ से भरे हुए जल वाले कुंए में गर्दन को छोड़ शेष अंगों को डुबो दे तथा एक रात और दिन बिना भोजन किये रहकर, बाहर निकले। तत्पश्चात् शिखा को कटवा दे और आधे पके जौ का भोजन करे।[४]

ऐसा करने के बाद तीन रात्रि तक व्रत करे तथा एक रात्रि पानी के मध्य में ही निवास करे। इसके बाद शंखपुष्पी औषधि की मूल, पत्ते, फूल, फल और सुवर्ण तथा पंचगव्य इन सभी पदार्थों को एक साथ पीस करके इनके मिश्रण को जल में उबाल कर उसी को पीये तत्पश्चात् वह स्त्री जब तक ऋतुमती हो तब तक पके हुए अन्न का भोजन दिन में केवल एक बार करे, जब तक वह इस विधि को सम्पन्न नहीं कर लैती, तब तक उसे घर के कार्य नहीं करने चाहिए। इस प्रकार पाप का प्रायश्चित्त समाप्त करने पर ब्राह्मणों को भोजन करावे और दो गाय दक्षिणा में देवें

---

१. काणे, पी० वी० : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ० १०६६

२. पराशर स्मृति-१८.१०
डाभरे समरे वा पि दुर्भिक्षे वा जनक्षये।
बन्दीग्राहे भयात्तौ वासदास्वस्त्री निरीक्षयेत्॥

३. देवल स्मृति-१७,१९.
बलाछासी कृता—प्राजापत्यं विशोघनम्॥

४. वही-१९ से २० तक
चाण्डालैः......भुंजीयाद्यावकौदनम्।

तभी उसकी आत्मशुद्धि हो सकती है । इसके विपरीत आचरण से शुद्धि नहीं हो सकती ।[१]

यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रादि चारों वर्णों की स्त्रियां पापाचरण वाली हो जायें तो उन सभी को कृच्छ्र चान्द्रायण नामक व्रत करना चाहिए । पृथ्वी तथा स्त्रियां दोनों ही समान प्रकृति वाली होती हैं इसलिए उन्हें दूषित न करें ।[२]

पशुवध का प्रायश्चित

स्मृतिकारों ने पशु पक्षियों एवं जन्तुओं का वध करने पर प्रायश्चित करने की व्यवस्था की है । इससे ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने तुच्छ से तुच्छ प्राणियों के वध को इतना महत्व दिया है कि उनके वध करने पर भी प्रायश्चित करना पड़ता है । पराशर का मत है कि क्रौंच, सारस, हंस, चक्रवाक और मुर्गा तथा जालपाद तथा शरभ को मारने पर एक दिन उपवास करना चाहिए ।[३] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने भी इस विषय पर चर्चा की है । देवल इस विषय में मौन हैं ।

इसके अतिरिक्त पराशर ने बताया है कि बगुली, टिटहरी, तोता, पारावत और मछली तथा बगुले को मारने वाला व्यक्ति रात में या 'नक्त भोजन' करने से शुद्ध होता है ।[४] यदि कोई ब्राह्मणी मना करने पर भी पर-पुरुष के साथ चली जाये तत्पश्चात् वह स्त्री दूसरे पुरुष के साथ रहकर लौट आवे तो रागोत्रियों को उस स्त्री को त्याग देना चाहिए ।[५]

---

१. पराशर-स्मृति-१८ से २०
त्रिरात्रमुपवसित्वा.....वत्संवर्तते वहिः ॥

२. वही–२५
चातुवर्णस्य नारीणां कृच्छ्रं चान्द्रायणं व्रतम् ।
यथा भूमिस्तथा नारी तस्मातां न तु दुषयेत् ॥

३. पराशर स्मृति, २६
क्रौच सारसंहसान् च चक्रवाकं च कुक्कुटम् ।
जालपादं च शरभं हत्वो होरात्रतः ॥

४. वेही ३६
बलाकटिट्टिभो वापि शुकपारावतावपि ।
अटीनबकघाती न शुद्धयते नक्त भोजनात् ॥

५. वही-३७.१०

इस प्रकार से पराशर स्मृति में कितने ही उपयोगी विषय के व्रत एवं प्रायश्चित्त बताये गये हैं जिनका आचरण करके दोषी व्यक्ति पुन पवित्र हो सकता है तथा देवल स्मृति में अभक्ष्य-भक्षण, तथा अगम्यागमन, सह भोजन तथा संसर्ग से प्राप्त दोषों से बचने के उपाय बताये हैं जिनसे अपराध करने वाला स्वयं को अपराध बोध से मुक्त समझता है।

ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत्परपुंसा विवर्जिता।
गत्वा पुंसा शतं याति त्यजेयुस्ता तु गौत्रिणः॥

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि पराशर स्मृति एवं देवल स्मृति प्रगतिवादी स्मृतियां हैं। जो किसी देश विशेष या जाति विशेष को लेकर धर्माख्या नहीं करतीं, अपितु मनुष्यमात्र का पथ प्रदर्शित करती हैं।

जहां एक ओर पराशर स्मृति अन्य स्मृतिंयों की अपेक्षा कृषि कर्म को मनुष्य मात्र का प्रधान कर्म बतलाती हैं वहीं दूसरी ओर देवल स्मृति देह शुद्धि, जाति शुद्धि एवं समाज शुद्धि जैसे विषयों के माध्यम से समूची मानवता को विकास के मार्ग पर प्रशस्त करती हैं।

पराशर स्मृति की सर्वप्रथम विशेषता है कि वह प्रगतिवादी विचारों को प्रोत्साहन देती हैं। उसने युग धर्म को परिवर्तनशील बताया है तथा किसी समय में, या किसी प्रदेश के ब्राह्मणों में जिस कृषि कर्म को निकृष्ट समझा गया था, उस भावना को समाप्त कर दिया है। उन्होंने कृषि कर्म को महान् यज्ञ माना है, क्योंकि इसी यज्ञ से सारी सृष्टि की रचना सम्भव है। क्योंकि अन्न के बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकते अत: इस कृषि-यज्ञ का अनुष्ठान करने से मनुष्य का पुरुषार्थ बढ़ता है।

वास्तव में जनसंख्या के बहुत अधिक बढ़ जाने से इस समय कृषि कर्म सर्वप्रधान बन गया है और किसान की स्थिति पहले की अपेक्षा बेहतर हो गई है, अब तो गांवों में रहने वाले अधिकांश ब्राह्मण किसी न किसी रूप में खेती का काम ही कर रहे हैं।

दूसरे जिस कर्म को पराशर ने प्रशंसनीय बतलाया है वह 'युद्धकर्म' है। वीर क्षत्रिय योद्धा योग युक्त संन्यासी के समान सूर्य-मण्डल का भेदन करने वाला कहा है तथा राजधर्म से सम्बद्ध वीर राजा अक्षय लोकों को प्राप्त करता है। क्षत्रिय का न्यायोचित धर्म युद्ध क्षेत्र में 'प्राणत्याग' करना बतलाया है।

इसके अतिरिक्त वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत गृहस्थी व्यक्ति को नित्य कर्म वैश्वदेव पूजन एवं अतिथि सत्कार उपदेश किया है। जिससे समाज के प्रत्येक घटक का उत्थान हो सके। विज्ञान के भौतिक युग में आज आवश्यकता है। हम अपने पूर्वजों की विरासत को भूलें नहीं।

'शुद्धि' के संबंध में दो प्रकार का अशौच निर्धारित किया है। सद्य: अशौच जो राजा, ब्रह्मचारी एवं अग्निहोत्री ब्राह्मण का होता है, इनके अतिरिक्त क्रियावान, शिल्पी, कारीगर, राजमज़दूर, नाई, वैद्य, नौकर इत्यादि की तत्काल शुद्धि हो जाती है।

स्मृतिकार देवल ने भी विशेष रूप से धार्मिक नियमों का उच्छेद हो जाने से उत्पन्न समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जो बहुत महत्वपूर्ण हैं. उन्होंने 'अगम्यागमन' अर्थात् व्यभिचार से उत्पन्न दोषों का सरल उपाय निर्दिष्ट कर 'रजोधर्म' के हो जाने पर दोष की निवृत्ति कही है तथा बलपूर्वक म्लेच्छों द्वारा ले जाये गये 'द्विजातियों' की भिन्न-भिन्न प्रकार शुद्धि व्यवस्था निर्दिष्ट की है। व्यभिचारिणी स्त्री के सम्बन्ध में कहा है कि गर्भ धारण कर लेने पर वह दोष मुक्त नहीं हो सकती।

प्रायश्चित्त एवं व्रत के सम्बन्ध में पराक, पादकृच्छ्र, पराकार्थ, चान्द्रायण, प्राजापत्य, गंगा स्नान, पञ्चगव्य इत्यादि व्रतों के आचरण द्वारा दोषों एवं पापों से मुक्ति बतलायी है।

अन्य स्थल पर स्मृतिकार पराशर ने अत्यन्त महत्वपूर्ण धर्मों की ओर ध्यान दिलाया है जिनमें स्त्री धर्म, स्त्रीपुंधर्म अर्थात् (पति-पत्नी के कर्तव्य) उनकी सार्थकता, विवाह की अवस्था 'रजोधर्म युक्त कन्या' को निर्धारित किया है।

'स्त्री पुनर्विवाह' के प्रसंग में पांच स्थितियां बतायी हैं जिनके अनुसार वह पुन: अपना जीवन व्यवस्थित कर सकती हैं। तथा 'विधवा स्त्री' को ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिर रहने का उपदेश कर स्वर्ग का आश्वासन भी दिया। इन्होंने कहीं भी सती-प्रथा को प्रोत्साहन नहीं दिया है।

पराशर ने पिता की सम्पत्ति के अधिकारी पुत्र पांच—औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम एवम् दत्तक इत्यादि बताये हैं, अपितु यहां यह स्पष्ट नहीं किया है कि वे मनु, याज्ञवल्क्यादि को स्वीकार करते हैं या नहीं। 'नियोग-प्रथा' को संकेत करते हुए

उससे प्राप्त फल को बीजी व्यक्ति का बताया है। नियोग से प्राप्त पुत्र कुण्ड एवं गोलक कहे गये हैं। परिविति की निन्दा की है।

पशु-पक्षियों एवं जीव जन्तुओं की हिंसा का निषेध किया है। आत्महत्या का कोई प्रायश्चित्त नहीं कहा है।

कानून या व्यवहार-विधि के विषय में विशेष वर्णन करके परिषद् अर्थात् सभा को अवश्य उल्लिखित किया, उस परिषद् के सदस्यों की योग्यता निर्धारित की है। परिषद् के सदस्यों की संख्या तीन या चार विद्वान् ब्राह्मण माने। जो अन्य सभी विधिवेत्ताओं को भी मान्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृतिद्वय विशिष्ट बहुपयोगी विषयों का संग्रह है जिनका आचार व्यवहार एवं प्रायश्चित्त जैसे विषयों का सहयोग अतुलनीय है। ये धर्मशास्त्र साहित्य की अन्यतम कृतियां स्वयंसिद्ध हैं। यदि आज का समाज देवल एवं पराशर की प्रगतिशील विचारधारा का पालन करे तो देश भी प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा।

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीमन्महर्षि पराशरप्रणीता-

पराशरस्मृतिः

प्रथमोऽध्यायः ।

श्रीगणेशायनमः ।

तत्रादौ-धर्मोपदेशंतल्लक्षणञ्चाह—

अथातो हिमशैलाग्रे देवदारुवनालये ।
व्यासमेकाग्रमासीनमपृच्छन्नृषयः पुरा ॥ १ ॥
मानुषाणां हितं धर्मं वर्त्तमाने कलौ युगे ।
शौचाचारं यथावच्च वद सत्यवतीसुत ! ॥ २ ॥
तच्छ्रुत्वा ऋषिवाक्यन्तु समिद्धाग्न्यर्कसन्निभः ।
प्रत्युवाच महातेजाः श्रुतिस्मृतिविशारदः ॥ ३ ॥
नचाहं सर्व्वतत्त्वज्ञः कथं धर्मं वदाम्यहं ।
अस्मत् पितैव प्रष्टव्य इति व्यासः सुतोऽवदत् ॥ ४ ॥
ततस्ते ऋषयः सर्व्वे धर्मतत्त्वार्थकाङ्क्षिणः ।
ऋषिं व्यासं पुरस्कृत्य गता वदरिकाश्रमे ॥ ५ ॥
नानावृक्षसमाकीर्णं फलपुष्पोपशोभितम् ।
नदीप्रस्रवणाकीर्णं पुण्यतीर्थैरलङ्कृतम् ॥ ६ ॥

मृगपक्षिगणाढ्यञ्च देवतायतनावृतम्।
यक्षगन्धर्व्वसिद्धैश्च नृत्यगीतसमाकुलम्॥ ७ ॥
तस्मिन्नृपिसभामध्ये शक्तिपुत्रं पराशरम्।
सुखासीनं महात्मानं मुनिमुख्यगणावृतम॥ ८ ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा व्यासस्तु ऋषिभिः सह।
प्रदक्षिणाभित्रादैश्च स्तुतिभिः समपूजयत्॥ ९ ॥
अथ सन्तुष्टमनसाः पराशरमहामुनिः।
आह सुस्त्रागतं ब्रूहीत्यासीनो मुनिपुङ्गवः॥ १० ॥
व्यासः सुस्वागतं ये च ऋषयश्च समन्ततः।
कुशलं कुशलेत्युक्ता व्यासः पृच्छत्यतःपरम्॥ ११ ॥
यदि जानासि मे भर्क्ति स्नेहाद्वा भक्तवत्सल!
धर्म कथय मे तात! अनुग्राह्योह्यहं तव॥ १२ ॥
श्रुता मे मानवा धर्म्मा वाशिष्टाः काश्यपास्तथा।
गार्गेया गौतमाश्चैव तथा चौशनसाः स्मृताः॥ १३ ॥
अत्रेर्विष्णोश्च साम्वर्त्ता ददक्षा आङ्गिरसास्तथा।
शातातपाश्च हारीता याज्ञवल्क्यकृताश्च ये॥ १४ ॥
कात्यायनकृता श्चैव प्राचेतसकृताश्च ये।
आपस्तम्बकृता धर्म्माः शङ्कस्य लिखितस्य च॥ १५ ॥
श्रुता ह्येते भवत्प्रोक्ताः श्रौतार्थास्तेन विस्मृताः।
अस्मिन्मन्वन्तरे धर्म्माः कृतत्रेतादिके युगे॥ १६ ॥
सर्व्वे धर्म्माः कृते जाताः सर्वे नष्टाः कलौ युगे।
चातुर्वण्यसमाचारं किञ्चित् साधारणं वद॥ १७ ॥
व्यासवाक्यावसाने तु मुनिमुख्यः पराशरः।
धर्मस्य निर्णयं प्राह सूक्ष्मं स्थूलञ्च विस्तरात्॥ १८ ॥
श्रृणु पुत्र! प्रवक्ष्येऽहं श्रृण्वन्तु ऋषयस्तथा॥ १९ ॥

कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्तौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारा निर्णेतव्याश्च सर्वदा ॥ २० ॥
न कश्चिद्वेदकर्त्ता च वेदस्मर्त्ता चतुर्मुखः ।
तथैव धर्मं स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे ॥ २१ ॥
अन्ये कृतयुगे धर्म्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः ॥ २२ ॥
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमित्यूचुर्द्दानमेकं कलौ युगे ॥ २३ ॥
कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः ।
द्वापरे शाङ्खलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः ॥ २४ ॥
त्यजेद्देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत् ।
द्वापरे कुलमेकन्तु कर्त्तारञ्च कलौ युगे ॥ २५ ॥
कृते सम्भाषणात् पापं त्रेतायाञ्चैव दर्शनात् ।
द्वापरे चान्नामादाय कलौ पतति कर्मणा ॥ २६ ॥
कृते तु तत्क्षणाच्छापस्त्रेतायां दशभिर्दिनैः ।
द्वापरे मासमात्रेण कलौ सम्वत्सरेण तु ॥ २७ ॥
अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते ।
द्वापरं याचमानाय सेवया दीयते कलौ ॥ २८ ॥
अभिगम्योत्तमं दानमाहूतञ्चैव मध्यमम् ।
अधमं याच्यमानं स्यात् सेवादानञ्च निष्फलम् ॥ २९ ॥
कृते चास्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांससंस्थिताः ।
द्वापरे रुधिरं यावत् कलावन्नादिषु स्थितोः ॥ ३० ॥
धर्मो जितो ह्यधर्मेण जितः सत्योऽनृतेन च ।
जिता भृत्यैस्तु राजानः स्त्रीभिश्च पुरुषा जिताः ॥ ३१ ॥
सीदन्ति चाग्निहोत्राणि गुरुपूजा प्रणश्यति ।

कुमार्यर्यश्च प्रसूयन्ते तस्मिन् कलियुगे सदा ॥ ३२ ॥
युगे युगे च ये धर्मास्तत्र तत्र च ये द्विजाः ।
तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युगरूपाहि ते द्विजाः ॥ ३३ ॥
युगे युगे च सामर्थ्यं शेषं मुनिविभाषितम् ।
पराशरेण चाप्युक्तं प्रायश्चित्तं प्रधीयते ॥ ३४ ॥
अहमद्यैव तद्धर्ममनुस्मृत्य ब्रवीमि वः ।
चातुर्वर्ण्यसमाचारं श्रृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः ॥ ३५ ॥
पाराशरमतं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ।
चिन्तितं ब्राह्मणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥ ३६ ॥
चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः ।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः ॥ ३७ ॥
षट्कर्माभिरतो नित्यं देवतातिथिपूजकः ।
हुतशेषन्तु भुञ्जानो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ ३८ ॥
सन्ध्यास्नानं जपो होम स्वाध्यायो देवतार्च्चनम् ।
वैश्वदेवातिथेयञ्च षट्कर्म्माणि दिने दिने ॥ ३९ ॥
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।
वैश्वदेवे तु संप्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ ४० ॥
दूराद्ध्वानं पथि श्रान्तं वैश्वदेवे उपस्थितम् ।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः ॥ ४१ ॥
न पृच्छेद्गोत्रचरणं न स्वाध्यायव्रतानि च ।
हृदयं कल्पयेत्तस्मिन् सर्वदेवमयोहि सः ॥ ४२ ॥
नैकग्रामीणतिथिं विप्रं साङ्गमिकं तथा ।
अनित्यं ह्यागतो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ ४३ ॥
अपूर्वः सुव्रती विप्रो ह्यपूर्वो वातिथिस्तथा ।
वेदाभ्यासरतो नित्यं त्रयोऽपूर्वा दिने दिने ॥ ४४ ॥

वैश्वदेवे तु संप्राप्ते भिक्षुके गृहमागते।
उद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षां दत्त्वा विसर्जयेत् ॥ ४५ ॥
यती च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ।
तयोरन्नमदत्वा च भुक्तवा चान्द्रायणञ्चरेत् ॥ ४६ ॥
यतिहस्ते जलं दद्याद्भैक्षं दद्यात् पुनर्जलम्।
तद्भैक्षं मेरुणा तुल्यं तज्जलं सागरोपमम् ॥ ४७ ॥
वैश्वदेवकृतान् दोषान् शक्तो भिक्षुकर्व्यपोहितुम्।
नहि भिक्षु कृतान् दोषान् वैश्वदेवो व्यपोहति ॥ ४८ ॥
अकृत्वा वैश्वदेवन्तु भुञ्जते ये द्विजातयः।
सर्वे ते निष्फलां ज्ञेयाः पतन्ति नरके शुचौ ॥ ४९ ॥
शिरोवेष्टन्तु यो भुङ्क्ते योभुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
वामापादे करं नयस्य तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ ५० ॥
यतये काञ्चनं दत्त्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्त्वा दातापि नरकं व्रजेत् ॥ ५१ ॥
पापोवा यदि चाण्डालो विप्रघ्नः पितृघातकः।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ ५२ ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षशतानि च ॥ ५३ ॥
न प्रसज्याति गो विप्रो ह्यतिथिं वेदपारगम्।
अददन्नान्नामात्रन्तु भुक्तवा भुङ्क्ते तु किल्विषम् ॥ ५४ ॥
ब्राह्मणस्य मुखं क्षेत्रं निरुदकमकण्टकम्।
वापयेत् सर्व्वबीजानि सा कृषिः सर्वकामिका ॥ ५५ ॥
सुक्षेत्रे वापयेद्बीजं सुपुत्रे दापयेद्धनं।
सुक्षेत्रं च सुपुत्रे च यत्क्षिप्तं नैव नश्यति ॥ ५६ ॥
अनृत्ता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।

तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चौरभक्तप्रदो हि सः ॥ ५७ ॥
क्षत्रियोहि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रचण्डवत् ।
विजित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत् ॥ ५८ ॥
न श्रीः कुलक्रमायाता स्वरूपाल्लिखितापि या ।
खड्गेणाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ ५९ ॥
पुष्पं पुष्पं विचिनुयान्मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवोद्याने न तथाङ्गारकारकः ॥ ६० ॥
लोहकर्म तथा रत्नं गवाञ्च प्रतिपालनम् ।
वाणिज्यं कृषिकर्माणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥ ६१ ॥
शूद्राणां द्विजशूश्रूषा परो धर्मः प्रकीर्त्तितः ।
अन्यथा कुरुते किञ्चित्तद्भवेत्तस्य निष्फलम् ॥ ६२ ॥
लवणं मधु तैलञ्च दधि तक्रं घृतं पयः ।
न दूष्येच्छूदजातीनां कुर्य्यात् सर्वस्य विक्रयम् ॥ ६३ ॥
अविक्रयं मद्यमांसमभक्ष्यस्य च भक्षणम् ।
अगम्यागमनञ्चैव शूद्रोऽपि नरकं व्रजेत् ॥ ६४ ॥
कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च ।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रस्य नरकं ध्रुवम् ॥ ६५ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

गृहस्थाश्रमधर्मवर्णनम् ।

अतः परं गृहस्थस्य धर्माचारं कलौ युगे ।
धर्मं साधारणं शक्यं चातुर्वर्ण्याश्रमागतम् ॥ १ ॥
संप्रवक्ष्याम्यहं भूयः पाराशर्य्यं प्रचोदितः ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः कृषिकर्माणि कारयेत् ॥ २ ॥
हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम् ।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम् ॥ ३ ॥
क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्द्दं न योजयेत् ।
हीनाङ्गं व्याधितं क्लीवं वृषं विप्रो न वाहयेत् ॥ ४ ॥
स्थिराङ्गं नीरुजं दृप्तं वृषभं षण्डवर्जितम् ।
वाहयेद्दिवसस्यार्द्धं पश्चात् स्नानं समाचरेत् ॥ ५ ॥
जपं देवार्चनं होमं स्वाध्यायं साङ्गमभ्यसेत् ।
एकद्वित्रिचतुर्विप्रान् भोजयेत् स्नातकान् द्विजः ॥ ६ ॥
स्वयंकृष्टे तथा क्षेत्रे धान्यैश्च स्वयमर्जितैः ।
निर्वपेत् पञ्च यज्ञानि क्रतुदीक्षाञ्च कारयेत् ॥ ७ ॥
तिला रसा न विक्रेया विक्रेया धान्यतः समा ।
विप्रस्यैवंविधा वृत्तिस्तृणकाष्ठादिविक्रयः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणस्तु कृषिं कृत्वा महादोषं वाप्नुयात् ।
सम्वत्सरेण यत्पापं मत्स्यघाती समाप्नुयात् ।

अयोमुखेन काष्ठेन तदेकाहेन लाङ्गली ॥ ९ ॥
पाशको मत्स्यधाती च व्याधः शाकुनिकस्तथा ।
अदाता कर्षकश्चैव पञ्चैते समभागिनः ॥ १० ॥
कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भोऽथ मार्जनी ।
पञ्च शूना गृहस्थस्य अहन्यहनि वर्त्तते ॥ ११ ॥
वृक्षान् छित्वा महीं हत्वा हत्वा तु मृगकीटकान् ।
कर्षकः खलु यज्ञेन सर्वपापात् प्रमुच्यते ॥ १२ ॥
यो न दद्याद्द्विजातिभ्यो राशिमूलमुपागतः ।
स चौरः स च पापिष्ठो ब्रह्मघ्नं तं विनिर्दिर्दशेत् ॥ १३ ॥
राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानाञ्चैकविंशकम् ।
विप्राणां त्रिंशकं भागं कृषिकर्त्ता न लिप्यते ॥ १४ ॥
क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा द्विजान् देवांश्च पूजयेत् ।
वैश्यः शूद्रः सदा कुर्यात् कृषिवाणिज्यशिल्पकान् ॥ १५ ॥
विकर्म कुर्वते शूद्रा द्विजसेवाविवर्जिताः ।
भवन्त्यल्पायुषस्ते वै पतन्ति नरकेषु च ॥ १६ ॥
चतुर्णामपिवर्णानामेष धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ तृतियोऽध्यायः ॥

अशौचव्यवस्थावर्णनम्।

अतः शुद्धिं प्रवक्ष्यामि जनने मरणे तथा।
दिनत्रयेण शुद्धयन्ति ब्राह्मणाः प्रेतसूतके ॥ १ ॥
क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहकैः।
शूद्रः शुद्धति मासेन पराशरवचो यथा ॥ २ ॥
उपासने तु विप्राणमङ्गशुद्धिस्तु जायते।
ब्राह्मणानां प्रसूतौ तु देहस्पर्शो विधीयते ॥ ३ ॥
जाते विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्धयति ॥ ४ ॥
एकाहाच्छुद्धयते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः।
त्र्यहात् केवलवेदस्तु द्विहीनो दशभिर्दिनैः ॥ ५ ॥
जन्मकर्मपरिभ्रष्टः सन्ध्योपासनवर्जितः।
नामधारकविप्रस्य दशाहं सूतकं भवेत् ॥ ६ ॥
एकपिण्डास्तु दायादाः पृथग्दारनिकेतनाः।
जन्मन्यपि विपत्तौ च भवेत्तोषाञ्च सूतकम् ॥ ७ ॥
उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुञ्जते।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्त्तते ॥ ८ ॥
प्राप्नोति सूतकं गोत्रे चतुर्थपुरुषेण तु।
दायाद्विच्छेदमाप्नोति पञ्चमो वात्मवंशजः ॥ ९ ॥

चतुर्थे दशरात्रं स्यात् षण्णिशा पुंसि पञ्चमे ।
षष्ठे चतुरहाच्छुद्धि सप्तमे तु दिनत्रयम् ॥ १० ॥
पञ्चभिः पुरुषैर्युक्ता अश्राद्धेया सगोत्रिणः ।
ततः षट्पुरुषाद्यश्च श्राद्धे भोज्याः सगोत्रिणः ॥ ११ ॥
भृग्वग्निमरणे चैव देशान्तरमृते तथा ।
वाले प्रेते च सन्यासे सद्यः शौचं विधीयते ॥ १२ ॥
दशरात्रेष्वतीतेषु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ।
ततः सम्वत्सरादूर्द्धवं सचैलं स्नानमाचरेत् ॥ १३ ॥
देशान्तरमृतः कश्चित् सगोत्रः श्रूयते यदि ।
न त्रिरात्रमहोरात्रं सद्यः स्नात्वा विशुद्धयति ॥ १४ ॥
आत्रिपक्षास्त्रिरात्रं स्याद्याषण्मासाच्च पक्षिणी ।
अहः सम्वत्सरादर्वाक् सद्यः शौचं विधीयते ॥ १५ ॥
अजातदन्ता ये बाला ये च गर्भाद्विनिःसृता ।
न तेषामग्निसंस्कारो नाशौचं नोदकक्रिया ॥ १६ ॥
यदि गर्भोविपद्येत स्त्रवते वापि योषिताम् ।
यावन्मासं स्थितोगर्भो दिनं तावत् स सूतकः ॥ १७ ॥
आ चतुर्थाद्भवेत् स्त्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः ।
अत ऊर्द्धवं प्रसूतेः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत् ॥ १८ ॥
प्रसूतिकाले संप्राप्ते प्रसवे यदि योषिताम् ।
जीवापत्ये तु गोत्रस्य मृते मातुश्च सूतकम् ॥ १९ ॥
रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके ।
पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः ॥ २० ॥
दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूड़े च संस्थिते ।
अग्निसंस्करणं तेषां त्रिरात्रं सूतकं भवेत् ॥ २१ ॥
आ दन्तजननात् सद्य आचूड़ान्नैशिकी स्मृता ।

त्रिरात्रमाव्रतात्तेषां दशरात्रमतः परम् ॥ २२ ॥
गर्भे यदि विपत्तिः स्यात्दशाहं सूतकं भवेत् ।
जीवन् जातो यदि प्रेतः सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ २३ ॥
स्त्रीणां चूड़ान्न आदानात् संक्रमात्तदधः क्रमात् ।
सद्यः शौचमथैकाहं त्रिरहः पितृबन्धुषु ॥ २४ ॥
ब्रह्मचारी गृहे येषां हूयते च हुताशने ।
सम्पर्कं न च कुर्वन्ति न तेषां सूतकं भवेत् ॥ २५ ॥
सम्पर्कादुष्यते विप्रो नान्यो दोषोऽस्ति ब्राह्मणे ।
सम्पर्केषु निवृत्तस्य न प्रेतं नैव सूतकम् ॥ २६ ॥
शिल्पिनः कारुका वैद्यः दासीदासाश्च नापिताः ।
श्रोत्रियाश्चैव राजानः सद्यः शौचाः प्रकीर्त्तिताः ॥ २७ ॥
सव्रती मन्त्रपूतश्च आहिताग्निश्च यो द्विजः ।
राज्ञश्च सूतकं नास्ति यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ २८ ॥
उद्यतो निधने दाने आर्त्तो विपो निमन्त्रितः ।
तदेव ऋषिभिर्दृष्टं यथाकालेन शुद्ध्यति ॥ २९ ॥
प्रसवे गृहमेधी तु न कुर्य्यात सङ्करं यदि ।
दशाहाच्छूद्ध्यते माता अबगाह्य पिता शुचिः ॥ ३० ॥
सर्वेषां स्त्रावमाशौचं मातापित्रोर्द्दशाहिकं ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ३१ ॥
यदि पत्न्यां प्रसूतायां सम्पर्कं कुरुते द्विजः ।
सूतकन्तु भवेत्तस्य यदि विप्रः षडङ्गवित् ॥ ३२ ॥
सम्पर्काज्जायते दोषो नान्यो दोषोऽस्ति ब्राह्मणे ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सम्पर्कं वर्जयेद्द्विजः ॥ ३३ ॥
विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके ।
पूर्वं सङ्कल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दूष्यति ॥ ३४ ॥

अन्तरा तु दशाहस्य पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत् स्यादशुचिर्विपोयावत्तत् स्यादनिर्दशम् ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणार्थे विपन्नानां वन्दिगोग्रहणे तथा ।
आहवेषु विपन्नानामेकरात्रन्तु सूतकम् ॥ ३६ ॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदकौ ।
परिब्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः ॥ ३७ ॥
यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयांल्लभते लोकान् यदि क्लीवं न भाषते ॥ ३८ ॥
जितेन लभते लक्ष्मीं मृतेनापि सुराङ्गनाः ।
क्षणविध्वंसिकेऽमुस्मिन् का चिन्ता मरणे रणे ॥ ३९ ॥
यस्तु भग्नेषु सैनेषु विद्रवत्सु समन्ततः ।
परित्राता यदा गच्छेत् स च क्रतुफलं लभेत् ॥ ४० ॥
यस्य च्छेदक्षतं गात्रं शरशत्तयुष्टिमुद्गरैः ।
देवकन्यास्तु तं वीरं गायन्ति रमयन्ति च ॥ ४१ ॥
वराङ्गनासहस्त्राणि शूरमायोधने हतं ।
नागकन्याश्च धावन्ति मम भर्त्ता भवेदिति ॥ ४२ ॥
ललाटदेशाद्रुधिरं हि यस्य
तप्तस्य जन्तोः प्रविशेच्च वक्त्रे ।
तत् सोमयानेन हि तस्य तुल्यं
संप्रामयज्ञे विधिवच्च दृष्टम् ॥ ४३ ॥
यं यज्ञसंधैस्तपसा च विद्यया
स्वर्गैषिणो वात्र यथैव विप्राः ।
तथैव यान्त्येवहि तत्र वीराः
प्राणान् सुयुद्धेन परित्यजन्तः ॥ ४४ ॥
अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः ।

पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्वाल्लभन्ति ते ॥ ४५ ॥
असगोत्रमबन्धुञ्च प्रेतीभूतञ्च ब्राह्मणं ।
नीत्वा च दाहयित्वा च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ ४६ ॥
न तेषामशुभं किञ्चिद्धद्विजानां शुभकर्मणि ।
जलावगाहनात्तेषां शुद्धिः स्मृतिभिरीरिता ॥ ४७ ॥
अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा ।
स्नात्वा चैव तु स्पृष्टाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ ४८ ॥
क्षत्रियं मृतमज्ञानाद्ब्राह्मणो योऽनुगच्छति ।
एकाहमशुचिर्भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ ४९ ॥
शवञ्च वैश्यमज्ञानाद्ब्राह्मणो योऽनुगच्छति ।
कृत्वा शौचं द्विरात्रञ्च प्राणायामान् षड़ाचरेत् ॥ ५० ॥
प्रेतीभूतन्तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।
नयन्तमनुगच्छेत त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ ५१ ॥
त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदी गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ ५२ ॥
विनिर्वत्य यदा शूद्रा उदकान्त मुपस्थिताः ।
द्विजैस्तदानुगन्तव्या इति धर्मविदोविधिः ॥ ५३ ॥
तस्माद्द्विजो मृतं शूद्रं न स्पृशेन्न च दाहयेत् ।
दृष्टे सूर्यावलोकेन शुद्धिरेषा पुरातनी ॥ ५४ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

अनेकविधप्रकरणप्रायश्चित्तम् ।

अतिमानादतिक्रोधात् स्नेहाद्वा यदिवा भयात् ।

उद्बध्नीयात् स्त्री पुमान् वा गतिरेषा विधीयते ॥ १ ॥

पूयशोणितसंपूर्णे अन्धे तमसि मज्जति ।

षष्टिं वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते ।

नाशौचं नोदकं नाग्निं नाश्रुपातञ्च कारयेत् ॥ २ ॥

वोढारोऽग्निप्रदातारः पाशच्छेदकरास्तथा ।

तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्तीत्येवमाह प्रजापतिः ॥ ३ ॥

गोभिर्हतं तथोद्बद्धं ब्राह्मणेन तु घातितम् ।

संस्पृशन्ति तु ये विप्रा वोढारश्चाग्निदाश्च ये ॥ ४ ॥

अन्येऽपि वानुगन्तारः पाशच्छेदकराश्च ये ।

तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यन्ति कुर्य्युर्ब्राह्मणभोजनम् ॥ ५ ॥

अनडुत्सहितां गाञ्च दद्युर्विप्राय दक्षिणाम् ।

त्र्यहमुष्णं पिवेदापस्त्र्यहमुष्णं पयः पिवेत् ।

त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥ ६ ॥

यो वै समाचरेद्विप्रः पतितादिष्वकामतः ।

पञ्चाहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ॥ ७ ॥

मासार्द्धं मासमेकं वा मासद्वयमथापिवा ।

अब्दार्द्धमब्दमेकं वा तदूर्द्ध्वं चैव तत्समः ॥ ८ ॥

त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमाचरेत् ।

तृतीये चैव पक्षे तु कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ ९ ॥
चतुर्थे दशरात्रं स्यात् पराकः पञ्चमे मतः ।
कुर्य्याच्चान्द्रायणं षष्ठे सप्तमे त्वैन्दवद्वयम् ॥ १० ॥
शुद्ध्यर्थमष्टमे चैव षण्मासात् कृच्छ्रमाचरेत् ।
पक्षसंख्याप्रमाणेन सुवर्णान्यपि दक्षिणा ॥ ११ ॥
ऋतुस्नाता तु या नारी भर्त्तारं नोपसर्पति ।
सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
ऋतौ स्नातान्तु यो भार्य्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः ॥ १३ ॥
अदुष्टापतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत् ।
सप्तजन्म भवेत् स्त्रीत्वं वैधव्यञ्च पुनः पुनः ॥ १४ ॥
दरिद्रं व्याधितं मूर्खं भर्त्तारं या न मन्यते ।
सा मृता जायते व्याली वैधव्यञ्च पुनः पुनः ॥ १५ ॥
ओघवाताहृतं बीजं यथा क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षेत्री तल्लभते बीजं न बीजी भागमर्हति ॥ १६ ॥
तद्वत् परस्त्रियाः पुत्रौ द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्त्तरि गोलकः ॥ १७ ॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमकः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वापि स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १८ ॥
परिवित्तिः परीवेत्ता यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १९ ॥
दाराग्निहोत्रसंयोगं यः कुर्य्यादग्रजे सति ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्व्वजः ॥ २० ॥
द्वौ कृच्छ्रौ परिवित्तेस्तु कन्यायाः कृच्छ्र एव च ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ दातुश्च होता चान्द्रायणश्चरेत् ॥ २१ ॥

कुब्जवामनपण्डेषु गद्गदेषु जड़ेषु च।
जात्यन्धे बधिरे मूके न दोषः परिवेदने ॥ २२ ॥
पितृव्यपुत्रः सापत्न्यः परनारीसुतस्तथा।
दाराग्निहोत्रसंयोगे न दोषः परिवेदने ॥ २३ ॥
ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेदाधानं नैव चिन्तयेत्।
अनुज्ञातस्तु कुर्वीत शङ्खस्य वचनं यथा ॥ २४ ॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ.
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो न विद्यते ॥ २५ ॥
मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्ग सद् ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
तिस्रः कोट्यर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।
तावत् कालं वसेत् स्वर्गे भर्त्तारं यानुगच्छति ॥ २७ ॥
व्यालग्राही यथा व्यालं विलादुद्धरते बलात्।
एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते ॥ २८ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

प्रायश्चित्तवर्णनम् ।

श्ववृकाभ्यां श्रृगालाद्यैर्यदि दष्टस्तु ब्राह्मणः ।
स्नात्वा जपेत गायत्री पवित्रां वेदमातरंम् ॥ १ ॥
गवां श्रृङ्गोदके स्नातो महानद्यास्तु सङ्गमे ।
समुद्रदर्शनाद्वापि शुना दष्टः शुचिर्भवेत् ॥ २ ॥
वेदविद्याव्रतस्नातः शुना दष्टस्तु ब्राह्मणः ।
स हिरण्योदके स्नात्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ ३ ॥
सव्रतस्तु शुना दष्टस्त्रिरात्रं समुपोषितः ।
घृतं कुशोदकं पीत्वा व्रतशेषं समापयेत् ॥ ४ ॥
अव्रतः सव्रतो वापि शुना दष्टो भवेद्द्विजः ।
प्रणिपत्य भवेत् पूतो विप्रैश्चानुनिरीक्षितः ॥ ५ ॥
शुना घ्रातावलीढस्य नखै र्विलिखितस्य च ।
अद्भिः प्रक्षालनाच्छुद्धिरग्निना चोपचूलनम् ॥ ६ ॥
शुना च ब्राह्मणी दष्टा जम्बुकेन वृकेण वा ।
उदितं सोमनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥ ७ ॥
कृष्णपक्षे यदा सोमो न दृश्येत कदाचन ।
यां दिशं व्रजते सोमस्तां दिशञ्चावलोकयेत् ॥ ८ ॥
असद्ब्राह्मणके ग्रामे शुना दष्टस्तु ब्राह्मणः ।
वृषं प्रदक्षिणीकृत्य सद्यः स्नानाद्विशुध्यति ॥ ९ ॥

चाण्डालेन श्वपाकेन गोभिर्विप्रैर्हतो यदि।

आहिताग्निर्मृतो विप्रो विषेणात्महतो यदि।

दहेत्तं ब्राह्मणं विप्रो लोकाग्नौ मन्त्रवर्जितम्॥ १०॥

स्पृष्ट्वा चोह्य च दग्धा च सपिण्डेषु च सर्व्वथा।

प्राजापत्यं चरेत् पश्चाद्विप्राणामनुशासनात्॥ ११॥

दग्ध्वास्थीनि पुनर्गृह्य क्षीरैः प्रक्षालयेद्द्विजः।

पुनर्द्दहेत् स्वकाग्नौ तन्मन्त्रेण च पृथक् पृथक्॥ १२॥

आहिताग्निर्द्विजः कश्चित् प्रवसन् कालचोदितः।

देहनाशमनुप्राप्तस्तात्यग्निर्वर्त्तते गृहे॥ १३॥

श्रौताग्निहोत्रसंस्कारः श्रूयतामृषिसत्तमाः!।

कृष्णाजिनं समास्तीर्य्य कुशैश्च पुरुषाकृतिम्॥ १४॥

षट् शतानि शतञ्चैव पलाशानाञ्च वृन्तकम्।

चत्वारिंशच्छिरे दद्यात् षष्टिं कण्ठे विनिर्दिशेत्॥ १५॥

बाहुभ्याञ्च शतं दद्यादङ्गुलीषु दशैव तु।

शतञ्चोरसि संदद्यात् त्रिंशञ्चैवोदरे न्यसेत्॥ १६॥

अष्टौ वृषणयोर्दद्यत् पञ्चमेढ्रे च विन्यसेत्।

एकविंशतिमूरुभ्यां जानुजङ्घे च विंशतिम्॥ १७॥

पादाङ्गुल्यो शतार्द्धञ्च पात्राणि च तथा न्यसेत्।

शम्यां शिश्ने विनिःक्षिप्य अरणीं वृषणे तथा॥ १८॥

जुहूं दक्षिणहस्तेन वामहस्ते तथोपसत्।

कर्णेचोलूखलं दद्यात् पृष्ठे च मुषलं ततः॥ १९॥

निक्षिप्योरसि दृशदं तण्डुलाज्यतिलान्मुखे।

श्रौत्रे च प्रोक्षणीं दद्यादाज्यस्थालीञ्च चक्षुषोः॥ २०॥

कर्णे नेत्रे मुखे घ्राणे हिरण्यशकलं क्षिपेत्।

अग्निहोत्रोपकरणं गात्रें शेषं प्रविन्यसेत्॥ २१॥

असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेति च घृताहुतीः ।
दद्यात् पुत्रोऽथवा भ्राता ह्यन्ये वापि स्वधर्मिणः ॥ २२ ॥
यथा दहनसंस्कारस्तथा कार्य्यं विचक्षणैः ।
ईदृशन्तु विधिं कुर्य्याद्ब्रह्मलोके गतिध्रुवम् ॥ २३ ॥
ये दहन्ति द्विजास्तन्तु ते यान्ति परमां गतिम् ।
अन्यथा कुर्व्वते किञ्चिदात्मबुद्धिप्रबोधिताः ॥ २४ ॥
भवन्त्यल्पायुपग्ते वै पतन्ति नरके ध्रुवम् ॥ २५ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ।

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

प्राणिहत्याप्रायश्चित्तवर्णनम् ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्राणिहत्यासु निष्कृतिम ।

पराशरेण पूर्व्वोक्तां मन्वर्थेऽपि च विस्मृताम् ॥ १ ॥

हंससारसक्रौश्चांश्च चक्रवाकं सकुक्कुटम् ।

जालपादांश्च शरभमहोरात्रेण शुध्यति ॥ २ ॥

बलाकाटिट्टिभानाञ्च शुकपारावतादिनाम् ।

आटिनाञ्च वकानाञ्च शुद्ध्यते नक्तभोजनात् ॥ ३ ॥

भासकाककपोतानां सारीतित्तिरिघातकः ।

अन्तर्जले उभे सन्ध्ये प्राणायामेन शुध्यति ॥ ४ ॥

गृधश्येनशिखिग्राहचासोलूकनिपातने ।

अपकाशी दिनं तिष्ठेत्रिकालं मारुताशनः ॥ ५ ॥

वल्गुणीचटकानाञ्च कोकिलाखञ्जरीटकान् ।

लावकारक्तपादांश्च शुद्ध्यन्ते नक्तभोजनात् ॥ ६ ॥

कारण्डवचकोराणां पिङ्गलाकुररस्य च ।

भारद्वाजनिहन्ता च शुद्ध्यते शिवपूजनात् ॥ ७ ॥

भेरुण्डश्येनभासञ्च पारावतकपिञ्जलान् ।

पक्षिणामेव सर्वेषामहोरात्रेण शुध्यति ॥ ८ ॥

हत्वा नकुलमार्जारसर्पाजगरडुण्डुभान् ।

कृशरं भोजयेद्विप्रान् लोहदण्डञ्च दक्षिणाम् ॥ ९ ॥

शल्लकीशशकागोधामत्स्यकूर्म्माभिपातने।
वृन्ताकफलभोक्ता च ह्यहोरात्रेण शुध्यति ॥ १० ॥
वृकजम्बूकऋक्षाणां तरक्षूणाञ्च घातने।
तिलप्रस्थं द्विजे दद्याद्वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥ ११ ॥
गजगवयतुरङ्गानां महिषोष्ट्रनिपातने।
शुद्धयते सप्तरात्रेण विप्राणां तर्पणेन च ॥ १२ ॥
मृगं रुरुं वराहञ्च अज्ञानाद्यसतु घातयेत्।
अफालकृष्टमश्नीयादहोरात्रेण शुध्यति ॥ १३ ॥
एवं चतुष्पदानाञ्च सर्वेषां वनचारिणाम्।
अहोरात्रोपितरिष्टेज्जपन् वै जातवेदसम् ॥ १४ ॥
शिल्पिनं कारुकं शूद्रं स्त्रियं वा यस्तु घातयेत्।
प्राजापत्यद्वयं कुर्य्याद्वृषैकादशदक्षिणा ॥ १५ ॥
वैश्यं वा क्षत्रियं वापि निर्द्दोषमभिघातयेत्।
सोऽतिकृच्छ्रद्वयं कुर्य्याद्भोविंशं दक्षिणां ददेत् ॥ १६ ॥
वैश्यं शूद्रं क्रियासक्तं विकर्मस्थं द्विजोत्तमम्।
हत्वा चान्द्रायणं कुर्य्याद्दद्याद्गोर्त्रिंशदक्षिणाम् ॥ १७ ॥
क्षत्रियेणापि वैश्येन शूद्रेणैवेतरेण वा।
चाण्डालबधसंप्राप्तः कृच्छ्रार्द्धेन विशुध्यति ॥ १८ ॥
चौराः श्वपाकचाण्डालां विप्रेणापि हता यदि।
अहोरात्रोपवासेन प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९ ॥
श्वपाकं वापि चाण्डालं विप्रः सम्भाषते यदि।
द्विजसम्भाषणं कुर्य्याद्गायत्री वा सकृज्जयेत् ॥ २० ॥
चाण्डालैः सह सुप्तन्तु त्रिरात्रमुपवासयेत्।
चाण्डालैकपथङ्गत्वा गायत्रीस्मरणाच्छुचिः ॥ २१ ॥
चाण्डालदर्शनेनैव आदित्यमवलोकयेत्।

चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत् ॥ २२ ॥

चाण्डालखातवापीषु पीत्वा सलिलमग्रजः ।

अज्ञानाच्चैव नक्तेन त्वहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥ २३ ॥

चाण्डालभाण्डसंस्पृष्टं पीत्वा कूपगतं जलम् ।

गोमूत्रयावकाहारस्त्रिरात्राच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

चाण्डालोदकभाण्डे तु अज्ञानात् पिबते जलम् ।

तत्क्षणात् क्षिपते यस्तु प्राजापत्यं समाचरेत् ॥ २५ ॥

यदि न क्षिपते तोयं शरीरे यस्य जीर्य्यति ।

प्राजापत्यं न दातव्यं कृच्छ्रं सान्तपनञ्चरेत् ॥ २६ ॥

चरेत् सान्तपनं विप्रः प्राजापत्य तु क्षत्रियः ।

तदर्द्धन्तु चरेद्वैश्यः पादं शूद्रस्य दापयेत् ॥ २७ ॥

भाण्डस्थमन्त्यजानान्तु जलं दधि पयः पिबेत् ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव प्रमादतः ॥ २८ ॥

ब्रह्मकूर्च्चोपवासेन द्विजातीनान्तु निष्कृतिः ।

शूद्रश्य चोपवासेन तथा दानेन शक्तितः ॥ २९ ॥

ब्राह्मणो ज्ञानतो भुङ्क्ते चाण्डालान्नं कदाचन ।

गोमूत्रयावकाहाराट्दशरात्रेण शुध्यति ॥ ३० ॥

एकैकं ग्रासमश्नीयाद्गोमूत्रयावकस्य च ।

दशाहनियमस्थस्य व्रतं तत्र विनिर्द्दिशेत् ॥ ३१ ॥

अविज्ञातश्च चाण्डालः सन्तिष्ठेत्तस्य वेश्मनि ।

विज्ञाते तूपसंन्यस्य द्विजाः कुर्वन्त्यनुग्रहम् ॥ ३२ ॥

ऋषियक्ताच्छूता धर्म्मास्त्रायन्ते वेदपावनाः ।

पतन्तमुद्धरेयुस्ते धर्मज्ञाः पापसङ्कटात् ॥ ३३ ॥

दध्ना च सर्पिषा चैव क्षीरगोमूत्रयावकम् ।

भुञ्जीत सह सर्वैश्च त्रिसन्ध्यमवगाहनम् ॥ ३४ ॥

त्र्यहं भुञ्जीत दध्ना च त्र्यहं भुञ्जीत सर्पिषा।
त्र्यहं क्षीरेण भुञ्जीत एकैकेन दिनत्रयम्॥ ३५॥
भावदुष्टं न भुञ्जीयान्नोच्छिष्टं कृमिदूषितम्।
त्रिपलं दधिदुग्धस्य पलमेकन्तु सर्पिषः॥ ३६॥
भस्मना तु भवेच्छुद्धिरुभयोस्ताम्रकांस्ययोः।
जलशौचेन वस्त्राणां परित्यागेन मृण्मयम्॥ ३७॥
कुसुम्भगुड़कार्पासलवणं तैलसर्पिषी।
द्वारे कृत्वा तु धान्यानि गृहे दद्याद्धुताशनम्॥ ३८॥
एवं शुद्धस्ततः पश्चात् कुर्य्याद्ब्राह्मणभोजनम्।
त्रिशतं गा वृषञ्चैकं दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम्॥ ३९॥
पुनर्लेपनया तेन होमजप्येन शुध्यति।
आधारेण च विप्राणां भूमिदोषो न विद्यते॥ ४०॥
रजकी चर्मकारी च लुब्धकस्य च पुक्कसी।
चातुर्वर्ण्यगृहे यस्य ह्यज्ञानादधितिष्ठति॥ ४१॥
ज्ञात्वा तु निष्कृतिं कुर्य्यात् पूर्व्वोक्तस्यार्द्धमेव च।
गृहदाहं न कुर्व्वीताप्यन्यत् सर्वञ्च कारयेत्॥ ४२॥
गृहस्याभ्यन्तरे गच्छेच्चाण्डालो यस्य कस्यचित्।
तस्माद्गृहाद्विनिःसृत्य गृहभाण्डानि वर्जयेत्॥ ४३॥
रसपूर्णन्तु यद्भाण्डं न त्यजेच्च कदाचन।
गोरसेन तु संमिश्रैर्जलैः प्रोक्षेत् समन्ततः॥ ४४॥
ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे।
कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत्॥ ४५॥
गवां मूत्रपुरीषेण दध्ना क्षीरेण सर्पिषा।
त्र्यहं स्नात्वा च पीत्वा कृमिदुष्टः शुचिर्भवेत्॥ ४६॥
क्षत्रियोऽपि सुवर्णस्य पञ्च माषान् प्रदापयेत्।

गोदक्षिणान्तु वैश्वस्याप्युपवासं विनिर्दिर्दशेत् ॥ ४७ ॥
शूद्राणां नोपवासः स्याच्छुद्रो दानेन शुध्यति ।
ब्राह्मणांस्तु नमस्कृत्य पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ४८ ॥
अच्छिद्रमिति यद्वाक्यं वदन्ति क्षितिदेवताः ।
प्रणम्य शिरसा धार्य्य मग्निष्टोमफलं हि तत् ॥ ४९ ॥
व्याधिव्यसनिनि श्रान्ते दुर्भिक्षे डामरे तथा ।
उपवासो व्रतो होमो द्विजसम्पादितानि वा ॥ ५० ॥
अथवा ब्राह्मणास्तुष्टाः स्वयं कुर्व्वन्तयनुग्रहम् ।
सर्वधर्ममवाप्नोति द्विजैः सम्बर्द्धिताशिषा ॥ ५१ ॥
दुर्ब्बलेऽनुग्रहः कार्य्यस्तथा वै बालवृद्धयोः ।
अतोऽन्यथा भवेद्दोषस्तस्मान्नानुग्रहः स्मृतः ॥ ५२ ॥
स्नेहाद्वा यदि वा लोभाद्भयादज्ञानतोऽपि वा ।
कुर्वन्त्यनुग्रहं ये वै तत्पापं तेषु गच्छति ॥ ५३ ॥
शरीरस्यात्यये प्राप्ते वदन्ति नियमन्तु ये ।
महत्कार्य्योपरोधेन न स्वस्थस्य कदाचन ॥ ५४ ॥
स्वस्थस्य मूढाः कुर्वन्ति नियमन्तु वदन्ति ये ।
ते तस्य विघ्नकर्त्तारः पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ ५५ ॥
स एव नियमस्त्याज्यो ब्राह्मणं योऽवमन्यते ।
वृथा तस्योपवासः स्यान्न स पुण्येन युज्यते ॥ ५६ ॥
स एव नियमो ग्राह्यो यं यं कोऽपि वदिदेद्द्विजः ।
कुर्य्याद्वाक्यं द्विजानाञ्च अकुर्वन् ब्रह्महा भवेत् ॥ ५७ ॥
उपवासो व्रतञ्चैव स्नानं तीर्थं जपस्तपः ।
विप्रैः सम्पादितं यस्य सम्पन्नं तस्य तद्भवेत् ॥ ५८ ॥
व्रतच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि ।
सर्वं भवति निच्छिद्रं ब्राह्मणैरुपपादितम् ॥ ५९ ॥

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं निर्जलं सर्वकामदम्।
तेषां वाक्योदकेनव शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः ॥ ६० ॥
ब्राह्मणा यानि भाषन्ते भाषन्ते तानि देवताः ।
सर्ववेदमया विप्रा न तद्वचनमन्यथा ॥ ६१ ॥
अन्नाद्ये कीटसंयुक्ते मक्षिकाकीटदूषिते ।
अन्तरा संस्पृशेच्चापरतदन्नं भस्मना स्पृशेत् ॥ ६२ ॥
भुञ्जानो हि यदा विप्रः पादं हस्तेन संसपृशेत्।
उच्छिष्टं हि स वै भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते भुक्तभाजने ॥ ६३ ॥
पादुकात्थो न भञ्जीत पर्य्यङ्के संस्थितोऽपिवा ।
शुना चाण्डालदृष्टो वा भोजनं प्ररिवर्जयेत् ॥ ६४ ॥
पकान्नञ्च निषिद्धं यदन्नशुद्धिस्तथैव च ।
यथा पराशरेणोक्तं तथैवाहं वदामि व ॥ ६५ ॥
मितं द्रोणाढकस्यान्नं काकश्वानोपघातितम्।
केनैतच्छुद्धयते चान्नं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥ ६६ ॥
काकश्वानावलीडन्तु द्रोणान्नं न परित्यजेत्।
वेदवेदाङ्गविद्विप्रैर्धर्मशास्त्रानुपालकैः ॥ ६७ ॥
प्रस्था द्वात्रिंशतिद्रोणः स्मृतो द्विप्रस्थ आढकः ।
ततो द्रोणाढकस्यान्नं श्रुतिस्मृतिविदो विदुः ॥ ६८ ॥
काकश्वानावलीढं तु गवाघ्रातं स्वरेण वा ।
स्वल्पमन्नं त्यजेद्विप्रः शुद्धिर्द्रोणाढके भवेत् ॥ ६९ ॥
अन्यस्योद्धृत्य तन्मात्रं यच्च नोपहतं भवेत्।
सुवर्णोदकमभ्युक्ष्य हुताशेनैव तापयेत् ॥ ७० ॥
हुताशनेन संस्पृष्टं सुवर्णसलिलेन च ।
विप्राणां ब्रह्मघोषेण भोज्यं भवति तत् क्षणात् ॥ ७१ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

द्रव्यशुद्धिवर्णनम्।

अथातो द्रव्यसंशुद्धिः पराशरवचोयथा।
दारवाणान्तु पात्राणां तक्षणाच्छुद्धिित्तिष्यते ॥ १ ॥
मार्ज्जनाद्यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
चमसानां ग्रहाणाञ्च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ २ ॥
चरूणां श्रुक्स्त्रुवाणाञ्च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
भस्मना शुद्ध्यते कास्यं ताम्रमम्लेन शुध्यति ॥ ३ ॥
रजसा शुद्ध्यते नारी विकलं या न गच्छति।
नदी वेगेन शुद्ध्येत लेपो यदि न दृश्यते ॥ ४ ॥
वापीकूपतड़ागेषु दूषितेषु कथञ्चन।
ऊद्धृत्य वै घटशतं पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ५ ॥
अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्व रजस्वला ॥ ६ ॥
प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिबन्ति पितरः स्वयम् ॥ ७ ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैवच।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ ८ ॥
यस्तां समुद्वहेत् कन्यां ब्राह्मणोऽज्ञानमोहितः।
असम्भाष्यो ह्यपाङ्क्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः ॥ ९ ॥

यः करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनं द्विजः ।
स भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्विशुध्यति ॥ १० ॥
अस्तं गते यदा सूर्य्ये चाण्डालं पतितं स्त्रियम् ।
सूतिकांस्पृशतश्चैव कथं शुद्धिर्विधीयते ॥ ११ ॥
जातवेदं सुवर्णञ्च सोममार्गं विलोक्य च ।
ब्राह्मणानुगतश्चैव स्नानं कृत्वा विशुध्यति ॥ १२ ॥
स्पृष्टवा रजस्वलान्योन्यं ब्राह्मणी ब्राह्मणी तथा ।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ १३ ॥
स्पृष्ट्वा रजस्वलान्योन्यं ब्राह्मणी क्षत्रिया तथा ।
अर्द्धकृच्छ्रं चरेत् पूर्वा पादमेकमनन्तरा ॥ १४ ॥
स्पृष्ट्वा रजस्वलान्योन्यं ब्राह्मणी वैश्यजा तथा ।
पादोनं चैव पूर्व्वायाः परायाः कृच्छ्रपादकम् ॥ १५ ॥
स्पृष्ट्वा रजस्वलान्योन्यं ब्राह्मणी शूद्रजा तथा ।
कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्रा दानेन शुध्यति ॥ १६ ॥
स्नाता रजस्वला या तु चतुर्थेऽहनि शुध्यति ।
कुर्य्याद्रजोनिवृत्तौ तु दैवपित्रयादिकर्म च ॥ १७ ॥
रोगेण यद्रजः स्त्रीणामन्वहन्तु प्रवर्त्तते ।
नाशुचिः सा ततस्तेन तत् स्याद्वैकालिकं मतम् ॥ १८ ॥
प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी ।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति ॥ १९ ॥
आतुरे स्नानामुत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः ।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुद्ध्येत् स आतुरः ॥ २० ॥
उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पृष्टः शुना शूद्रेण वा द्विजः ।
उपोष्य रजनीमेकां पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ २१ ॥
अनुच्छिष्टेन शूद्रेण स्नानं स्पर्शे विधीयते ।

उच्छिष्टेन च संस्पृष्टः प्राजापत्यं समाचरेत् ॥ २२ ॥

भस्मना शुद्ध्यते कांस्यं सुरया यन्न लिप्यते ।

सुरामात्रेण संस्पृष्ट शुद्ध्यतेऽग्न्युपलेपनैः ॥ २३ ॥

गवाघ्रातानि कांस्यानि श्वकाकोपहतानि च ।

शुद्ध्यन्ति दशभिः क्षारैः शूद्रोच्छिष्टानि यानि च ॥ २४ ॥

गण्डूपं पादशौचञ्च कृत्वा वै कांस्यभाजने ।

षण्मासाद् भुवि निक्षिप्य उद्धृत्य पुनराहरेत् ॥ २५ ॥

आयसेष्वपसारेण सीसस्याग्नौ विशोधनम् ।

दन्तमस्थि तथा शृङ्गं रौप्यं सौवर्णभाजनम् ॥ २६ ॥

मणिपाषाणशङ्खाश्च एतान् प्रक्षालयेज्जलैः ।

पाषाणे तु पुनर्धृष्टिरेपा शुद्धिरुदाहता ॥ २७ ॥

मृदभाण्डदहनाच्छुद्धिर्धान्यानां मार्जनादपि ।

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ॥ २८ ॥

प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ।

वेणुबल्कलचीराणां क्षौमकार्पासवाससाम् ॥ २९ ॥

और्णानां नेत्रपट्टानां जलाच्छौचं विधीयते ।

तूलिकाद्युपधानानि पीतरक्ताम्बराणि च ॥ ३० ॥

शोषयित्वार्कतापेन प्रोक्षयित्वा शुचिर्भवेत्

मुञ्जोपस्करसूर्पाणां शाणस्य फलचर्मणम् ॥ ३१ ॥

तृणकाष्ठादिरज्जूना मुदकप्रोक्षणं मतम् ।

मार्जारमक्षिकाकीटपतङ्गकृमिदर्दुराः ॥ ३२ ॥

मेध्यामेव्यं स्पृशन्त्येव नोच्छिष्टान् मनुरब्रवीत् ।

भूमिं स्पृष्टवा गतं तोयं यश्चाप्यन्योन्यविप्रुषः ॥ ३३ ॥

भुक्तवोच्छिष्टं तथास्नेहं नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत ।

ताम्बूलेक्षुफले चैव भुक्तस्नेहानुलेपने ॥ ३४ ॥

मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टं मनुरब्रवीत्।
रथ्याकदर्दमतोयानि नावः पन्थास्तृणानि च ॥ ३५ ॥
मरुतार्केण शुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च।
अदुष्टा सन्तता धारा वातोद्धूताश्च रेणवः ॥ ३६ ॥
स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च न दुष्यन्ति कदाचन।
क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते ॥ ३७ ॥
पतितानाञ्च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्।
अग्निरापश्च वेदाश्च सोमसूर्य्यानिलास्तथा ॥ ३८ ॥
एते सर्व्वेऽपि विप्राणां श्रोत्रे तिष्ठन्ति दक्षिणे।
प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा ॥ ३९ ॥
विंप्रस्य दक्षिणे कर्णे सान्निध्यं मनुरब्रवीत्।
देशभङ्के प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि ॥ ४० ॥
रक्षेदेव स्तदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत्।
येनकेन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च ॥ ४१ ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत्।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्म्मं समाचरेत् ॥ ४२ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः।

।। अष्टमोऽध्यायः ।।

धर्माचरणवर्णनम्।

गवां बन्धनयोक्त्रेतु भवेन्मृत्युरकामतः ।

अकामात् कृतपापस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ।। १ ।।

वेदवेदाङ्गविदुषां धर्मशास्त्रं विजानताम्।

स्वकर्मरतविप्राणां स्वकं पापं निवेदयेत्।। २ ।।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि उपस्थानस्य लक्षणम्।

उपस्थितो हि न्यायेन व्रतदेशनमर्हति ।। ३ ।।

सद्योनिशंसये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः ।

भुञ्जानो वर्द्धयेत् पापं पर्शद्यत्र न विद्यते ।। ४ ।।

शंसये तु न भोक्तव्यं यावत् कार्यविनिश्चयः ।

प्रमादश्च न कर्त्तव्यो यथैवाशंसयस्तथा ।। ५ ।।

कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विवर्द्धते ।

स्वल्पं बाथ प्रभूतं वा धर्मविद्भ्यो निवेदयेत्।। ६ ।।

ते हि पापे कृते वेद्या हन्तारश्चैव पाप्मनाम्।

व्याधितस्य यथा वैद्या बुद्धिमन्तो रुजापहाः ।। ७ ।।

प्रायश्चित्ते समुत्पन्नें ह्रीमान् सत्यपरायणः ।

मुहुरार्जवसम्पन्नः शुद्धिं गच्छेत मानवः ।। ८ ।।

सचैलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः ।

क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा ततः पर्षद माव्रजेत्।। ९ ।।

उपस्थाय ततः शीघ्रमार्त्तिमान् धरणी व्रजेत् ।
गात्रैश्च शिरसा चैव न च किञ्चिदुदाहरेत् ॥ १० ॥
सावित्रयाश्चापि गायत्र्याः सन्ध्योपारत्यग्निकार्ययोः ।
अज्ञानात् कृषिकर्त्तारो ब्राह्मणा नामधारकाः ॥ ११ ॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ १२ ॥
यद्वदन्ति तमोमूढा मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तुरधि गच्छति ॥ १३ ॥
अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः ।
प्रायश्चित्तीभवेत् पूतः किल्विषं परिषद्व्रजेत् ॥ १४ ॥
चत्वारो वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरैस्तु सहस्रशः ॥ १५ ॥
प्रमाणमार्गं मार्गन्तो ये धर्मं प्रवदन्ति वै ।
तेषामुद्विजते पापं सम्भूतगुणवादिनाम् ॥ १६ ॥
यथाश्मनि स्थितं तोयं मारुतार्केण शुद्ध्यति ।
एवं परिष दादेशान्नाशयेदेव दुष्कृतम् ॥ १७ ॥
नैव गच्छति कर्त्तारं नैव गच्छति पर्षदम् ।
मारुतार्कादिसंयोगात् पापं नश्यति तोयवत् ॥ १८ ॥
अनाहिताग्नयो येऽन्ये वेदवेदाङ्गपारगाः ।
पञ्च त्रयो वा धर्म्मज्ञाः परिषत् सा प्रकीर्त्तिता ॥ १९ ॥
मुनीनामात्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम् ।
वेदव्रतेषु स्नातानामेकोऽपि परिषद्भवेत् ॥ २० ॥
पञ्च पूर्वं मया प्रोक्तस्तेषाञ्चैव स्वसम्भवे ।
स्ववृत्तिपरितुष्टा ये परिषत् सा प्रकीर्तिता ॥ २१ ॥

अत ऊर्ध्वन्तु ये विप्राः केवलं नामधारकाः ।
परिषत्त्वं न तेषां वै सहस्रगुणितेष्वपि ॥ २२ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणस्त्वनधीयानास्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ २३ ॥

ग्रामस्थानं यथा शून्यं यथा कूपस्तु निर्जलः ।
यथा हूतमनग्नौ च अमन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ २४ ॥

यथा षण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौरूषराफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं यथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ २५ ॥

चित्रं कर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकः ॥ २६ ॥

प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति ये द्विजा नामधारकाः ।
ते द्विजा पापकर्माणः समेता नरकं ययुः ॥ २७ ॥

ये पठन्ति द्विजा वेदं पञ्चयज्ञरताश्च ये ।
त्रैलोक्यं धारयन्त्येते पञ्चेन्द्रियरताश्रयाः ॥ २८ ॥

सम्प्रणीतः श्मशानेषु दीप्तोऽग्निः सर्वभक्षकः ।
तथैव ज्ञानवान् विप्रः सर्वभक्षश्च दैवतम् ॥ २९ ॥

अमेध्यानि च सर्वाणि प्रक्षिपन्तयुदके यथा ।
तथैव किल्विषं सर्वं प्रक्षेप्तव्यं द्विजेऽमले ॥ ३० ॥

गायत्रीरहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत् ।
गायत्रीब्रह्मातत्त्वज्ञाः संपूज्यन्ते द्वितोत्तमाः ॥ ३१ ॥

दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः ।
कः परीत्यज्य दुष्टाङ्गां दुहेच्छ्वीलवती खरीम् ॥ ३२ ॥

धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः ।
क्रीड़ार्थमपि यद्ब्रूयुः स धर्मः परमःस्मृतः ॥ ३३ ॥

चातुर्वेद्यो विकल्पी च अङ्गविद्धर्मपालकः ।
प्रपञ्चाश्रमिणो मुख्याः परिषत् स्युर्दशावराः ॥ ३४ ॥
राज्ञाश्चानुमते चैव प्रायश्चित्तं द्विजो वदेत् ।
स्वयमेव न वक्तव्या प्रायश्चित्तस्य निष्कृतिः ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणांश्च व्यतिक्रम्य राजा यत् कर्त्तुमिच्छति ।
तत्पापं शतधा भूत्वा राजानमुपगच्छति ॥ ३६ ॥
प्रायश्चित्तं सदा दद्याद्देवतायतनाग्रतः ।
आत्मानं पावयेत् पश्चान्जपन् वै वेदमातरम् ॥ ३७ ॥
सशिखं वपनं कृत्वा त्रिसन्ध्यमवगाहनम् ।
गवां गोष्ठे वसेद्रात्रौ दिवा ताः समनुव्रजेत् ॥ ३८ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्व्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ३९ ॥
आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तश्चैव वत्सकम् ॥ ४० ॥
पिवन्तीषु पिबेत्तोयं सम्बिशन्तीषु संविशेत् ।
पतितां पङ्कमग्नां वा सर्वप्राणैः समुद्धरेत् ॥ ४१ ॥
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ।
मुच्यते ब्रह्महत्याद्यैर्गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ४२ ॥
गोबधस्यानुरूपेण प्राजापत्यं विनिर्दिर्द्दशेत् ।
प्राजापत्यन्तु यत्कृच्छ्रं विभजेत्तचतुर्विधम् ॥ ४३ ॥
एकाहमेकभक्ताशी एकाहं नक्तभोजनः ।
अयाचिताश्येकमहरेकाहं मारुताशनः ॥ ४४ ॥
दिनद्वयं चैकभक्तोद्विदिनं नक्तभोजनः ।
दिनद्वयमयाची स्याद्द्विदिनं मारुताशनः ॥ ४५ ॥
त्रिदिनच्चैकभक्ताशी त्रिदिनं नक्तभोजनः ।

दिनत्रयमयाची स्यात्रिदिनं मारुताशनः ॥ ४६ ॥

चतुरहन्त्वेकभक्ताशी चतुरहं नक्तभोजनः ।

चतुर्दिनमयाची स्याच्चतुरहं मारुताशनः ॥ ४७ ॥

प्राश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्य्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।

विप्राय दक्षिणां दद्यात् पवित्राणि जपेद्द्विजः ॥ ४८ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु गोघ्नः शुद्धो न शंसयः ॥ ४९ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रेऽष्टमोऽध्यायः ।

।। नवमोऽध्यायः ।।

गोसेवोपदेशवर्णनम् ।

गवां संरक्षणार्थाय न दुष्येद्रोधबन्धयोः ।
तद्बधन्तु न तं विद्यात् कामात् कामकृतन्तथा ।। १ ।।
अङ्गुष्ठमात्रः स्थूलो वा बाहुमात्रः प्रमाणतः ।
आर्द्रस्तु सपलाशश्च दण्ड इत्यभिधीयते ।। २ ।।
दण्डादूर्द्ध्वं यदन्येन प्रहरेद्वा निपातयेत् ।
प्रायश्चित्तं चरेत् प्रोक्तं द्विगुणं गोव्रतश्चरेत् ।। ३ ।।
रोधबन्धनयोक्त्वाणि घातनञ्च चतुर्विधम् ।
एकपादञ्चरेद्रोधे द्विपादं बन्धने चरेत् ।। ४ ।।
योक्तत्रेषु पादहीनं स्याञ्चरेत् सर्व निपातने ।
गोचारे च गृहे वापि दुर्गेष्वपि समेष्वपि ।। ५ ।।
नदीष्वपि समुद्रेषु खातेऽप्यथ दरीमुखे ।
दग्धदेशे स्थिताः गावः स्तम्भनाद्रोध उच्यते ।। ६ ।।
योक्त्रदामकडोरैश्च घण्टाभरणभूषणैः ।
गृहे वापि बने वापि बद्धा स्याद्गौर्मृता यदि ।। ७ ।।
तदेव बन्धनं विद्यात् कामाकामकृतञ्च यत् ।
मृल्लेखे शकटे पंक्तो भारे वा पीड़ितो नरैः ।। ८ ।।
गोपतिर्मृत्युमाप्नोति योक्त्रो भवति तदवधः ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तश्चेतनो वाप्यचेतनः ।। ९ ।।

कामाकामकृतक्रोधोदण्डैर्हन्यदथोपलैः ।
प्रहता वा मृता वापि तद्धि हेतुर्निपातने ॥ १० ॥
मूर्च्छितः पतितो वापि दण्डेनाभिहतः स तु ।
उत्थितस्तु यदा गच्छेत् पञ्च सप्त दशैव वा ॥ ११ ॥
ग्रासं वा यदि गृहणीयात्तोयं वापि पिवेद्यदि ।
पूर्वव्याध्युपसृष्टश्चेत् प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ १२ ॥
पिण्डस्थे पादमेकन्तु द्वौ पादौ गर्भसम्मिते ।
पादोनं व्रतमुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम् ॥ १३ ॥
पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च ।
त्रिपादे तु शिखावर्जं सशिखन्तु निपातने ॥ १४ ॥
पादे वस्त्रयुगञ्चैव द्विपदे कांस्यभाजनम् ।
पादोने गोवृषं दद्याच्चतुर्थे गोद्वयं स्मृतम् ॥ १५ ॥
निष्पन्नसर्वगात्रन्तु दृश्यते वा सचेतनम् ।
अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्ने द्विगुणं गोव्रतं चरेत् ॥ १६ ॥
पाषाणे नैव दण्डेन गावो येनाभिघातिताः ।
श्रृङ्गभृङ्गे चरेत् पादं द्वौ पादौ तेन यातने ॥ १७ ॥
लाङ्गूले कृच्छ्रपादन्तु द्वौ पादावस्थिभञ्जने ।
त्रिपादञ्चैव कर्णे तु चरेत् सर्व निपातने ॥ १८ ॥
श्रृङ्गभृङ्गेऽस्थिभङ्गे च कटिभङ्गे तथैव च ।
यदि जीवति षणमासान् प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ १९ ॥
व्रणभङ्गे च कर्त्तव्यः स्नेहाभ्यङ्गस्तु पाणिना ।
यवसञ्चापहर्त्तव्वयो यावदद्दढबलो भवेत् ॥ २० ॥
यावत्सम्पूर्णसर्वाङ्गस्तावत्तं पोषयेन्नरः ।
गोरूपं ब्राह्मणस्यागने नमस्कृत्य विवर्जयेत् ॥ २१ ॥
यद्यसम्पूर्णसर्वाङ्गो हीनदेहो भवेत्तदा ।

गोघातकस्य तस्यार्द्धं प्रायश्चित्तं विनिदिर्द्दशेत् ॥ २२ ॥
काष्ठलोष्ट्रकपाषाणैः शस्त्रेणैवोद्धतो बलात् ।
व्यापादयति यो गान्तु तस्य शुद्धि विनिदिर्द्दशेत् ॥ २३ ॥
चरेत् सान्तपनं काष्ठे प्राजापत्यन्तु लोष्ट्रके ।
तप्तकृच्छन्तु पाषाणे शस्त्रे चैवातिकृच्छ्रकम् ॥ २४ ॥
पञ्च सान्तपने गावः प्राजापत्ये तथा त्रयः ।
तप्तकृच्छ्रे भवेन्त्यष्टावतिकृच्छ्रे त्रयोदश ॥ २५ ॥
प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत्प्रतिरूपकम् ।
तस्यानुरूपं मूल्यं वा दद्यादित्यब्रवीन्मनुः ॥ २६ ॥
अन्यत्राङ्कनलक्ष्मभ्यां वाहने मोहने तथा ।
सायं संयमनार्थः तु न दुष्येद्रोधबन्धयोः ॥ २७ ॥
अतिदाहेऽतिवाहे च नासिकाभेदने तथा ।
नदीपर्वतसञ्चारे प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ २८ ॥
अतिदाहे चरेत्पादं द्वौ पादौ वाहने चरेत् ।
नासिके पादहीनं तु चरेत्सर्वं निपातने ॥ २९ ॥
दहनाञ्च विपद्येत अबद्धो वापि यन्त्रितः ।
उक्तं पाराशरेणैव ह्येकपादं यथाविधि ॥ ३० ॥
रोधबन्धनयोक्त्रञ्च भारः प्रहरणन्तथा ।
दुर्गप्रेरणयोक्त्रश्च निमित्तानि वधस्य षट् ॥ ३१ ॥
बन्धप्राशसुगुप्ताङ्गो म्रियते यदि गोपशुः ।
भवने तत्त्व नाशस्थ पापं कृच्छ्रार्द्धमर्हति ॥ ३२ ॥
न नारिकेलैर्नच शाणबालै-
र्नचापि मौञ्जेन च बन्धनश्रृङ्खलैः ।
एतैस्तु गावो न निबन्धनीया-
बद्धवातु तिष्ठेत् परशुंगृहीत्वा ॥ ३३ ॥

कुशैः काशैश्च बध्नीयाद्गोपशुं दक्षिणामुखम् ।
पाशलग्नादिदग्धेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ३४ ॥
यदि तत्र भवेत् काण्डं प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ।
जपित्वा पावनीं देवीं मुच्यते तत्र किल्विषात् ॥ ३५ ॥
प्रेरयन् कूपवापीषु वृक्षच्छेदेषु पातयन् ।
गवाशनेषु विक्रीणंस्ततः प्राप्नोति गोबधम् ॥ ३६ ॥
आराधितस्तु यः कश्चिद्भिन्नकक्षो यदा भवेत् ।
श्रवणं हृदयं भिन्नं मग्नौ वा कूटसङ्कटे ॥ ३७ ॥
कूपादुत्क्रमणे चैव मग्नो वा ग्रीवपादयोः ।
स एव म्रियते तत्र त्रीन पादांस्तु समाचरेत् ॥ ३८ ॥
कूपखाते तटीबन्धे नदीबन्धे प्रपासु च ।
पानीयेषु विपन्नानां प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ३९ ॥
कूपखाते तटीखाते दीर्घखाते तथैव च ।
अन्येषु धर्मपातेषु प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ४० ॥
वेश्मद्वारे निवासेषु यो नरः खातमिच्छति ।
स्वकार्यगृहखातेषु प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ ४१ ॥
निशि बन्धनिरुद्धेषु सर्पव्याघ्रहतेषु च ।
अग्निविद्युद्विपन्नानां प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ४२ ॥
ग्रामघाते शरौघेण वेश्मबन्धनिपातने ।
अतिवृष्टिहतानाञ्च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ४३ ॥
संग्रामे प्रहतानाञ्च ये दग्धा वेश्मकेषु च ।
दावाग्नि ग्रामघाते वा प्रायश्चित्तं च विद्यते ॥ ४४ ॥
यन्त्रिता गौश्चिकित्सार्थं मूढगर्भविमोचने ।
यत्ने कृते विपद्येत प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ ४५ ॥

व्यापन्नानां बहूनाञ्च बन्धने रोधनेऽपिवा।
भिषग्मिथ्याप्रचारे च प्रायश्चितं विनिर्दिशेत्॥ ४६ ॥
गोवृषाणां विपत्तौ च यावन्तः प्रेक्षका जनाः।
न वारयन्ति तां तेषां सर्वेषां पातकं भवेत्॥ ४७ ॥
एको हतोयैर्बहुभिः समेतै-
र्नज्ञायते यस्य हतोऽभिधानात्।
दिव्येन तेषामुपलभ्य हन्ता
निवर्त्तनीयो नृपसन्नियुक्तैः ॥ ४८ ॥
एका चेद्बहुभिः कापि दैवाद्व्यापादिता भवेत्।
पादं पादञ्च हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक् पृथक्॥ ४९ ॥
हतेषु रुधिरं दृश्यं व्याधिग्रस्तः कृशो भवेत्।
नाना भवति दृष्टेषु एवमन्वेषणं भवेत्॥ ५० ॥
मनुना चैवमेकेन सर्वशास्त्राणि जानता।
प्रायश्चित्तन्तु तेनोक्तं गोपु चान्द्रायणं चरेत्॥ ५१ ॥
केशानां रक्षणार्थाय द्विगुणं गोव्रतं चरेत्।
द्विगुणे व्रत आदिष्टे दक्षिणा द्विगुणा भवेत्॥ ५२ ॥
राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः।
अकृत्वा वपनं तस्य प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ ५३ ॥
यस्य न द्विगुणं दानं केशञ्च परिरक्षितः।
तत्पापं तस्य तिष्ठेत वक्ता च नरकं व्रजेत्॥ ५४ ॥
यत्किञ्चित् क्रियते पापं सर्वकेशेषु तिष्ठति।
सर्वान् केशान् समुद्धृत्य च्छेदयेदङ्गुलिद्वयम्॥ ५५ ॥
एवं नारीकुमारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम्।
न स्त्रियाः केशवपनं न दूरे शयनाशनम्॥ ५६ ॥

न च गोष्ठे वसेद्रात्रौ न दिवा गा अनुव्रजेत् ।
नदीषु सङ्गमे चैव अरण्येषु विशेषतः ॥ ५७ ॥
न स्त्रीणामजिनं वासो व्रतमेवं समाचरेत् ।
त्रिसन्ध्यं स्नानमित्युक्तं सुराणामर्चनं तथा ॥ ५८ ॥
बन्धुमद्ये व्रतं तासां कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् ।
गृहेषु नियतं तिष्ठेच्छुचिर्नियममाचरेत् ॥ ५९ ॥
इह यो गोबधं कृत्वा प्रच्छादयितुमिच्छति ।
स याति नरकं घीरं कालसूत्रमसंशयम् ॥ ६० ॥
विमुक्तो नरकात्तस्मान्मर्त्यलोके प्रजायते ।
क्लीवो दुःखी च कुष्ठी च सप्त जन्मानि वै नरः ॥ ६१ ॥
तस्मात् प्रकाशयेत् पापं स्वधर्म सततं चरेत् ।
स्त्रीवालभृत्यगोविप्रेष्वति कोपं विवर्जयेत् ॥ ६२ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे नवमोऽध्यायः ।

॥ दशमोऽध्यायः ॥

अगम्यागमनप्रायश्चित्तवर्णनम्।

चातुर्वर्ण्यस्य सर्वत्र हीयं प्रोक्ता तु निष्कृतिः ।
अगम्यागमने चैव शुद्धौ चान्द्रायणञ्चरत् ॥ १ ॥
एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्।
अमावास्यां न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥ २ ॥
कुक्कुटाण्डप्रमाणन्तु ग्रासञ्च परिकल्पयेत्।
अन्यथा भावदुष्टस्य न धर्मो नैव शुद्धयति ॥ ३ ॥
प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्य्याद्ब्राह्मणभोजनम्।
गोद्वयं वस्त्रयुग्मञ्च दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम् ॥ ४ ॥
चाण्डालीञ्च श्वपाकीञ्च ह्यभिगच्छति यो द्विजः ।
त्रिरात्रमुपवासी स्याद्विप्राणामनुशासनात् ॥ ५ ॥
सशिखं वपनं कुर्यात् प्राजापत्यत्रयञ्चरेत्।
ब्रह्मकूर्च्चं ततः कृत्वा कुर्य्याद्ब्राह्मणतर्पणम् ॥ ६ ॥
गायत्रीञ्च जपेन्नित्यं दद्याद्गोमिथुनद्वयम्।
विप्राय दक्षिणां दद्याच्छुद्धिमाप्नोत्यसंशयम् ॥ ७ ॥
क्षत्रियश्चापि वैश्यो वा चाण्डालीं गच्छतो यदि।
प्राजापत्यद्वयं कुर्य्याद्दद्याद्गोमिथुनन्तथा ॥ ८ ॥
श्वपाकीमथ चाण्डालीं शूद्रो वै यदि गच्छति।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं दद्याद्गोमिथुनन्तथा ॥ ९ ॥

मातरं यदि गच्छेत भगिनीं पुत्रिकान्तथा।
एतास्तु मोहितो गत्वा त्रीन् कृच्छ्रांस्तु समाचरेत्॥ १० ॥
चान्द्रायणत्रयं कुर्य्याच्छिश्नछेदेन शुद्धयति।
मातृस्वसृगमे चैव आत्मभेदनिदर्शनम्॥ ११ ॥
अज्ञानात्तान्तु यो गच्छेत् कुर्य्याश्चान्द्रायणाद्वयम्।
दशगोमिथुनन्दद्यच्छुद्धिं पाराशरोऽब्रवीत्॥ १२ ॥
पितृदारान् समारुह्य मातुराप्ताश्च भ्रातृजाम्।
गुरुपत्नीं स्नुषाञ्चैव भ्रातृभार्य्यां तथैव च॥ १३ ॥
मातुलानीं सगोत्राञ्च प्राजापत्यत्रयञ्चरेत्।
गोद्वयं दक्षिणां दत्त्वा शुद्धयते नात्र संशयः॥ १४ ॥
पशुवेश्यादिगमने महिष्युष्ट्रीकपीस्तथा।
खरीञ्च शूकरीं गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्॥ १५ ॥
गोगामी च त्रिरात्रेण गामेकं ब्राह्मणे ददत्।
महिष्युष्ट्रीखरीगामी त्वहोरात्रेण शुद्धयति॥ १६ ॥
डामरे समरे वापि दुर्भिक्षे वा जनक्षये।
वन्दिग्राहे भयार्त्ते वा सदा स्वस्त्रीं निरीक्षयेत्॥ १७ ॥
चाण्डालैः सह सम्पर्क या नारी कुरुते ततः।
विप्रान् दश वरान् गत्वा स्वकं दोषं प्रकाशयेत्॥ १८ ॥
आकण्ठसम्मिते कूपे गोमयोदकर्दमे।
तत्र स्थित्वा निराहारा त्वेकरात्रेण निष्क्रमेत्॥ १९ ॥
सशिखं वपनं कृत्वा भुञ्जीत्याद्यावकौदनम्।
त्रिरात्रमुपवासित्वा ह्येकरात्रं जलं वसेत्॥ २० ॥
शङ्खपुष्पीलतामूलं पत्रञ्च कुसुमं फलम्।
सुवर्ण पञ्चगव्यञ्च काथयित्वा पिवेज्जलम्॥ २१ ॥

एकभक्तं चरेत पञ्चाद्यावत् पुष्पवती भवेत्।
व्रतं चरति तद्यावत्तावत् संवसते वहिः ॥ २२ ॥
प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्य्याद्ब्राह्मणभोजनम्।
गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्धिः पाराशरोऽब्रवीत् ॥ २३ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य नारीणां कृच्छचान्द्रायणं व्रतम्।
यथा भूमिस्तथा नारी तस्मात्त न तु दूषयेत् ॥ २४ ॥
वन्दिग्राहेण या भुक्त्वा हत्वा बद्धा बलाद्भयात्।
कृत्वा सान्तपनं कृच्छ्रं शुद्धेत् पाराशरोऽब्रवीत् ॥ २५ ॥
सकृद्भुक्ता तु या नारी नेच्छन्ती पापकर्मभिः।
प्राजापत्येन शुद्धयेत ऋतुप्रस्त्रवणेन तु ॥ २६ ॥
पतत्यर्द्धशरीरस्य यस्य भार्य्या सुरां पिवेत्।
पतितार्द्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ २७ ॥
गायत्रीं जपमानस्तु कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ २८ ॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रयुपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ २९ ॥
जारेण जनयेद्गर्भं गते त्यक्ते मृते पतौ.
तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम् ॥ ३० ॥
ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत् परपुंसा समन्विता।
सा तु नष्टा विनिर्दिर्दष्टा न तस्यां गमनं पुनः ॥ ३१ ॥
कामान्मोहाद्यदागच्छेत्यक्तवा बन्धून् सुतान् पतिम्।
सा तु नष्टा परे लोके मानुषेषु विशेषतः ॥ ३२ ॥
दशमे तु दिने प्राप्ते प्रायश्चित्तं न विद्यते।
दशाहं न त्यजेन्नारी त्यजेन्नष्टश्रुता तथा ॥ ३३ ॥
भर्त्ता चैव चरेत् कृच्छ्रे कृच्छ्रार्द्धं चैव बान्धवाः।
तेषां भुक्तवा च पीत्वा च अहोरात्रेण शुद्धयति ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणी तु यदा गच्छेत् परपुंसा विवर्जिता।
गत्वा पुंसां शतं याति त्यजेयु स्तान्तु गोत्रिणः ॥ ३५ ॥
पुंसो यदि गृहं गच्छेत्तदशुद्धं गृहं भवेत्।
पितृमातृगृहं यच्च जारस्यैव तु तद्गृहम् ॥ ३६ ॥
उल्लिख्य तद्गृहं पश्चात् पञ्चगव्येन शुद्ध्यति।
त्यजेन्मृण्मयपात्राणि वस्त्रं काष्ठञ्च शोधयेत् ॥ ३७ ॥
सम्भारान् शोधयेत् सर्वान् गोकेशैश्च फलोद्भवान्।
ताम्राणि पञ्चगव्येन कांस्यानि दश भस्मभिः ॥ ३८ ॥
प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रो ब्राह्मणै रुपपादितम्।
गोद्वयं दक्षिणां दद्यात् प्राजापत्यं समाचरेत् ॥ ३९ ॥
इतरेषा महोरात्रं पञ्चगव्येन शोधनम्।
सपुत्रः सह भृत्यश्च कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् ॥ ४० ॥
आकाशं वायुरग्निश्च मेध्यं भूमिगतं जलम्।
न दुष्यन्तीह दर्भाश्च यज्ञेषु च समास्तथा ॥ ४१ ॥
उपवासैर्व्रतैः पुण्यैः स्नानसन्ध्यार्च्चनादिभिः।
जपैर्होमैस्तथा दानैः शुद्ध्यन्ते ब्राह्मणा सदा ॥ ४२ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे दशमोऽध्यायः।

॥ एकादशोऽध्यायः ॥

अभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तवर्णनम्।

अमेध्यरेतोगोमांसं चाण्डालान्नमथापिवा।
यदि भुक्तन्तु विप्रेण कृच्छ्रं चान्द्रायणचरेत्॥ १ ॥
तथैव क्षत्रियो वैश्य स्तदर्द्धन्तु समाचरेत्।
शूद्रोऽप्येवं यदा भुङ्क्ते प्राजापत्यं समाचरेत्॥ २ ॥
पञ्चगव्यं पिवेच्छूद्रो ब्रह्मकूर्च्चं पिवेद्द्विजः।
एकद्वित्रिचतुर्गाश्च दद्याद्विप्रादनुक्रमात्॥ ३ ॥
शूद्रान्नं सूतकस्यान्न मभोज्यस्यान्नमेव च।
शङ्कितं प्रतिषिद्धान्नं पूर्वोच्छिष्टं तथैव च ॥ ४ ॥
यदि भुक्तन्तु विप्रेण अज्ञानादापदापि वा।
ज्ञात्वा समाचरेत् कृच्छ्रं ब्रह्मकूर्च्चन्तु पावनम्॥ ५ ॥
व्यालैर्नकुलमार्जारै रन्नमुच्छिष्टितं यदा।
तिलदर्भोदकैः प्रोक्ष्य शुद्ध्यते नात्र संशयः ॥ ६ ॥
शूद्रोऽप्यभोज्यं भुक्तान्नं पञ्चगव्येन शुद्ध्यति।
क्षत्रियो वापि वैश्यश्च प्राजापत्येन शुद्ध्यति॥ ७ ॥
एकपंक्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने।
यद्येकोऽपि त्यजेत् पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत्॥ ८ ॥
मोहाद्वा लोभतस्तत्र पंक्तावुच्छिष्टभोजने।
प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सान्तपनन्तथा॥ ९ ॥
पीयूषश्वेतलसुनवृन्ताकफलगृञ्जनम्॥ १० ॥
पलाण्डुं वृक्षनिर्य्यासं देवस्वं कवकानि च।
उष्ट्रीक्षीर मविक्षीर मज्ञानाद्भुञ्जति द्विजः॥ ११ ॥

त्रिरात्रमुपवासी स्यात् पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ।
मण्डूकं भक्षयित्वा च मूषिकामांसमेव च ॥ १२ ॥
ज्ञात्वा विप्रस्त्वहोरात्रंयावकान्नेन शुद्ध्यति ।
क्षत्रियोवापि वैश्योवा क्रियावन्तौ शुचिव्रतौ ।
तदगृहेषु द्विजैर्भोज्यं हव्यकव्येषु नित्यशः ॥ १३ ॥
घृतं तैलं तथा क्षीरं गुडं तैलेन पाचितम् ।
गत्वा नदीतटे विप्रो भुञ्जीयाच्छुद्रभोजनम् ॥ १४ ॥
अज्ञानाद्भुञ्जते विप्राः सूतके मृतकेऽपिवा ।
प्रायश्चित्तं कथं तेषां वर्णे वर्णे विनिर्दिर्दशेत् ॥ १५ ॥
गायत्रयष्टसहस्रेण शुद्धः स्याच्छुद्रसूतके ।
वैश्ये पञ्चसहस्रेण त्रिसहस्रेण क्षत्रियः ॥ १६ ॥
ब्राह्मणस्य यदा भुङ्क्ते प्राणायामेन शुद्ध्यति ।
अथवा वामदेव्येन साम्रा चैकेन शुद्ध्यति ॥ १७ ॥
शुष्कान्नं गोरसं स्नेहं शूद्रवेश्मन आगतम् ।
पकवं विप्रगृहे पूतं भोज्यं तन्मनुरब्रवीत् ॥ १८ ॥
आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि ।
मनस्तापेन शुद्ध्येत द्रुपदां वा शतं जपेत् ॥ १९ ॥
दासनापितगोपालकुलमित्रार्द्धसीरिणः ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २० ॥
शूद्रकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः ।
संस्कृतस्तु भवेद्दास्यो ह्यसंस्कारैस्तु नः पितः ॥ २१ ॥
क्षत्रियाच्छुद्रकन्यायां समुत्पन्नस्तु यः सुतः ।
स गोपाल इतिज्ञेयो भोज्यो विप्रैर्न संशयः ॥ २२ ॥
वैश्यकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः ।
आर्द्धिकश्च स तु ज्ञेयो भोज्यो विप्रैर्न संशयः ॥ २३ ॥

भाण्डस्थित मभोज्येषु जलं दधि घृतं पयः ।
अकामतस्तु यो भुङ्क्ते प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥ २४ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाप्युपसर्पति ।
ब्रह्मकूर्च्चोपवासेन यथावर्णस्य निष्कृतिः ॥ २५ ॥
शूद्राणां नोपवासः स्याच्छूद्रो दानेन शुद्धयति ।
ब्रह्मकूर्च्चमहोरात्रं श्वपाकमपि शोधयेत् ॥ २६ ॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यन्तु पवित्रं पापनाशनम् ॥ २७ ॥
गोमूत्रं कृष्णवर्णायाः श्वेताया गोमयं हरेत् ।
पयश्च ताम्रवर्णायारक्ताया दधि चोच्यते ॥ २८ ॥
कपिलाया घृतं ग्राह्यं सर्वं कापिलमेव वा ।
गोमूत्रस्य फलं दद्याद्दध्नस्त्रिपलमुच्यते ॥ २९ ॥
आज्यस्यैकपलं दद्यादङ्गुष्ठार्द्धन्तु गोमयम् ।
क्षीरं सप्तदलं दद्यात् पलमेकं कुशोदकम् ॥ ३० ॥
गायत्रयागृह्यगोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥ ३१ ॥
तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
पञ्चगव्यमृचा पूतं स्थापयेदग्निसन्निधौ ॥ ३२ ॥
आपोहिष्ठेति चालोड्य मानस्तोकेति मन्त्रयेत् ।
सप्तावरास्तु ये दर्भा अच्छिन्नाग्नाः शुकत्विषः ॥ ३३ ॥
एभिरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथाविधि ।
इरावती इदं विष्णुर्मानस्तोके च शंवती ॥ ३४ ॥
एतैरुद्धृत्य होतव्यं हुतशेषं स्वयं पिवेत्
आलोड्य प्रणवेनैव निर्म्मथ्य प्रणवेन तु ।
उद्धृत्य प्रणवेनैव पिवेच्च प्रणयेन तु ॥ ३५ ॥

यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति देहिनाम्।
ब्रह्मकूर्च्चो दहेत् सर्व यथैवाग्निरिवेन्धनम्॥ ३६ ॥
पिवतः पतितं तोयं भाजने मुखनिःसृतम्।
अपेयं तद्विजानीयाद्भुक्तवा चान्द्रायणं चरेत्॥ ३७ ॥
कूपे च पतितं दृष्ट्वा श्वश्रृगालौ च मर्कटम्।
अस्थि चर्म्मादि पतितं पीत्वा मेध्या अपो द्विजः ॥ ३८ ॥
नारन्तु कूपे काकञ्च विड्वराहखरोष्ट्रकम्।
गावयं सौप्रतीकञ्च मायूरं खाड्गकं तथा॥ ३९ ॥
वैयाघ्रमार्क्षं सैहं वा कुणपं यदि मज्जति।
तड़ागस्याथ दुष्टस्य पीतं स्यादुदकं यदि॥ ४० ॥
प्रायश्चित्तं भवेत् पुंसः क्रमेणैतेन सर्वशः।
विप्रः शुद्ध्येत्त्रिरात्रेण क्षत्रियस्तु दिनद्वयात्॥ ४१ ॥
एकाहेन तु वैश्यवस्तु शूद्रो नक्तेन शुद्ध्यति॥ ४२ ॥
परपाकनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च।
अपचस्य च भुक्तान्नं द्विजश्चान्द्रायणञ्चरेत्॥ ४३ ॥
अपचस्य च यदाने दातुश्चास्य कुतः फलम्।
दाता प्रतिग्रहीता च द्वौ तौ निरयगामिनौ॥ ४४ ॥
गृहीत्वाग्नि समारोप्य पञ्च यज्ञान्न वर्त्तयेत्।
परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकीर्त्तितः ॥ ४५ ॥
पञ्चयज्ञं स्वयं कृत्वा परान्नेनोपजीवति।
सततं प्रातरुथाय परपाकरतो हि सः ॥ ४६ ॥
गृहस्थधर्मो यो विप्रो ददाति परिवर्ज्जितः।
ऋषिभिर्धर्मतत्वज्ञैरपचः परिकीर्त्तितः ॥ ४७ ॥
युगे युगे च ये धर्मास्तेषु धर्मेषु ये द्विजाः।
तेषां निन्दा न कर्त्तव्या युगरूपा हि ब्राह्मणाः ॥ ४८ ॥

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्ता त्वङ्कारञ्च गरीयसः ।
स्नात्वा तिष्ठन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ ४९ ॥
ताड़यित्वा तृणेनापि कण्ठे वा बध्यवासप्ता ।
विवादेनापि निर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ ५० ॥
अवगूर्य्य त्वहोरात्रं त्रिरात्रं क्षितिपातने ।
अतिकृच्छ्रञ्च रुधिरे कृच्छ्रमन्तरशोणिते ॥ ५१ ॥
नवाहमतिकृच्छ्रं स्यात् पाणिपूरान्नाभोजनम् ।
त्रिरात्रमुपवासः स्यादति कृच्छ्रः स उच्यते ॥ ५२ ॥
सर्वेषामेव पाषानां सङ्करे समुपस्थिते ।
शतसाहस्त्रमभ्यस्तः गायत्री शोधनं परम् ॥ ५३ ॥

इति पाराशरे धर्मशास्त्रे एकादशोऽध्यायः ।

॥ द्वादशोऽध्यायः ॥

तत्रादौ—पुनः संस्कारादिप्रायश्चित्तवर्णनम्।

दुःस्वप्नं यदि पश्येतु वान्ते वा क्षुरकर्मणि।
मैथुने प्रेतधूमे च स्नानमेव विधीयते ॥ १ ॥

अज्ञानात् प्राप्य विण्मूत्रं सुरां वा पिवते यदि।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ २ ॥

अजिनं मेखला दण्डो भैक्षचर्य्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि ॥ ३ ॥

स्त्रीशूद्रस्य तु शुद्ध्यर्थं प्राजापत्यं विधीयते।
पञ्चगव्यं ततः कृत्वा स्नात्वा पीत्वा विशुध्यति ॥ ४ ॥

जलाग्निपतने चैव प्रव्रज्यानाशकेषु च।
प्रत्यवसितमेतेषां कथं शुद्धिर्विधीयते ॥ ५ ॥

प्राजापत्यद्वयेनापि तीर्थाभिगमनेन च।
वृषैकादशदानेन वर्णाः शुद्ध्यन्ति ते त्रयः ॥ ६ ॥

ब्राह्मणस्य प्रवक्ष्यामि वनं गत्वा चतुष्पथम्।
सशिखं वपनं कृत्वा प्राजापत्यत्रयञ्चरेत् ॥ ७ ॥

गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्धिः स्वामम्भुवोऽब्रवीत्।
मुच्यते तेन पानेन ब्राह्मणत्वञ्च गच्छति ॥ ८ ॥

स्नानानि पञ्च पुण्यानि कीर्त्तितानि मनीषिभिः।
आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च ॥ ९ ॥

आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्य तु वारुणम् ।
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं रजसा स्मृतम् ॥ १० ॥
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद्दिव्यमुच्यते ।
तत्र स्नाने तु गङ्गायां स्नातो भवति मानवः ॥ ११ ॥
स्नानार्थं विप्रमायान्तं देवाः पितृगणैः सह ।
वायुभूता हि गच्छन्ति तृषार्त्ताः सलिलार्थिनः ॥ १२ ॥
निराशास्ते निवर्त्तन्ते वस्त्रनिष्पीड़ने कृते ।
तस्मान्न पीड़येद्वस्त्रमकृत्वा पितृतर्पणम् ॥ १३ ॥
विधुनोति हि यः केशान् स्नातः प्रस्नवतोद्विजः ।
आचामेद्वा जलस्थोऽपि स बाह्यः पितृदैवतैः ॥ १४ ॥
शिरः प्रावृत्य कं बद्ध्वा मुक्तकच्छशिखोऽपिवा ।
बिना यज्ञोपवीतेन आचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ १५ ॥
जले स्थलस्थो नाचामेज्जलस्थश्च बहिस्थले ।
उभे स्पृष्ट्वा समाचान्त उभयत्र शुचिर्भवेत् ॥ १६ ॥
स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्ते रथ्योपसर्पणे ।
आचान्तः पुनराचामेद्वासोविपरिधाय च ॥ १७ ॥
क्षुते निष्ठीविते चैव दन्तोच्छिष्टे तथानृते ।
पतितानाञ्च सम्भाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥ १८ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोमः सूर्य्योऽनिलस्तथा ।
ते सर्वे ह्यपि तिष्ठन्ति कर्णे विप्रस्य दक्षिणे ॥ १९ ॥
दिवाकरकरैः पूतं दिवास्नानं प्रशस्यते ।
अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात् ॥ २० ॥
मरुतो वसवो रुद्रा आदित्याश्चादिदेवताः ।
सर्वे सोमे विलीयन्ते तस्मात् स्नानन्तु तद्ग्रहे ॥ २१ ॥

खलयज्ञे विवाहे च संक्रान्तौ ग्रहणेषु च।
शर्वर्य्यां दानमेतेषु नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥ २२ ॥
पुत्रजन्मनि यज्ञे च तथा चात्ययकर्मणि।
राहोश्च दर्शने दानं प्रशस्तं नान्यथा निशि ॥ २३ ॥
महानिशा तु विज्ञेया मध्यस्थप्रहरद्वयम्।
प्रदोषपश्चिमौ यामौ दिनवत् स्नानमाचरेत् ॥ २४ ॥
चैत्यवृक्षश्चितिस्थश्च चण्डालः सोमविक्रयो।
एतांस्तु ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत् ॥ २५ ॥
अस्थिसञ्चयनात् पूर्वं रुदित्वा स्नानमाचरेत्।
अन्तर्दशाहे विप्रस्य पर्वमाचमनं भवेत् ॥ २६ ॥
सर्वं गङ्गासमं तोयं राहुग्रस्ते दिवाकरे।
सोमग्रहे तथैवोक्तं स्नानदानादिकर्मसु ॥ २७ ॥
कुशपूतन्तु यत्स्नानं कुशेनोपस्पृशेद्द्विजः।
कुशेनोद्धततोयं यत् सोमपानसमं स्मृतम् ॥ २८ ॥
अग्निकार्य्यात् परिभ्रष्टाः सन्ध्योपासनवर्जिताः।
वेदञ्चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः ॥ २९ ॥
तस्माद्वृषलभीतेन ब्राह्मणेन विशेषतः।
अध्येतव्योऽप्येकदेशो यदि सर्वं न शक्यते ॥ ३० ॥
शूद्रान्नरसपुष्टस्याप्यध्यीयानस्य नित्यशः।
जपतो जुड़तो वापि गतिरुक्ता न विद्यते ॥ ३१ ॥
शूद्रान्नं शूद्रसम्पर्कः शूद्रेण तु सहासनम्।
शूद्राज्ज्ञानागमञ्चापि ज्वलन्तमपि पालयेत् ॥ ३२ ॥
मृतसूतकपुटाङ्गीद्विजः शूद्रान्नभोजने।
अहं तां न विजानामि कां कां योनिं गमिष्यति ॥ ३३ ॥

गृध्रो द्वादश जन्मानि दश जन्मानि शूकरः ।
श्वयोनौ सप्तजन्म स्यादित्येवं मनुरब्रवीत् ॥ ३४ ॥
दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद्धविः ।
ब्राह्मणस्तु भवेच्छुद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत् ॥ ३५ ॥
मौनव्रतं समाश्रित्य आशीनो न वदेद्द्विजः ।
भुञ्जानो हि वदेद्यस्तु तदन्नं परिवर्जयेत् ॥ ३६ ॥
अर्द्धे भुक्ते तु यो विप्रस्तस्मिन् पात्रे जलं पिवेत् ।
हृतं दैवञ्च पित्रयञ्च आत्मानञ्चोपघातयेत् ॥ ३७ ॥
भाजनेषु च तिष्ठत्सु स्वस्ति कुर्वन्ति ये द्विजाः ।
न देवा स्तृप्तिमायान्ति निराशाः पितरस्तथा ॥ ३८ ॥
गृहस्थस्तु यदा युक्तो धर्ममेवानुचिन्तयेत् ।
पोष्यधर्मार्थसिद्ध्यर्थं न्यायवर्त्ती सुबुद्धिमान् ॥ ३९ ॥
न्यायोपार्जितवित्तेन कर्त्तव्यं ज्ञानरक्षणम् ।
अन्यायेन तु यो जीवेत् सर्वकर्मवहिष्कृतः ॥ ४० ॥
अग्निचित्त कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः ।
दृष्टमात्रं पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत्तु नित्यशः ॥ ४१ ॥
अरणिं कृष्णमार्जारश्चन्दनं सुमणिं घृतम् ।
तिलान् कृष्णाजिनं छागं गृहे चैतानि रक्षयेत् ॥ ४२ ॥
गवा शतं सैकवृषं यत्र तिष्ठत्ययन्त्रितम् ।
तत्क्षेत्रं दशगुणितं गोचर्म परिकीर्त्तितम ॥ ४३ ॥
ब्रह्महत्यादिभिर्मर्त्यो मनोवाक्कवायकर्मजैः ।
एतद्गोचर्मदानेन मुच्यते सर्वकिल्विषैः ॥ ४४ ॥
कुटुम्बिने दरिद्राय श्रोत्रियाय विशेषतः ।
यद्दानं दीयते तस्मै तदायुर्वृद्धिकारकम् ॥ ४५ ॥

आषोड़शदिनादर्वाक् स्नानमेव रजस्वला।
अत ऊर्द्ध्व त्रिरात्रं स्यादुशना मुनिरब्रवीत्॥ ४६॥
युगं युगद्वञ्चैव त्रियुगञ्च चतुर्युगम्।
चाण्डालसूतिकोदक्यापतितानामधः क्रमात्॥ ४७॥
ततः सन्निधिमात्रेण सचैलं स्नानमाचरेत्।
स्नात्वावलोकयेत् सूर्य्यमज्ञानात् स्पशते यदि॥ ४८॥
वापीकूपतड़ागेषु ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
तोयं पिवति वक्तत्रेण श्वयोनौ जायते ध्रुवम्॥ ४९॥
यस्तु क्रुद्ध पुमान् भार्य्यां प्रतिज्ञायाप्यगम्यताम्।
पुनरिच्छति ताङ्गन्तुं विप्रमध्ये तु श्रावयेत्॥ ५०॥
श्रान्तः क्रुद्धस्तमोभ्रान्त्या क्षुत्पिपासाभयार्द्दितः।
दानं पुण्यमकृत्वा च प्रायश्चित्तं दिनत्रयम्॥ ५१॥
उपस्पृशेत्त्रिषवणं महानद्यूपसङ्गमे।
चीर्णान्ते चैव गां दद्यद्ब्राह्मणान् भोजयेद्दश॥ ५२॥
दुराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च।
अन्नं भुक्तवा द्विजः कुर्य्याद्दिनमेकमभोजनम्॥ ५३॥
सदाचारत्य विप्रस्य तथा वेदान्तवादिनः।
भुक्तान्नं मुच्यते पापादहोरात्रन्तु वै नरः॥ ५४॥
ऊर्द्धोच्छिष्टमधोच्छिष्टमन्तरीक्षमृतौ तथा।
कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वीत आशौचमरणे तथा॥ ५५॥
कृच्छ्रदेव्ययुतञ्चैव प्राणायामशतत्रयम्।
पुण्यतीर्थे नार्द्रशिरः स्नानं द्वादशसंख्यया।
द्वियोजनं तीर्थयात्रा कृच्छ्रमेव प्रकल्पितम्॥ ५६॥
गृहस्थः कामतः कुर्य्याद्रेतसः सेचनं भुवि।
महस्रन्तु जपेद्देव्याः प्राणायामैस्त्रिभिः सह॥ ५७॥

चातुर्वेद्योपपन्नस्तु विधिवद्ब्रह्मघातके ।
समुद्रसेतुगमनप्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ।। ५८ ।।
सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात् समाचरेत् ।
वर्जयित्वा विकर्भस्थांश्छत्रोपानद्विवर्जितः ।। ५९ ।।
अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः ।
गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः ।। ६० ।।
गोकुलेषु वसेच्चैव ग्रामेषु नगरेषुच ।
तथा वनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च ।। ६१ ।।
एतेषु ख्यापयन्नेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम् ।
दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम् ।। ६२ ।।
रामचन्द्रसमादिष्टं नलसञ्चयसञ्चितम् ।
सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।। ६३ ।।
यजेत वाश्वमेचेन राजा तु पृथिवीपतिः ।। ६४ ।।
पुनः प्रत्यागतो वेश्म वासार्थ मुपसर्पति ।
सपुत्रः सह भृत्यैश्च कुर्य्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।। ६५ ।।
गाश्चैवैकशतं दद्याच्चातुर्वेद्येषु दक्षिणाम् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन ब्रह्महा तु विमुच्यते ।। ६६ ।।
सवनस्थां स्त्रियं हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
मद्यपश्च द्विजः कुर्य्यान्नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।। ६७ ।।
चान्द्रायणे ततश्चीर्णे कुर्य्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
अनडुत्सहितां गाञ्च दद्याद्विप्रेषु दक्षिणाम् ।। ६८ ।।
अपहृत्य सुवर्णन्तु ब्राह्मणस्य ततः स्वयम् ।
गच्छेन्मुषलमादाय राजाभ्यासं बधाय तु ।। ६९ ।।
ततः शुद्धिमवाप्नोति राज्ञासौ मुक्त एव च ।
कामकारकृतं यत् स्यान्नान्यथा वधमर्हति ।। ७० ।।

आसनाच्छयनाद्यानात् सम्भाषात् सहभोजनात् ।
संक्रामति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ७१ ॥
चान्द्रायणं यावकञ्च तुलापुरुष एव च ।
गवाञ्चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ७२ ॥
एतत् पराशरं शास्त्रं श्लोकानां शतपञ्चकम् ।
द्विनवत्या समायुक्तं धर्मशास्त्रस्य संग्रहः ॥ ७३ ॥
यथाध्ययनकर्माणि धर्मशास्त्रमिदं तथा ।
अद्येतव्यं प्रयत्नेन नियतं स्वर्गगामिना ॥ ७४ ॥
इति पाराशरे धर्मशास्त्रे द्वादशोऽध्यायः ॥

समाप्ता चैयं पराशरसंहिता ॥

ॐतत्सत् ।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

॥ अथ ॥

देवलस्मृतिः

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ प्रायश्चित्तवर्णनम् ।

सिन्धुतीरे सुखासीनं देवलं मुनिसत्तमम् ।

समेत्य मुनयः सर्वे इदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

भगवन्म्लेच्छनीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः ।

ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवानुपूर्वशः ॥ २ ॥

कथं स्नानं कथं शौचं प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ।

किमाचारा भवेयुस्ते तदाचक्ष्य सविस्तरम् ॥ ३ ॥

देवल उवाच—

त्रिशङ्कं वर्जयेद्देशं सर्वं द्वादशयोजनम् ।

उत्तरेण महानद्या दक्षिणेन तु कीकटम् ॥ ४ ॥

प्रायश्चित्तं प्रवक्ष्यामि विस्तरेण महर्षयः ॥ ५ ॥

मृतसुते तु दासीनां पत्नीनां चानुलोमिनाम ।

स्वामितुल्यं भवेच्छौचं मृते स्वामिनि यौनिकम् ॥ ६ ॥

अपेयं येन संपीतमभक्ष्यं चापि भक्षितम् ।

म्लेच्छैर्नीतेन विप्रेण अगम्यागमनं कृतम् ॥ ७ ॥

तस्य शुद्धिं प्रवक्ष्यामि यावदेकं तु वत्सरम् ।

चान्द्रायणं तु विप्रस्य सपराकं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

पराकमेकं क्षत्त्रस्य पादकृच्छ्रेण संयुतम् ।
पराकार्धं तु वैश्यस्य शूद्रस्य दिनपञ्चकम् ॥ ९ ॥
नखलोमविहीनानां प्रायश्चित्तं प्रदापयेत् ।
चतुर्णामपि वर्णानामन्यथाऽशुद्धिरस्ति हि ॥ १० ॥
प्रायश्चित्तविहीनं तु यदा तेषां कलेवरम् ।
कर्तव्यस्तत्र संस्कारो मेखलादण्डवर्जितः ॥ ११ ॥
म्लेच्छैर्नीतेन शूद्रैर्वा हारिते दण्डमेखले ।
संस्कारप्रमुखं तस्य सर्वं कार्यं यथाविधि ॥ १२ ॥
संस्कारान्ते च विप्राणां दानं धेनुश्च दक्षिणा ।
दातव्यं शुद्धमिच्छद्भिरश्वगोभूमिकाञ्चनम् ॥ १३ ॥
तदाऽसौ तु कुटुम्बानां पङ्क्तिं प्राप्नोति नान्यथा ।
स्वभायां च यथान्यायं गच्छन्नेव विशुध्यति ॥ १४ ॥
अथ संवत्सरादूर्ध्वं म्लेच्छैर्नीतो यदा भवेत् ।
प्रायश्चित्ते तु संचीर्णे गङ्गास्नानेन शुध्यति ॥ १५ ॥
सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रं तथा प्रत्यन्तवासिनः ।
कलिङ्गकौङ्कणान्वङ्गान्गत्वा संस्कारमर्हति ॥ १६ ॥
बलाद्दासीकृता ये च म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः ।
अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥ १७ ॥
उच्छिष्टमार्जनं चव तथा तस्यैव भोजनम् ।
खरोष्ट्रविड्वराहाणामाभिषस्य च भक्षणम् ॥ १८ ॥
तत्स्त्रीणां च तथा सङ्गं ताभिश्च सह भोजनम् ।
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥ १९ ॥
चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथ वा भवेत् ।
चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः ॥ २० ॥
संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत् ।

मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुध्यति ॥ २१ ॥
ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः ।
संवत्सरैश्चतुर्भिश्च तद्भावमधिगच्छति ॥ २२ ॥
ह्रासो न विद्यते यस्य प्रायश्चित्तं दुरात्मनः ।
गुह्यकक्षशिरोभ्रूणां कर्तव्यं केशवापनम् ॥ २३ ॥
प्रायश्चित्तं समारभ्य प्रायश्चित्तं तु कारयेत् ।
स्नानं त्रिकालं कुर्वीत धौतवासा जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥
कुशहस्तः सत्यवक्ता देवलेन ह्युदाहृतम् ।
वत्सरं वत्सरार्धं वा मासं मासार्धमेव वा ॥ २५ ॥
बलान्म्लेच्छैस्तु यो नीतस्तस्य शुद्धिस्तु कीदृशी ।
संवत्सरोषिते शूद्रे शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु ॥ २६ ॥
पराकं वत्सरार्धे च पराकार्धं त्रिमासिके ।
मासिके पादकृच्छ्रश्च नखरोमविवर्जितः ॥ २७ ॥
पादोनं क्षत्रियस्योक्तधर्मं वैश्यस्य दापयेत् ।
प्रायश्चित्तं द्विजस्योक्तं पादं शूद्रस्य दापयेत् ॥ २८ ॥
प्रायश्चित्तावसाने तु दोग्ध्री गौर्दक्षिणा मता ।
तथाऽसौ तु कुटुबान्ते ह्युपविष्टो न दुष्यति ॥ २९ ॥
अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः ।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च ॥ ३० ॥
ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
प्रायश्चित्तं चरेद्भ्राता पिता वाऽन्योऽपि वर्धिता ॥ ३१ ॥
स्वयं व्रतं चरेत्सर्वमन्यथा नैव शुध्यति ।
तिलहोमं प्रकुर्वीत जपं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३२ ॥
संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात् ।
याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम् ॥ ३३ ॥

याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् ।
कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः ॥ ३४ ॥
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन् ।
याजनासनयज्ञादि कुर्वाणः सार्वकामिकम् ॥ ३५ ॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तंमिदं शुभम् ।
स्त्रीणां म्लेच्छैश्च नीतानां बलात्संवेशने कचित् ॥ ३६ ॥
ब्राह्मणी क्षत्रिधा वैश्या शूद्रा नीता यदाऽन्यत्यजैः ।
ब्राह्मणयाः कीदृशं न्याय्यं प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ३७ ॥
ब्राह्मणी भोजयेन्म्लेच्छमभक्ष्यं भक्षयेद्यदि ।
पराकेण ततः शुद्धिः पादेनोत्तरतोत्तरान् (दानेनोत्तरोत्तरा) ॥ ३८ ॥
न कृतं मैथुनं ताभिरभक्ष्यं नैव भक्षितम् ।
शुद्धिस्तदा त्रिरात्रेण म्लेच्छान्नेनैव भक्षिते ॥ ३९ ॥
रजस्वला यदा स्पृष्टा म्लेच्छेनान्येन वा पुनः ।
त्रिरात्रमुषिता स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ४० ॥
स्पृष्टा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी क्षत्रिया तथा ।
त्रिरात्रेण विशुद्धिः स्याद्देवलस्य वचो यथा ॥ ४१ ॥
स्पृष्टा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी शूद्रजा तथा ।
पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ४२ ॥
ब्राह्मण्यनशनं कुर्यात्क्षत्रिया स्नानमाचरेत् ।
सचैलं वैश्यजातीनां नक्तं शूद्रे विनिर्दिशेत् ॥ ४३ ॥
म्लेच्छान्नं म्लेच्छसंस्पर्शो म्लेच्छेन सह संस्थितिः ।
वत्सरं वत्सरादूर्ध्वं त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥ ४४ ॥
म्लेच्छैर्हतानां चौरैर्वा कान्तारेषु प्रवासिनाम् ।
भुक्तवा भक्ष्यमभक्ष्यं वा क्षुधार्तेन भयेन वा ॥ ४५ ॥
पुनः प्राप्य स्वकं देशं चातुर्वर्ण्यस्य निष्कृतिः ।

कृच्छ्रमेकं चरेद्विप्रस्तदर्धं क्षत्रियश्चरेत्।
पादोनं च चरेद्वैश्यः शूद्रः पादेन शुध्यति ॥ ४६ ॥
गृहीता स्त्री बलादेव म्लेच्छैर्गुर्वीकृता यदि।
गुर्वी न शुद्धिमाप्नोति त्रिरात्रेणेतरा शुचिः ॥ ४७ ॥
योषा गर्भं विधत्ते या म्लेच्छात्कामादकामतः।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा वर्णेतरा च या ॥ ४८ ॥
अभक्ष्यभक्षणं कुर्यात्तस्याः शुद्धिः कथं भवेत्।
कृच्छ्रं सांतपनं शुद्धिर्घृतैर्योनिश्च पाचनम् ॥ ४९ ॥
असवर्णेन यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते।
अशुद्धा सा भवेन्नारी यावच्छल्यं न मुञ्चति ॥ ५० ॥
विनिःसृते ततः शल्ये रजसो वाऽपि दर्शने।
तदा सा शुध्यते नारी विमलं काञ्चनं यथा ॥ ५१ ॥
स गर्भो दीयतेऽन्यस्मै स्वयं ग्राह्यो न कर्हिचित्।
स्वजातौ वजयेद्यस्मात्संकरः स्यादतोऽन्यथा ॥ ५२ ॥
गृहीतो यो बलान्म्लेच्छैः पञ्च षट् सप्त वा समाः।
दशादि विंशतिं यावत्तस्य शुद्धिर्विधीयते ॥ ५३ ॥
प्राजापत्यद्वयं तस्य शुद्धिरेषा विधीयते।
अतः परं नास्ति शुद्धिः कृच्छ्रमेव सहोषिते ॥ ५४ ॥
म्लेच्छैः सहोषितो यस्तु पञ्चप्रभृति विंशतिः।
वर्षाणि शुद्धिरेषोक्ता तस्य चान्द्रायणद्वयम् ॥ ५५ ॥
कक्षागुह्यशिरः श्मश्रुभ्रूलोमपरिकृन्तनम्।
प्राहृत्य पाणिपादानां नखलोम ततः शुचिः ॥ ५६ ॥
यो दातुं न विजानाति प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः।
शुद्धिं ददाति चान्यस्मै तदशुद्धेः स भोजनम् ॥ ५७ ॥

सभायां स्पर्शने चैव म्लेच्छेन सह संविशेत्।
कुर्यात्स्नानं सचैलं तु दिनमेकमभोजनम् ॥ ५८ ॥
माता म्लेच्छत्वमागच्छेत्पितरो वा कथंचन।
असूतकं च नष्टस्य देवलस्य वचो यथा ॥ ५९ ॥
मातरं च परित्यज्य पितरं च तथा सुतः।
ततः पितामहं चैव शेषपिण्डं तु निर्वपेत् ॥ ६० ॥
स्त्रीणां चैव तु शूद्राणां पतितानां तथैव च।
पञ्चगव्यं न दातव्यं दातव्यं मन्त्रवर्जितम् ॥ ६१ ॥
वरुणो देवता मूत्रे गोमये हव्यवाहनः।
सोमः क्षीरे दध्नि वायुर्घृते रविरुदाहतः ॥ ६२ ॥
गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चैव गोमयम्।
पयः काञ्चनवर्णाया नीलायाश्चापि गोर्दधि ॥ ६३ ॥
घृतं वै कृष्णवर्णाया विभक्तिवर्णगोचरा।
उदकं सर्ववर्ण स्यात्कस्य वर्णो न गृह्यते ॥ ६४ ॥
षणमात्रिकं (एकमात्रं) तु गोमूत्रं गोमयं (द्विमात्रको) च कुशोदकम्।
त्रिमात्रिकं घृतं क्षीरं दधि स्याद्दशमात्रिकम् ॥ ६५ ॥
व्रते तु सर्ववर्णानां पञ्चगव्यं तु संख्यया।
प्रायश्चित्तं यथोक्तं तु दातव्यं ब्रह्मवादिभिः ॥ ६६ ॥
अन्यथा दापयेद्यस्तु प्रायश्चित्ती भवेद्द्विजः ॥ ६७ ॥
कपिलायाश्च गोर्दुग्ध्वा धारोष्णं यः पयः पिबेत्।
एष व्यासकृतः कृच्छ्रः श्वपाकमपि शोधयेत् ॥ ६८ ॥
तिलहोमं प्रकुर्वीत जपं कुर्यादतन्द्रितः।
विष्णो रराटमन्त्रेण प्रायश्चित्ती विशुध्यति ॥ ६९ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन तिलहोमो विधीयते।
तिलान्दत्त्वा तिलान्भुक्त्वा कुर्वीताघनिवारणम् ॥ ७० ॥

संपादयन्ति यद्विप्राः स्नानं तीर्थफलं तपः ।
संपादी क्रमते पापं तस्य संपद्यते फलम् ॥ ७१ ॥
प्रायश्चित्तं समाख्यातं यथोक्तं देवलेन तु ।
इतरेषामृषीणां च नान्यथा वाक्यमर्हथ ॥ ७२ ॥
सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं गवाह्निकम् ।
विप्रेभ्यः संप्रयच्छेत प्रायश्चित्ती विशुध्यति ॥ ७३ ॥
पञ्चाहान्सहवासेन संभाषणसहाशनैः ।
संप्राश्य पञ्चगव्यं तु दानं दत्त्वा विशुध्यति ॥ ७४ ॥
एकद्वित्रिचतुःसंख्यान्वत्सरान्संवसेद्यदि ।
म्लेच्छवासं द्विजश्रेष्ठः क्रमतो द्रव्ययोगतः ॥ ७५ ॥
एकाहेन तु गोमूत्रं व्यहेनैव तु गोभयम् ।
त्रयहात्क्षीरेण संयुक्तं चतुर्थे दधिमिश्रितम् ॥ ७६ ॥
पञ्चमे घृतसंपूर्ण पञ्चगव्यं प्रदापयेत् ।
पञ्चसप्तदशाहानि पञ्चदशाञ्च विंशतिः ॥ ७७ ॥
संवासं च प्रवक्ष्यामि देहशुद्धिं द्विजन्मनाम् ।
पञ्चाहं पञ्चगव्यं स्यात्पादकृच्छ्रं दशाहिके ॥ ७८ ॥
पराकं पञ्चदशभिर्विंशेऽतिकृच्छ्रमेव च ।
उदरं प्रविशेद्यस्य पञ्चगव्यं विधानतः ॥ ७९ ॥
यत्किंचिद्दुष्कृतं तस्य सर्वं नश्यति देहिनः ।
पञ्च सप्ताष्ट दश वा द्वादशाहोऽपि विंशतिः ।
म्लेच्छैर्नीतस्य विप्रस्य पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ ८० ॥
पञ्चगव्यं च गोक्षीरं दधि मूत्रं घृतं पयः ।
प्राश्यापरेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सातपनं चरेत् ॥ ८१ ॥
पृथक्सांतपनं द्रव्यैः षडहः सोपवासकः ।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासांतपनः स्मृतम् ॥ ८२ ॥

पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ।
प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः पू(प) र्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ८३ ॥
तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ।
एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्रस्तु पावनः ॥ ८४ ॥
एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन तु ।
उपवासेन चैकेन पादकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ८५ ॥
कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम् ।
द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ८६ ॥
पिण्याकशाकतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः सौम्यः प्रकीर्तितः ॥ ८७ ॥
एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।
तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चादशाहिकः ॥ ८८ ॥
तिथि वृद्धया चरेत्पिण्डाञ्छुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।
एकैकं ह्रासयेत्पिण्डान्कृच्छ्रचान्द्रायणं चरेत् ॥ ८९ ॥
यथाकथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।
इति देवल(ल) [न] कृतं धर्मशास्त्रं प्रकीर्तितम् ॥ ९० ॥

समाप्तेयं देवलस्मृतिः

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

मूल-ग्रंथ

पराशर स्मृति — हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, पो० बा० १३८, के-३७/१३०, गोपाल मन्दिर, वाराणसी, १९८३

पराशर-माधवीय — श्रीमन्माधवाचार्य कृत (आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त काण्ड) दि एशियाटिक सोसाइटी, १ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता, १९७४

देवल-स्मृति — स्मृति-सन्दर्भः (धर्मशास्त्र-संग्रहः) नाग प्रकाशक, ११-ए/यू० ए०, जवाहर नगर, दिल्ली—७, १९८८

सहायक ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद संहिता — सायण भाष्य, रामचंद्र शर्मा, सनातन धर्म मंत्रालय, मुरादाबाद, १९८७

आपस्तम्ब धर्मसूत्र — हरदत्त मिश्र की उज्जवला टीका, हिन्दी अनुवादक-उमेशचन्द्र पांडेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९७२

एकादशोपनिषद् भाग-२ — विजय कृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, विद्याविहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

ऐतरेय ब्राह्मण — सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, भाग-१ से १०, पूना, १९३६

ऋग्वेद संहिता — सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, भाग १ से १०, पूना, १९३६

कौटिल्य-अर्थशास्त्रम् भाग १, २, ३ — अनुवादक डा० रघुनाथ सिंह, कृष्ण दास अकादमी, वाराणसी, १९८३

गीता ज्ञान — राम कपूर (डायरेक्टर, गुरदास कपूर एंड सन्स, दिल्ली-६, १९६९

गौतम धर्मसूत्र — हरदत्त कृत मिताक्षरा वृत्ति, हिन्दी अनुवादक-उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, बनारस, १९६६

गौतम स्मृति — स्मृति-सन्दर्भ : (भाग-४), नाग प्रकाशक, ११ ए/यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली-७, १९८८

जीमूतवाहन की संस्कृत वाङ्मय को देन — वीणा सोनी (शोध प्रबन्ध)

तैत्तिरीय-संहिता, भाग-१ — सायणाचार्य, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९७०

धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-१,२,३ — काणे, पी० वी०, अनुवादक-नौबे अर्जुन काश्यप, उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९८२

निरुक्त-विमर्श — ब्रह्ममुनि परिव्राजक अविद्यामार्तण्ट, अजमेर, १९६६

पञ्चदशी — विद्यारण्य मुनि, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू० ए०, जवाहर नगर, बंगलो रोड, दिल्ली, १९८७

पाणिनी अष्टाध्यायी — भाग १-२, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६२

प्राचीन भारतीय चरित्र-कोष — (चित्राव) सिद्धेश्वर शास्त्री, भारतीय चरित्र कोश मंडल, पूना-४, १९६४

बोधायन धर्मसूत्र — गोविन्द स्वामी, हिन्दी अनुवादक उमेश चन्द्र पांडेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ बनारस, १९७२

बृहस्पति-स्मृति — के० वी० रंगास्वामी अयंगार, बड़ौदा, १९४१

ब्रह्मसूत्र — शांकर भाष्य, निर्णय सागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९३८

भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति — डा० निरूपण विद्यालंकार, साहित्य भंडार, सुभाष बाज़ार, मेरठ, १९७१

भारतीय दर्शन — गैरोल्ला वाचस्पति, लोक भारतीय, १५ यू ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, १९८३

भारतीय व्यक्ति-कोष — उपाध्याय, भगवत शरण, आर्य बुक डिपो, ३०, नाई वाला, करोल बाग, नई दिल्ली, १९७६

महाभारत (आदिपर्व) — पंडित राम नारायण, हनुमान प्रसाद पौद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर

महाभारत (शान्तिपर्व, अनु० पर्व, सभा पर्व, शल्य पर्व, कर्ण पर्व) — दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, भारत मुद्रणाल्य, गुजरात, १९७८

मत्स्य-पुराण (द्वितीय-खण्ड) — हिन्दी अनुवादक-आचार्य श्रीराम शर्मा, संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, १९७०

मार्कण्डेय पुराण — श्री कृष्णदास क्षेमराज, नाग प्रकाशक, ११ ए/यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली-७, १९८५

माधवीय-धातुवृत्ति — सायणाचार्य, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९६४

मृच्छकटिक — हिन्दी अनुवादक--डा० जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, के ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन, पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी, १९८५

मनुस्मृति — आचार्य जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९८३

याज्ञवल्क्य स्मृति — श्री विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा व्याख्या, नाग प्रकाशक, ११ ए/ यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली, १९८५

विष्णु स्मृति — पं० वि० कृष्णमाचार्य, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९६४

विष्णु-पुराण — श्री कृष्ण दास क्षेमराज, नाग प्रकाशक, ११ ए/यू० ए० जवाहर नगर, दिल्ली-७, १९८५

विवरण प्रमेय सार — विद्यारण्य-अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी

वीर-मित्रोदय १-२ — नित्यानन्द पर्वतीय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १९८७, सम्वत् १९९६

स्मृत्यर्थसार — श्रीधराचार्य, आनन्दाश्रम-ग्रन्थावली, पूना, १९४०

सांख्य-दर्शन का इतिहास — डा० उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर सहारनपुर (उत्तरप्रदेश) राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, १९५०

सांख्य-योग दर्शन का जीर्णोद्धार — जोशी, हरिशंकर, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५

संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — गौरोल्ला, वाचस्पति, चौखम्बा विद्या भवन, पो० बा० ६६, वाराणसी

संस्कृत-साहित्य में कुरुक्षेत्र — डा० अमर सिंह, संजीव प्रकाशन, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, १९८३

अंग्रेजी

Beni Prasad — Theory of Government in Ancient India, Second Edition, Allahabad, 1968

Dharam Kosa Vyavahar-kand — Joshi Narman Shastri, Prajnapathsala Mandala, Wai, Dist., Satara, India, 1938

History of Dharma Shastra, Vol. II — Kane, P. V., Poona, 1968

Garuda-Purana — A Study — N. Gangadharana, All India Kashiraj Trust, Fort, Ramnagar, Varanasi, 1972

Naradiya-Dharmasastra — Julious Jolly, Takshila Hard bound, Delhi, 1981

Smrtichandrika Sanskar kand — Devana Bhatt, Govt. Oriental Library Sereis, Mysore, 1914

Vasisth's Dharmasastra — Fuhrer B.O.R.I., Poona, 1930

Smrti-Chandrika Vyavhar kand — Devana Bhatt, Collection of Hindu Law Text, Govt. of India, Delhi, 1940

